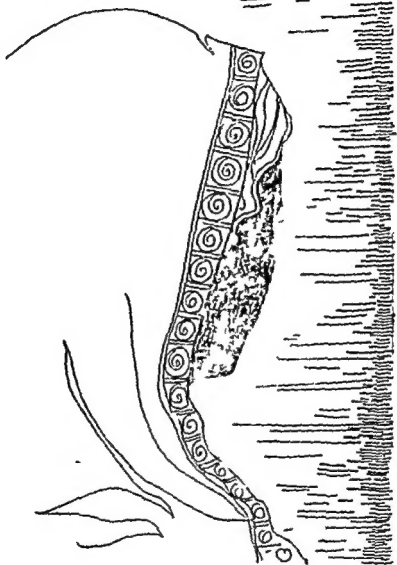




शेष नमस्कार

साहित्य अकादमी द्वारा पुनर्मुद्रित



साहित्य अकादमी (प्रा) लिमिटेड

के पी कल्लूरे रोड इलाहाबाद-२११००३

गमकपार



संतोष कुमार घोष

पि

**SHESH NAMASKAR**  
(NOVEL)  
By  
Santosh Kumar Ghosh

अनुवादक  
अपर्णा टैंगोर

प्रथम संस्करण १९९०

© लेखक

मूल्य ७०-००

साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड ६३, के० पी० बक्कड रोड, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित  
तथा स्टार प्रिण्टर्स, २५७, दरियाबाद इलाहाबाद द्वारा मुद्रित  
धावरण इम्प्रीवट

क्या यह जीवनी है ? जिस समय धारावाहिक रूप से यह रचना प्रकाशित हो रही थी, कुछ लोगो ने जानना चाहा था । जीवनी का अर्थ यदि जीवन की सिफ कुछ प्रमाणित घटनाएँ भर है, तो उस अर्थ में यह रचना जीवनी नहीं है । पर कुछ व्यथाएँ कुछ अनुभूतिया, कुछ सवान, कुछ प्रतीति वह सो तो जीवन ही है ।

मान लीजिए, एक सुबह । उसमे कितना प्रकाश है, कितनी भीगी-भीगी छाया, यह अलग से बताया नहीं जा सकता है । सब कुछ मिला जुला होता है । यह इच्छा भी वही कुछ है ।

वस्तुतः मेरे विचार से सभी लेखक जीवन भर एक ही रचना का सृजन करना चाहता है । लिखता रहता है, क्रमागत चेष्टा करता है । मैं भी कर रहा हूँ । असफल रहा । “नाना रंगेर दिन”, “मुखेर रेखा”, “जल दाबो”, “स्वय नायक” मृत अथवा केवल स्मृत ग्रन्थ है ? अन्ततः अपनी उम्र असफलता के निकट “जेष्ठ नमस्कार” रख कर छुट्टी लेना चाहता हूँ ।

पर समाप्त हुआ क्या ? पता नहीं, शायद नहीं हुआ । लौट आना होगा । जो लौटा लाएगा, वही शायद लिखवा भी लेगा । पर उस निवेदन का नाम क्या है ?

“श्री चरणेषु मा—को” के बाद सिफ “तुम्हे ?”

—लेखक



शेष नमस्कार







उसका प्रथम पत्र था 'श्री चरणेषु मा !' पत्र लिख-लिखकर वह जिस तमाम शाय के खेल में मशगूल हुआ है, उसने लिए प्रथम पत्र तो मा को ही लिखना ठीक होगा न ! जो भूल है, धात्री है, जिन्होंने उसे लाया था, धारण किया था ! जीवन का ऋण, धारण करने का ऋण ! रक्त का, स्तन का, स्नेह का, नीड का ! घेर कर रखने का, ढँक कर रखने का, दृष्टि न द्वारा पीछे-पीछे दौड़ते रहने का ममता से, उत्पटा से, आतव से अहर्निश केवल एक ही चिन्ता 'तुम्हारा कल्याण हो' " ।

— यह व्यक्ति कौन है ? इसे क्या मैं पहचानता हूँ ? देखा है क्या कभी ? किस तरह के सारे पत्र मेरे पास आये ? इस समय साफ-साफ वह सब याद नहीं कर पा रहा हूँ । मानो कोई जादूगर, अचानक कहीं से आकर सामने खड़ा हो गया और फिर टबुल के ऊपर कागज का पुलिदा फेंक दिया । सम्मोहक दृष्टि से मुझे बेघते हुए बोला, "इहें मिलसिलेवार ढग से सजा लो ।" रहस्य-रोमांच की कहानियाँ में जैसा घटित होता, ठीक वैसा ही । उसकी आर्पें सद, आवाज सदै, ऐसा लगा मानो ठंड में सिकुड़ कर वह सकल हो गया हो । और सम्मोहित-सा मैं उन कागजों को हाथ धड़ाकर ले लेता हूँ, कुछ कुछ अनिश्चित-सा वापता हुआ । "इहे मिलसिलेवार ढग से सजा लो ।" का आदेश पाने ही मैंने 'जरूर-जरूर' कहकर हँसने की कोशिश की थी । वह हँसी कागज फाड़ने की फडफडाहट की तरह सुनाई पड़ी थी । सजाऊँगा, पर किस तरह ? यह समझ नहीं पा रहा था । खेल खत्म हो जाने पर जिस तरह बिखरे हुए ताशों को सहेजा जाता है, क्या उस तरह ?

कब तक वह था, याद नहीं । कभी देखता हूँ मैं उस पत्रस्तूप में डूब गया हूँ और फिर उन पत्रों को पढ़ते-पढ़ते ही समझ जाता हूँ कि मुझे क्या बरना है । पूरी तरह उन्हें बिखेर कर अपने ढग से सजाता हूँ । इससे कुछ फायदा हुआ या नहीं, वह

नहीं सकता। पता है, क्योंकि वह उपस्थित है, वही स्रोत है और न जाने अचानक कब आविर्भूत हो जाये, अतः मैं निरुपाय हूँ। मुझे इन पत्रों को सिलसिलेवार ढग से सजाना ही होगा।

“क्योंकि मैं मूर्तिपूजक हूँ”, उसका लिखा प्रथम वाक्य यही था। इस तरह अवयव होता है क्या? इसलिये घुमाकर, याने जिस तरह लिखा जाता है, या लेखक लिखते रहते हैं उसी बंधे बंधाये ढाँचे पर उसकी विगलित तरलता को उँडेल देता हूँ। थोड़ा चिटचिट भी हो, बरना पढ़ा नहीं जा सकेगा न।

अब आरम्भ होता है।

\*

\*

\*

उसका वह प्रथम पत्र था, “श्री चरणेषु माँ !”

जिस पूजा में वह बैठा है, उन्न के कई एंव मोड़ पार करने के बाद, उसमें उसके ईष्ट देव अनेक हैं, क्योंकि वह मूर्तिपूजक है, क्योंकि वह अनेकों के साथ—वासना में, घृणा में, आशा में, हताशा में, आचार और विचार में यहाँ तक कि कृतज्ञता में भी लिप्त रहा है, जितने खिलौने और प्रतिमाएँ आज सुदूर-उद्भास में धुँधली आवा से दिखलाई पड़ रही हैं, उनमें माँ सबसे ऊपर नहीं होगी, तो और कौन होगा?

पर क्यों? लेनदेन सब डुकता कर देन की अदम्य इच्छा उसे लगातार मर्मरित क्यों करती रहती है? कौन-सा ऋण अब शोध हुआ है, और दिवालिया बन जान के बाद भी क्या कोई किसी का उधार चुका पाया है?

पर सम्भवतः इसे हम ऋण नहीं कह सकते। पापबोध। जी हाँ, जिन लोगों के प्रति पाप किया है, उन लोगों से क्षमा माग लूँगा। जिनके साथ मितान्वय किया है, उन लोगों को भी हिस्सा देन के लिए बुला लूँगा। और भी किसी ने एक दिन बुलाया था न? क्या नाम? क्या नाम था उसका? रत्नाकर। बाईं आया नहीं था उसके पास, पर मेरे पास आयेगा। और भी जिन लोगों ने मेरे प्रति अन्याय किया है, उन सबको एक-एक का बुलाऊँगा और फिर उनके बाल तोच-नोचकर अभिशाप दूँगा। दूँगा, क्योंकि मैं रत्नाकर का भाव हूँ, चित्तद्रव्य नहीं हूँ। मेरी सत्ता में कोई त्रिगुणातीत देवी आवश्यक नहीं है, अतः मैं बोलूँगा ही। इसे मेरा सघाल कहना चाहें कह लें, जवाब कहना चाहें कह लें। किसी को अनुयाय, किसी को शिष्यायत यही मेरा अन्तिम टैस्टामेंट है। आखिरी हिसाब। दरअसल आखिरी हिसाब-किताब तो इस दुनिया से करना है। परिचित मानव-मानवी, थोड़ी दूर पहले सिंह देव देवी कहा है, उन सबसे भी हिसाब बिताव लेता है। जिसने जरायु में इतने बाल तक वास किया है, श्वास लिया है, कभी साँस रोके फुफ्फूराता रहा है। जिसने न जान बिताने मृग और अमृग दिया है, उससे अन्तिम कैसला बिना किय चल जान पर ‘पुनजम’

नामक एक दुर्घटना नहीं घट जायेगी। अन्ततः अतृप्त आत्मा को प्रेत बनकर सौटना पड़ेगा। सो, इस जन्म का कोई सूत्र नहीं छोड़ जाना चाहता हूँ।

\*

\*

अचानक एक कठिन रोग में पड़कर, जाड़े की ठलती दोपहरी में वह लेटा-लेटा यही सब सोच रहा था। पत्र लिख-लिखकर जाने का, सबको बुलाने का, जिस तरह मरणासन्न व्यक्ति अपने निकट सबको बुलाता है उसी तरह सबको पास बुलाने का यह अद्भुत विचार उसके दिमाग में आया था। डाक्टर बाबू की उपस्थिति को अग्राह्य करके, सबको बुलाना, उस समय मूढ़ से कोई शब्द भी नहीं निकल पाता है। माथे पर, सिर पर हाथ फेरना, आँख में पानी, मूढ़ में दो-चार घूँस गंगा-जल के।

उस दिन न जाने कैसे उसे लगा कि वह अब थोड़ा अधिक दिन नहीं बचेगा। आकाश की ओर ताकत रहने के दौरान उसकी यह धारणा मन के अन्दर धीरे-धीरे बूझली मारकर बैठ गयी। ट्यूबवेल का पाइप जिस तरह परत दर परत धँसता हुआ जाकर जमीन में बैठ जाता है, ठीक उसी तरह। आकाश का आकार अब के मफेद खोल की तरह है। जाड़ा है न इमलिये नीला है। अनन्त-पनन्त, वह सब उस समय निमाग में नहीं आ रहा था। हताश सलेटी रंग वाले कुछ पक्षी उसी समय बलात् होकर लौट रहे हैं। बड़बड़ाता हुआ-सा वह स्वयं को ही सुनाता है, "जाड़े की दोपहरी किस तरह एकदम से बुझ जाती है। बिल्कुल जिस तरह सोने-चाँदी से भरा सन्दूक का ढक्कन क्षण से गिर जाता है। दोपहर अभी तो जल रही थी, और अब एकदम बुझकर धुली-पुछी चिता बन गई।"

पेट का दर्द, उसी समय सिर उठा बैठा, माना गर्भस्थ भ्रूण, जिसका विनाश करता धुरधुर वैद्य के लिए भी असाध्य हो। टटोल टटोल कर उसने एक गोली पार्ई, यह भी किसी तरह। हाठ सिकुड़े जा रहे हैं, आँखा का कोर भी। कपाल, पेट, पकड़ दबाने पर भी राहत नहीं मिल रही है।

विस्तारित आकाश की ओर मरी हुई मछली की तरह आँखें गढाये, वह बड़-बड़ाने लगता है, "अब मैं जाऊँगा। अपने देश लौटूँगा।" अन्दर ही अन्दर वह पहली बार यथार्थ में प्रत्यावर्तन के लिए व्याकुल हो उठा। स्वदेश! स्वदेश! एक जाकस्मिक आलोडन की तरह। जहाँ वह है, यह विस्तर, यह मकान उसका नहीं है। अस्पार्ई सरायखाना है। इस दर्द के पहुँचने और बाद में जो है, वही उसका उत्स है, अथवा वही उसका परिणाम है। जहाँ वह सहज, स्वच्छन्द और शांत है, वही उसका स्वदेश है।

तकलीफ नहीं होगी? होगी। दुख मिलेगा। वह तो उसने सोचकर देखा कितनी बार ही तो विदेश जाता हूँ, लौटते समय घर का मोह रहने के बावजूद, थोड़ी तकलीफ तो होती ही है। इतनी रोशनी, इतने ऐश्वर्य, साफ-सुथरी

सड़क, विलास, आराम, थोमलता यह सब छोड़कर उसी शहर में फिर से सौट जाना, जहाँ डेर सारा गर्द हो, सब कुछ नितना दबा-दबा, अमावा से पिछ हुआ ।

फिर भी उसी स्वदेश का शहर उसे जुलाता रहता है, जिस तरह आज और भी दूर का, सामने का, शायद पीछे का भी, एक और स्वदेश उसे जिस तरह अपनी ओर खींच रहा है । वहाँ जाने पर यह दर्श नहीं रहेगा, पाँव के नीचे को यह मुलायम मिट्टी, गिस्तर को गरमाहट, यह स्वाद, प्राण, मोह, परिजन, कितने मुख, कितने घाव । यह सब छोड़कर जाते हुए थोड़ी तकलीफ तो होगी ही । फिर भी लौटना तो है ही । लौटना चाहता हूँ, हालाँकि वह जीवन, वह अस्तित्व कैसा है, मायूम नहीं । कम से कम इस समय तो याद नहीं है, वहाँ शायद सब कुछ ही वापसीय ही हो । थपका वायु से अधिक हल्का, निरूप और यहता हुआ हो । मुहाने की नदी, और तनी की नियति समुद्र की भी ता अतंत अलस्य, सूझाकार होकर आकाश में ही लौटना होता है ।

स्वदेश लौटने के पहले समस्त सुख-दुःख, आघात-अभिमान के एक-एक खाने में वह एक-एक पत्र रख जाने की बात सोचता है । अपनी समस्त अवृत्ति में वह नसी तरह पूर्णाहुति देगा । सम्पदशानी व्यक्ति का अन्तिम हस्ताक्षर जिस तरह उसकी वसीयत होती है, उसी तरह उसकी पूर्णाहुति ही उसकी वसीयत होगी ।

मन ही मन में उसने बर्खा की पुकारा । जो लोग जीवित हैं, जीवित अवस्था में जिन लोगों के बारे में सब कुछ साफ-साफ खोलकर बोल पाना, जिस वह अब तक असम्भव ही समझ रहा था । पुकारा उन लोगों की भी जो मृत हैं । हा, मृतकों के आगे भी घुटने टेककर वह स्वीकारोक्ति पेश करेगा और सभी वह मुक्त हो सकेगा । इसलिए वह वागज-बलम लिए, बीच बीच में दर्द के कारण थमते हुए सम्बोधन में लिखा, "श्री चरणेपु मा ।"

\*

\*

\*

श्री चरणेपु मा । सम्बोधन के ये शब्द लिखते ही, तुम्हारी जो छवि आँखों के सामने स्पष्ट हो उठती है, वह है तुम्हारी प्रेम की हुई टेंगी, लगभग जीर्ण-सी धातु की एक छवि, सभी सभी जिस पर स्मरण दिवस पर माला-बाला शान देता हूँ, तुम्हारी कम उम्र की तस्वीर का विशेष स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ । यद्यपि एकाग्र जरूर खींची गयी होगी, उस समय के वे फोटोग्राफर, तिपाईं पर कैमरा रखकर, काले कपड़े से सिर ढँककर, जिस तरह तस्वीर खींचा करता थे, उस तरह से क्या एकाग्र खींची नहीं गई होगी ? मान लो तुम्हारी शादी के समय या फिर उससे भी पहले, छुई-छुई-सी एक निशोरी, कुमुम कुमारी, वृजिम बाँद अकित पदों को पीछे रखकर, गाल पर हाथ धरे, उत्तम भाव से कुछ साँच रही है । वर-पक्ष को जो तस्वीरें बना स भेजी जाती थीं, या फिर जो लोग दखन बात थे, उन्हें यमा दी जाती

थी। जो तुम्ह देखने आते, उन्हें तुम गाना सुनाती। क्या इस तरह का रिवाज तुम्हारे समय में नहीं था, बाद में चालू हुआ? जो लोग देखने आते, वे पनडब्बा भरा पान, दोनों गाल भर खाते, और लम्बे-लम्बे बाल खुलवा कर, एक-एक पाव चलवाकर, तुम्हारी चाल देखते। कभी-कभी साड़ी उठवा कर पाँव का गठन भी देखते। अच्छा लगने पर कहते, "एकदम लक्ष्मी जैसे पैर है।"

जिस तस्वीर की ओर इस समय देख रहा हूँ, वह इस भकान के ही किसी कमरे की दीवार पर टंगी हुई है। वह शायद किसी ग्रुप फोटो से अलग की गयी है। तुम्हारी मृत्यु के बाद, जब तुम्हारी तस्वीर के लिए सिर धुन रहा था। कहीं से भी तुम्हारी एक तस्वीर चाहिए ही, जैसे भी हो, नहीं तो आठानुष्ठानवाले दिन तुम्हारी मौन-सी तस्वीर मेज पर रखूंगा?

इस ग्रुप की कुण्ठित, एकमात्र तस्वीर तुम्हारे अशक्त आयु की है। चेहरे पर जब मकड़ी के जाले थे, मायावी डरी-डरी दोनों आँखें माटे शीशे के चश्मे से ढँकी हुई। ज्यादा हिल डुल नहीं पाती थी। एक जगह बैठे-बैठे तुम्हारी दोनों आँखें दोपहरे ढलने के बाद अपराह्न के सूर्य की तरह धूम-धूम जाती। तस्वीर खिचवाने के पहले तुम्हें पकड़-पकड़ कर कुर्सी पर बैठाया गया था। तुम्हारे होठों पर उस समय भी करीजे का अचार लगा हुआ था। आचल के छोर से तुमने होठ पोछा था। फिर भी उस समय तुम्हारे चेहरे पर मुस्कराहट नहीं थी। माँ! उस समय तुम हँसती नहीं थी। तुम्हारी हसी बहुत पहले ही गायब हो चुकी थी। इस तस्वीर को देखते हुए और भी जितनी तस्वीरों का ब्याल आ रहा है, सब में वहीं एक जैसा उदास, गम्भीर, डरा-डरा सहमा हुआ चेहरा। शायद बहुत चोट खायी थी, शायद इसी कारण मन में कोई भय बैठ गया हो। चर्चित चेहरे पर जैसे स्रो ग्रीम पुता होता है, तुम्हारे चेहरे पर भी वैसा ही एक आतंक पुता होता, तुम्हारे भरोसे की एक निश्चिन्त खूटी तुमसे बहुत पहले ही हिल गयी थी। तुम्हारा जब पहला दात हिला था, उससे भी बहुत पहले। तुम्हें अपने होशोहवास में जब से जाना है उस समय से ही तुम एक काँपते हुए स्नायुओं की गठरी थी।

तुम्हारा जीवनकाल मैंने नहीं देखा है, याने स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ, याने माँग सँवार कर जब तुम छोटी बाघ सकती थी, बाँधती भी थी, करना जिस दिन बाबा अचानक आ जाते, उस दिन तुम पलंग पर बैठकर पाव हिलाते हुए मुह उठाती क्यों? या फिर जिस उम्र में तुम पपासप पोखर में डुबकी लगाती, पढा सीने से लगाये तैरती रहती, गीले कपड़ा में सपसप की ध्वनि के साथ घर लौटती। तुम भी क्या किसी प्रताप की दीवालिनी थी? क्षमा करना, यह सब मेरे कहन की बात नहीं है, कहना चाहिये या नहीं यह भी तय नहीं कर पाया हूँ।

(मेरे जन्मकाल के समय जो लठकियाँ युवती थी, उन्हें अब नहीं देखा जाता है। वे अब नहीं हैं, और उस समय जिन लोगों में जन्म लिया था, वे सब? हाहाकार की तरह महसूस कर पा रहा हूँ, उनमें से भी अब कोई युवती नहीं रह गयी है।

कोई विगत है तो कोई जरती। आज उनकी उम्र के पैमाने से अपनी उम्र का हिसाब लगाता हूँ, बहुत कुछ बँठीते से चावल नापन की तरह।

कभी-कभी सोचता हूँ, उस जवानी में बुढ़ा जाना भी एक तरह से अच्छा ही था। जुड़ाना जब एक दिन है ही, तो फिर जल्दी-जल्दी जुड़ा जाने में क्या हर्ज है? चेहरे की नसें तो दुःख के पून से भी उबलती हैं! जो लोग यह सोचकर उठन बूढ़ मचाते हैं कि, उन्होंने दीर्घकाल तक यौवन को बाँध रखा है, वे इस बात को समझ नहीं पाते हैं कि समय तो अन्ततः चुबता ही जा रहा है। देर तक हँवते-उतरते हैं जो, जीत उनकी है या जो जल्दी ही निनारे पहुँच जाते हैं, वे जीतते हैं? अच्छा बुरा जो भी है, जितनी जल्दी चुक जाय। क्षणायु प्राणियों के जगत् में जो कुछ देखता हूँ—जनन, प्रजनन सब एक क्षण में पार हो जाता है। तो क्या वे लोग ठग जाते हैं? हमारे सीमित विचार से तो ऐसा ही है, पर वह भी सुच्छ आपक्षित्ति नहीं है। महाकाल का परमायु तो किसी भी मनुष्य को नहीं मिलता है। फिर किस बात पर दिमाग सातवें आसमान पर जा चढ़ता है!

तुम्हें व्यग्र होत क्या कभी देखा है? किसी हसी-मजाक में? सरोता हाथ में लिए सुपारी काटते-काटते पड़ोसना के बदन पर लुत्कते हुए? याद नहीं आ रहा है। गाते रहने का तो सवाल ही नहीं उठता है। उस समय गृहस्थ घर की लड़कियाँ गाना कम ही गाती थी, ज्यादातर तो जानती ही नहीं थी।

पर वे लोग सुनती थी। चिक् की ओट में धुआँ धुआँ-सा चेहरा। सिर पर घूँघट। पूरा शरीर शाल से लिपटा हुआ। दंत बनाकर, पालागीत या कीतन सुनने जाती। बच्चों को भी धाख में दबाये साथ ले जाती। तुम ऊँच रही हो। आसपास फुसफुसाहट होती है, दबी हँसी। ठीक उसी समय ही शायद स्टेज पर दो सैनिक तलवार खोलते हैं। मैं तलवार के झंकार से उत्तेजित होकर तुम्हें ठेलता हूँ “माँ! देखा, देखा न!” जयदेव रोकर तुम्हारी चादर गोली बिया है। कभी जब तुम मगन-मुग्ध हो तुम्हें बार-बार ठेलकर तग किया है, जिद किया है, “बाहर जाऊँगा, बाहर जाऊँगा।” मुझे हटाते हुए तुमने कहा है, “जाओ न, सामने ही तो मैदान है।” पर मैं जाता नहीं था, बचपन से ही मैं थोड़ा डरपोक रहा हूँ।

वह डरे-सहमे हुए रहने का भाव क्या मुझे तुमसे मिला था? रात को उल्लू की आवाज सुनकर चौंक जाना, सपने में ही सिहर जाना शाम का बदन सिरसिराना। दीवारों पर पड़े हुए दागा में तरह-तरह की मानवाकृति दूढ़ना। बरगद के पेड़ के नीचे, तेल और सिन्दूर रंगा तने का भयाभाव दीखना। सर्वत्र अशरीरी के अस्तित्व की कल्पना। कौन तो बच्चों मछली का छिनका चबाता है, कोई भरी दोपहरी में सिसक-सिसक कर रोता है इस तरह की सारी बातें उसी समय से अपने स्नायु में एकत्रित कर के रख लिया है। आज भी, इस वेगमल्ल की उम्र में भी, वे सारी बातें पाल क रचे हुए हैं। वे लोग जाते नहीं हैं, या यूँ कहिये कि जाने देता नहीं हूँ, क्योंकि

चले जाने से तो सब कुछ सफाचट हो जायेगा। जो कुछ देख पाता हूँ, भय के बिना उसके बाहर के किसी वस्तु को कैसे देख पाऊँगा ?

हम लोगों के उस आधा शहर आधा गाँववाले मकान के चारो ओर मृत्यु मानो स्वतः ही हल्के कदमों से घूमती रहती। टीन का छप्पर आधी रात को न जाने क्यों कट्कट् बजने लगता। अमरुद के पेड़ पर लटकते चमगादड़ न जाने किसे देखकर झटपटा कर उड़ने लगते। मैं कुछ भी समझ नहीं पाता, केवल कथरी के अन्दर और ज्यादा सिमटता हुआ, तुम्हारे बदन की महक सेता।

जीवन में होश सम्हालने के बाद, पहली बार बूँद रोया था, याद नहीं है, कब क्या देखकर हँस पड़ा था, वह भी भूल चुका हूँ, पर पहली मौत जो देखी थी, वह अभी तक याद है मेरे दादा (बड़े भाई) की मृत्यु। एक तरह से उस दिन तुम्हारी भी मृत्यु हुई थी। अचानक चीखकर तुम पत्थर बन गयी थी। उससे पहले या बाद की तुम एक दम दूसरी थी। कौन या किन लोगों ने तुम्हें पकड़ रखा था। धीरे-धीरे तुम्हें उठाने की कोशिश भी की गयी। तुम उठना नहीं चाह रही थी। दादा की देह पकड़े बैठी रहीं। तुम्हारी प्रथम सन्तान। उन लोगों के जबरदस्ती करते ही तुम घब्राम से जमीन पर गिर पड़ी थी। शायद उस समय तुम्हें होश नहीं था, लालटेन जल रही थी। मृत्यु-दृश्य के बाद सिनेमा में जिस तरह प्रतीक स्वरूप बुन जाता है, वहाँ। उस तरह तो नहीं हुआ।

उस समय मेरी उम्र कितनी रही होगी ? बारह तेरह ! बूँद बूँद पानी बरसने की तरह थोड़ी-थोड़ी याद आ रही है। मौत से मैं तभी से डरने लगा था, पर इसके साथ ही, मौत के प्रति मैं आकर्षण भी महसूस करता रहा, आज मुझे स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं कि, यह सुनते ही वही कोई मरणासन्न है, मैं दौड़ कर पहुँच जाता, पिना खाये-पिये, भीड़ में ही आगमन में खड़ा रहता। गोल-गोल आखा से देखता, डाक्टर गले में स्पेटेस्कोप लटकाए बाहर आ रहे हैं, दवा लाने के लिए कोई दौड़ा जा रहा है, या फिर कम्पाउन्डर के हाथ में इन्जेक्शन है। मरी पलके धीरे-धीरे धाँपने लगती हैं अधीर प्रतीक्षा में कि कब दबी हुई सिसकी, हा-हा करती चीख में बदले और उसे मैं सुन पाऊँ। अगर रागी नहीं मरता या फिर थोड़ी देर के लिए मौत पीछे खिसक जाती तो उस समय भी समझा नहीं सकता हूँ कि मुझे किस तरह हताशा और अवसाद से घिर कर घर लौट आना पड़ता था, चेहरे पर ऐसा भाव होता मानो किसी ने वचन देकर उसे पूरा नहीं किया। आख और कान से शोक के अपूर्व स्वाद को चखने का अवसर नहीं दिया। अपने उस नीच, पिष्टुर, अद्भुत मनोभाव को शब्दों में किस तरह समझाऊँ। और किसी के अन्तर्गमन में इस तरह के मनोभाव हैं कि नहीं, मालूम नहीं पर आज मैं स्पष्ट लिख रहा हूँ, मुझमें है।

दादा की मृत्यु के दूसरे दिन सुपह की वह तस्वीर। सुधीर मामा का चेहरा याद आ रहा है। मुतःह के सिरहाने खड़े थे, शायद सारी रात खड़े रह हा। तुम्हारे माथे पर हाथ रखा था और उसी समय तुम कितनी धुरी तरह चीख पड़ी थी माँ।



पागल की तरह सिर हिला-हिला कर बोलने लगी, "नहीं-नहीं-नहीं !" सब मिलकर जो काम नहीं कर सके थे, सुधीर मामा के हल्के स्पर्श से ही वह काम हो गया, अस्त व्यस्त सी तुम, छिटक कर दूर हट गईं, दीवार पर सिर धुनने लगी ।

सुधीर मामा वहां भी गये । इस बार बलपूर्वक मुट्ठी में तुम्हारी चूड़ियाँ समेत कलाई पकड़ ली, "छो आनू ! ऐसा नहीं करत है । शांत हो जाओ !" चटाक स तुम्हारी चूड़ियाँ टूटी थी, जो तुम्हारी गोरी चमड़ी में घोंस गयी थी । थोड़ा-सा खून छलछला आया था । खून देखकर तुम थोड़ा सकपकाई और फिर फफक कर रोते हुए, रक्षे गले से कहा था, "बता दो सुधीर दा, मेरा क्या रहा ? मैं क्या लेकर रहूँ ?"

दृश्य को टुकुर-टुकुर देखनेवाला दशक मैं, थोड़ी दूर पर अबोध-सा खड़ा था, माना उस दिन सुबह के क्लास की वही मेरी पढाई थी, पर उस पढाई का मतलब रत्ती भर भी नहीं समझ पा रहा हूँ, किसी की मौत से किसी का क्या जाता है, किसका जाता है, कुछ भी उस समय नहीं समझता था न ।

उसी दर्शक का अचानक उस दृश्य में फेंक दिया गया । किस समय मुझे सुधीर मामा खींच कर अन्दर ले गए और तुम्हारी गोद में बैठा दिया । कहा, "इसकी ओर देखो । एक दिन यही तुम्हारा सब कुछ बनेगा ।"

मा ! कितने ठण्डे हाथ से तुमने मुझे जकड़ लिया था । मेरा बदन सिरसिरा उठा था । तुम्हारी दृष्टि विह्वल थी । तुम मुझे देखे जा रही थी, या फिर कुछ भी नहीं देख रही थी, या फिर वह मृत दृष्टि क्या उस समय धूम-धूम कर एक मृत चेहरे के साथ मेरे चेहरे को मिला कर देख रही थी ?

दबे स्वर में हरिष्वनि देने हुए उन लोगो ने जब दादा को उठाया, उस समय मुझे गोद में लिए ही तुम पीछे-पीछे दौड़ गई थी । सबने मिलकर तुम्हें रोका, तुम मुझे गोद में उठाए ही वापस आ गईं ।

वे लोग दोपहर के बाद लौट आए, शून्यता हाथ में लिए कोई लौटता है, लौटा जा सकता है, यह उस समय नहीं समझता था । समझ पाया था बहुत बाद में, विजयादशमी के विसर्जन की संध्या को, जब और थोड़ा बड़ा हो गया था । पर उस दिन वे लौटे, बिना दादा के । दादा नहीं हैं, लौटेगा नहीं, यह उसी समय पहली बार निमूल जानकर, मैं भी अचानक गला फाड़कर रो पड़ा । जो दादा, सबाल गलत होने पर मुझे मारता, जिसके इधर उधर चले जाने से मुझे राहत मिलती, बाजार में कभी-कभी जो मेरे लिए सदेश लेकर आता, वह जब ज़ोर लौटकर नहीं आयेगा, जानकर उसने लिए मैं रोया था ।

माँ ! उस समय तुम्हें सम्हालना दूसरा हो गया था । तुम पागल की तरह सिर हिलाये जा रही थी । आँचल अस्त-यस्त हो रहे थे । अचानक न जाने क्या हुआ, सुधीर मामा का नया जार से पकड़ कर, लगातार बोलने लगी थी, "किस पाप के कारण मेरा ऐसा हुआ, बता दो मुझे सुधीर दा । बता दो ।"

मैं आज भी उस दृश्य का देख रहा हूँ । तुम्हारा खूब वाला मैं धीरे-धीरे हाथ

फेरते हुए सुधीर मामा बहुत कोमल और धीर स्वर में बोल रहे हैं, "पाप ? उसके बारे में तो सिर्फ एक ही व्यक्ति जानता है जो ऊपर है, मनुष्य अपने पास पाप-पुण्य का हिसाब नहीं रखता है न ।"

\*

\*

\*

सुधीर मामा ! बहुत दिनों से यह नाम भूल चुका था । आज तुम्हें यह पत्र लिखते हुए अवश्यम्भावी लौट आया । एक पुराने कार्ड जमे तालाब का हिला-हूला रहा हूँ न ! शायद इसी से एक के बाद एक मरी हुई मछलियाँ तिरती आ रही हैं ।

सुधीर मामा कौन थे ? किस रिश्ते से मामा सगे यह पता नहीं, तुमने भी कभी बताया नहीं, उस जमाने में इसकी जरूरत भी नहीं पड़ती थी । पास जो आता, हाथ बढ़ाकर उसे ही थाम लेता । मन इसी तरह तैयार रहता, अथवा तैयार किया जाता । मानो स्वतः सिद्ध कुछ लोग, बिना किसी दुविधा के जल, हवा सुबह के माढ़ वाले चावल, शाम की मूढी-पठाली की तरह स्वीकृत-ग्रहीत हैं । गुरुजन होने के कारण उन्हें सम्मान देना पड़ता है । इस तरह की शिक्षा रोम-रोम में समाई हुई थी ।

झट से कोई किसी का जरण स्पर्श करके प्रणाम कर रहा हो, आजकल यह कम ही देखने को मिलता है । वह सब अब लगता है, समाप्त होता जा रहा है ।

सुधीर मामा, जीवन के उस प्रभात में मानो एक नियम एक अभ्यस्तता, पीन पुनिकता से थे । आज तस्वीर धुंधली है, अतः ठीक-ठीक वर्णन शायद न कर सकूँ । केवल प्रस्यहीन एक दीर्घता ही भावस में स्पष्ट है । उनकी बगल में सब कुछ कितना छोटा लगता । मैं तो उस उम्र में कभी भी उनकी कमर से ज्यादा ऊँचा हो ही नहीं सका । माँ, लगता तो नहीं है कि तुम भी उनकी छाती से ज्यादा ऊँची रहो होगी । वे गोरे थे कि नहीं, याद नहीं । उन दिनों गांव में ठीक जिसे गारा कहा जाता था, उस तरह के लोग अधिक नहीं देखते थे न । पोखर के पानी और मैदान की धूल से कम से कम मर्दों का रंग तो काफी काला पड़ जाता । सुधीर मामा भी, अनुमान लगाता हूँ तबि जैसे थे ।

उनकी और भी जो चीज़ें याद आ रही हैं, उनमें एक मफलर भी है । हमेशा उसे वे गले से लपेटे रहते ।

(माँ ! तुम मजाक में कहा करती, "महादेव का साँप है ।" हँसत हुए सुधीर मामा जवाब देते, "महादेव ही ता हूँ मैं । देखती नहीं नीलकंठ हा गया हूँ ।" तुम्हारी भौंए तन जाती । पर ज्योंही सुधीर मामा टेढ़े के पास पूली हुई नीली नस खिंचता देते, त्योंही तुम भी हँस पड़ती । "ओह ! इसने लिये ।")

वह मफलर, तकरीबन सुधीर मामा की देह की त्वचा की तरह उसे जुड़ी रहती । बहुत गर्म दोपहर के सिवा उन्हें बिना मफलर के देखा नहीं । रह रहकर,

खो-पा खांसते रहते । पांसी हमेशा सगी रहती । बर्भी-बर्भी देखता था, पांसत पांसते घेदम-सा हो जाते थे । आँखें बाहर की निपल आती, गले की बह नीसी नस मांनों पाइप की तरह फट पडने की होती । सुधीर मामा हाथ बढ़ाकर एक गिलास पान लेते । थोड़ा सम्हलने पर अपनी बमजोर छाती पर हाथ फेरते, थोड़ी शर्मोली-सी हसी के साथ बोलते, “विकुल घायल ! अदर अब और कुछ नहीं है । छाती पगल हो चुकी है ।”

माँ ! तुम बहती, “पर दिमाग तो है । जो कुछ है उसी में से मरे इन दोनों लडका को दो न ।” सुधीर मामा की बोना आँखें बमबने लगतीं, “दूंगा, दूंगा । वे लोग विद्या-बुद्धि में बहुत सम्पन्न होंगे, देखना न ।”

जाड़े में सुधीर मामा को और ज्यादा झुके हुए देखता । गलाबन्द इट राग के पोटे के ऊपर एक वेमेल सा सततरे-रग की चादर डाल और भी ज्यादा शीर्ण, जड़ और निष्प्राण से दीखते । उस समय और भी ज्यादा ध्यान उनकी छड़ी की ओर जाता छड़ी के बिना उन्हें बर्भी देखा है, ऐसा ख्याल नहीं पड रहा है, छड़ी पर ठीक बोध डालकर वे नहीं चला करते थे, बल्कि उसे जागे फेंकत हुए से चलते, जिससे ठक ठक की आवाज गूजती । काफी दूर से ही पता चल जाता कि वे आ रहे हैं । ऐसा सगदा मानो जमीन पर छड़ी ठाक-ठाक कर सुधीर मामा इस बात की जानकारी ले रहे हैं कि जमीन कितनी ठोस है ।

इसके साथ ही, सुधीर मामा की नाक के दो लम्बे बाल भी याद आ रहे हैं, वनखजूरे की तरह लगते । काफी बाहर निकल कर मूछ के बालों के झुंड में घुस जात ।

(स्मृति का व्यवहार देख रहे हैं कितना अजीब है ? इतना कुछ भूल-भाल जाने के बाद भी नाक के दो बालों को इतने निनो बाद न जाने कहा से उठा लायी है ।)

कुर्सी पर ऊँघत-ऊँघते जब सुधीर मामा खरटि लेते, वे दोनों बाल कापते रहते । मरे पेट में तब हँसी की गूदगूदी लगती । तुम्हे कई बार बुलाकर दिखाया भी था । कुर्सी पर बैठकर झपकी लेना । थोड़ी-सी आहट में ही झपकी, झपक जाती । सीधे होकर सुधीर मामा बैठते, ठुकुर-ठुकुर देखते हुए बोलते, “बयो रे । क्या देख रहा है ?” नजर के निशानों को पकडने में देर नहीं लगती । दोना बालों को पकड कर सीधा करत हुए बोलते, “ओह ! यह ! केवल क्या ये दो हैं ? अच्छी तरह से देख और भी ढेर सारे हैं । एकदम घना जंगल । यह नाक कहा गयी है किसी को मातूम नहीं । किसी अय ने घुस कर बाहर आकर नहीं बताया न । दिशाहीन घना जंगल, जानबरा से भरा हुआ, तीर धनुष हाथ में लिये आदिवासी या फिर, मुस्कराकर हँसते हुए सुधीर मामा जोड़ दंत, ‘कहा तो नहीं जा सकता न, शायद तपस्वारत ऋषि-मुनियों से भी साक्षात्कार हो जाये ।’



रोज सुबह सुधीर मामा, बिना किसी व्यतिरिक्त वे आते, आँगन में सुबह की धूप फैलने के साथ ही वे मोटे पर जम कर बैठ जाते। गुनगुनाते हुए कोई भजन अथवा कीर्तन गाते। उसकी सिर्फ एक लाईन याद है, “निशि अवसान है।”

तुम आँचल से हाथ पाछती हुई आती और कहती, ‘कहाँ अवसान है ? अघ-कार मिटने का तो मुझे कोई संकेत ही नहीं दीख रहा है।’

सुधीर मामा कहते, “मिटेगा, मिटेगा।” आकाश के उजाले की ओर मुँह उठाकर वे कितने विश्वास और आस्था के साथ अपनी बात कहते। उस तरह के विश्वास का आभास तक मुझे-हम लोगो को इस युग में ढूँढ़े नहीं मिला।

उसके बाद सुधीर मामा हम लोग के साथ व्यस्त हो जाते। दादा की सिखाते कठिन श्लोक। पहले रटना, बाद में व्याख्या एक श्लोक में ‘वचन-नेत्र’ जैसा कुछ दाँत फोड़, वाक्य थे। दादा किसी भी तरह उस श्लोक का अर्थ याद नहीं कर पाते थे। मुझे पढ़ाते थे अंग्रेजी, माने पढ़-पढ़ कर कहानी सुना देते थे। “फोक टेल्स आफ बेंगाल”, राक्षस-दानव की कहानियाँ हाँक-माँक-काँक, यह सब उसी समय सुना था। अंग्रेजी भाषा उसी समय से जानी-पहचानी हो गयी थी। पर वह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी। रूपकथा का एक मायावी राज्य उसी समय मन में गढ़ गया। बहुत दिनों तक वह राज्य पाट अंतर में अवस्थित ही रहा। कपोल-कल्पित वे जगत-वगत ना जाने कब काफूर हो गये, फिर भी क्या उसके स्पर्श की थोड़ी-बहुत अनुभूति मन के गलियारे में क्या रह नहीं गयी है ?

पढ़ाना खत्म होते ही सुधीर मामा हाथ बढाकर कहते, “दो”। तुम हरे रस से भरा एक गिलास उह पकड़ा जाती। नीम की पत्ती का रस। सुधीर मामा को पित्त दोष था। किसी-किसी दिन जुकाम-खाँसी के लिए अलग से तुलसी और अदरक भी लेते।

माँ, तुम्हें चाय पीने का नशा था, प्याले में चीनी मिलाते हुए सामान्य बैठ जाती थी। एक दिन तुम्हें कहत हुए सुना था, “चाय पियोगे मृगीन्द्रा ! एक दिन थोड़ा-सा पियो न !”

सुधीर मामा कहते, “एक और नई आदत ! और मत पकड़ा ! फिर चाय में भीठा पड़ता है न ! भीठा कुछ भी इस मुँह में बरताना नहीं !”

तुम्हे मृदु स्वर में कहते हुए सुना, "तुम्हें सिर्फ बडुवा ही दती गई। सोचते हुए भी बुरा लगता है।"

सुधीर मामा किंचित् मुस्करा कर जवाब देते, "जिसका जो प्राप्य है।" बाप में उस मुस्कराहट का नाम जान पाया हूँ—दार्शनिक निर्वेद। इस तरह किसी विधान का सिर झुकाकर ग्रहण कर लेना, किसी अक्षम व्यक्ति का गंगा में न उतर पाने पर, घाट पर ही खड़े-खड़े गंगा जल छिड़क लेने जैसा लगता है।

सुधीर मामा ने किसी-किसी दिन अचानक ही तुमसे पूछा है, "प्रणवबाबू की कोई चिट्ठी-विट्ठी आयी?"

"बाबा का नाम सुनते ही तुम कैसी ती सफेद पड़ जाती थी। तुम्हारे पतले हाठ टेढ़े पड़ जाते, या फिर थर-थर कांपने लगते।

सूखी आवाज में तुम कहती, "न-ना-हूँ।"

"छूट नहीं हूँ?"

"सरकार ने तो सबको छोड़ दिया है। अखबार में तो ऐसी ही खबर है, तुमने नहीं पढ़ा?"

"पढ़ा है, तभी तो पूछ रहा हूँ। फिर रुपये-पैसे "

"उनके मामा ने मनिआडर भिजवाया था। वह भी पिछले महीने। और कोई खबर नहीं आयी है।"

तब उस इट रंग वाले कोट की जेब से सुधीर मामा, बहुत कुण्ठित भाव से एक दस रुपये का नोट निकालते, "इसे रखो। अगर अचानक जरूरत पड़ जाये "

मा, तुम उस रुपये को छू कर भी नहीं देखती। पहले जैसे निष्पृह स्वर में कहती, "अपने पास ही रहने दो। हाय जब बहुत तंग होगा, तुमसे माँग लूंगी।"

"अरे, बाद में चुका देना।"

क्षणशः मे मा, तुम्हारा चेहरा अपरूप विपाद से मण्डित हो जाता। "चुका देती? तुम्हें? नहीं सुधीर दा, इस बार के सफर में तो लगता है, सम्भव नहीं होगा।"

एक बार सुधीर मामा कहा तो गये थे। वहाँ जाकर वे बीमार पड़ गए थे और उन्ह सातों दिन चक्का पड़ गया था। लौटते तो और भी कमजोर और ज्यादा दुबले होकर। मा! उस दिन तुम्हें अचानक हल्की चपलता में विस्तारित होते देखा था। आँखें मुँह के पास से जाकर हँसती रहीं, "हमने तो सोचा सुधीरदा, तुम एवदम।"

"शादी करके लौट रहा हूँ?"

"ठीक, ठीक ऐसा ही, तुम्हें जरूरत भी है। इस उम्र में बुखार में बहोश हावर "

“इसी लिये सिर पर पगड़ी धरने के लिये कह रही हो ?”

ताली बजाते हुए तुम हँसने लगी थी। “देखू, पगड़ी सिर दिये तुम कैसे दीखोगे ? ऊँहँ,” सिर हिलाकर तुमने कहा था, “नहीं सुधीरदा, तब तो तुम और भी लम्बू हो जाओगे ?”

सुधीर मामा हम लोग की ओर देखते हुए कहते हैं, “तालगाछ, एक पाँव पर खड़ा सब गाछों से बड़ा, घाली बबिता की तरह न रे ?”

एक मृत्यु आकर सूनी माँग की तरह ओर-ओर की सीधी चीरती हुई चली गई। बाद में जो कुछ रहा—इस परिवार का रूप, तुम्हारा रूप, कुछ भी फिर पहले जैसा नहीं रहा। सब कुछ वैसा तो सफेद हो गया, एकदम सूनी, भाँय-भाँय करती गरमी की दोपहरी की तरह। या फिर कभी-कभी अकेले यरामदे में खड़े रहने समय वैसा तो धुआँ-धुआँ-सा लगता, मानो जाड़े की शाम हो, समय आता-जाता बीतता रहा। हम लोग खाते-पीते फिर सो जाते। पर सब कुछ किसी नगी डाल की तरह लगता, जो जीवन के समस्त अर्थ को सूखे पत्ते की तरह झाड़ चुका हो।

खासकर जाड़े का अन्तिम माघ महीना कितना तो सूना-सूना लगता। सारे पोखर, पुतलीहान आद्य के बोटर की तरह लगते। खेत खडखडाने हुए सूखे-से। फसलें बट चुकी हैं। नगे पाँव चलने से चुभन होती। फिर भी अकेले-अकेले घूमता। सूने खेत में मरे हुए जानवर की हड्डी चिक्चिक करती। कितना बोभत्स चक्कचक्क सफेद होता। यही क्या मृत्यु का चेहरा है ? मैं कभी-कभी सोचता, नहीं-नहीं, मृत्यु तो काली होती है। वह फकीर के चोगे की तरह काली होती है। वस्तुतः बहुत दिनों तक मैं यह समझ ही नहीं पाया कि मृत्यु का रंग काला है या सफेद।

और उसकी गंध ? इसे भी एक दिन महसूस कर सका हूँ कि मृत्यु-गंध भी होती है। उस बार बहुत ओस पड़ रही थी, अचानक शाम के बाद लालटेन का तेल खत्म हो गया। तुमने कहा, “बट से दूकान जा। थोड़ा-सा नारियल का तेल भी ले आना।”

रास्ते भर बदन सिहरता रहा। भयातुर होकर चलता रहा। कोई मरे साय है। न जाने कौन हँस रहा है, हवा में फैला कठ स्वर। मैंने दौड़ लगायी। एक ही दौड़ में बाजार पहुँच गया। पर लोटते वक्त एक लम्हे के लिये वहीं गध। तेल की गध। दाना के पाँव में एक बार बिवाई हुई थी। उस समय तुमने उसके पाँव की उँगलिया के बीच में कपूर मिलाकर यही तेल लगाया था। मरे झुक कर, दादा के पाव के धावों को देखते समय उसकी गध मिली थी। वह गध चेतना में घुल-मिल गयी है, पता नहीं था। उस दिन, उसी क्षण दादा का लौटा लाया। उसकी मृत्यु को भी।

अलग-अलग तरह की मृत्यु की अलग-अलग विस्म की गंध होती है। इन दिनों शहरी मुर्दों की चादर पर एक तरह का इत्र उँडेल दिया जाता है। अधिकतर

देखी हुई मृत्यु की गंध भी उमी झ की तरह होती है, मैंने अपनी जीवित देह पर कभी भी झ नहीं लगाया ।

मेरे उस स्नायु-सिहरित शीतल वेशव में दादा, और भी न-जाने कितनी बार कितनी-कितनी तरह से लोट आया है । मैं स्वप्न में तो रहता ही था, कभी-कभी वल्पना भी करता रहता—भूत के रूप में । माँ ! हालाँकि तुम यही कहती रहतीं, “दुर ! ऐसा नदी बोलने । जिनसे हम प्रेम करते हैं, वे भूत बन कर नहीं आते ।” तुम्हारा वह अटूट विश्वास ! आहा ! अगर मुझे उसका रत्ती भर भी मिला होता, तो दरवाजे की खट्खट आवाज, और पोखर के शालूक फूल के हँसते हुए चेहरे के बीच, बार-बार दादा की झलक मिसती क्या ? कितने झमेली के अचार कड़ुवे हो गये । कच्चे अमरुद पर दात गड़ाने के पहले ही पेंक दिया है । कटोरे में भर कर गुड़ और मूड़ी जब भी तुमने दिया है, मैं इसी बात की प्रतीक्षा में रहा कि जब तुम हटो, तो मैं सारी मूड़ी चिड़ियों के बीच फेला दूँ ।

\*

\*

\*

पर तुम एक सहज विश्वास के अंदर प्रवेश कर गयी थी । तुम्हारी हसी उस समय से जो गायब हुई, तो फिर चीट कर नहीं आयी । पता नहीं कहाँ तुम्हें एक मन्त्र-पुस्तक मिल गयी । कमरे के कोने में आसन बिछाकर, अर्थ न समझ पाते वाले मन्त्रा को एक के बाद एक लगातार पढ़तो रही हो, इस समय मैं तुम्हारा वह शान्त, विश्वासी समर्पित रूप स्पष्ट देख पा रहा हूँ ।

उन दिनों, सारी सुबह का मतलब ही रह गया था, तुम्हारा स्तोत्र-पाठ । सुन-मुनकर मुझे भी कठस्थ हो गया था । आज भी जितने स्तोत्र, जितने मन्त्र हट फूटे-जशो में याद हैं, वह सब उही दिना सुने हुए का अवशिष्ट भाग है । पर तुम्हारी उदासीनता का हिस्सा मुझ नहीं मिला था । दादा के अभाव का बोध धीरे-धीरे घूमिल होता हुआ धित्कुल ही लुप्त हो गया । मैं दोबारा अपने स्वाभाविक चपलता और लालचीपन में लोट आया, पर तुमने जो कुछ छोड़ दिया, उसे दोबारा ग्रहण नहीं किया, एकदम बल गढ़ । एक मृत्यु आकर क्या ले गई ! बदल में तुम्ह दे गयी एक सम्पूर्ण शुद्धता मानो ज्योही ठट पड़ी नहीं कि तुमने स्वयं का एक माटी चादर में लपेट लिया । वह चादर फिर बहुत सरलता से उतर नहीं सकी ।

इस पन् को लिखने में एक ही असुविधा है कि तुम्हारे पास से इसका कोई उत्तर नहीं आयेगा । यदि कुछ गलत-सलत लिख भी जाऊँ, तो तुम्हारी भोंवें टेढ़ी नहीं हांगी । तुम सुधार भी नहीं दांगी । देखो, मैं लिख रहा हूँ और मेरे हाथ काँप रहे हैं । डरते-डरते आगे बढ़ रहा हूँ, भाटे में बैठकर ज्वार की बात लिखना बहुत सहज नहीं है । मैं तो यही समझ रहा हूँ कि जो कुछ मैं देखा है उसे ही हबह उतारता जा रहा हूँ, पर जिसने देखा है, वह इसे कहाँ लिख पा रहा है ? इस उम्र की आँखों से उस उम्र के दून और बाँटा में विचरण—फव तो आ सकता हा है शायद आ गया

ही हो। कौन जाने, जो कुछ देखा है, शायद उसे लिख नहीं रहा होऊँ। जो कुछ देखना चाहता हूँ, जिस तरह देखना चाहता हूँ, वह किससे स्याही बनकर निकल रहा है।

तुम दादा की मृत्यु के बाद सुदूर-दूर निरासक्त-सी हो गयी थी। बहुत करुण तुलना से मैंने तुम्हारी एक तस्वीर खींची। क्या पता वह शायद ठीक न रहा हो। पर कौन-सी प्रतिवृत्ति एवदम ठीक-ठीक उतरती है? इस समय ऐसा अनुभव हो रहा है कि, वह मृत्यु तुम्हें सिर्फ दूर ही हटा ले गयी हो, मो नहीं बल्कि उसके साथ ही तुम्हें मेरे बहुत निकट भी ले आयी थी।

हम एक साथ सोते थे, सोते तो बराबर ही साथ में थे, पर इतने पास सटकर सोना इससे पहले नहीं हुआ था। साँस से साँस मिलाकर, गुडमुड्डा कर जितना ज्यादा हो सके, एक दूसरे को जकड़ के? यह ठीक है कि एक मृत्यु हुई। कोई जो था, वह लापता हो गया। जाने के पहले माना वह एक निश्चित अलिखित चिरकुट छोड़ गया कि, अब से हम दोनों एक दूसरे के लिए हैं। कुएँ के पास मुझे खींचन-धसीदते ले जाकर, जाड़े की सुबह में भी लोटा भर-भर कर पानी डालकर नहलाना मी। इन सब तुच्छाति-तुच्छ घटनाओं को क्या तुम अंतिम दिनों तक याद रख पायी थी?

जल्द रख पायी होगी, पर मैंने नहीं रखा था, क्योंकि यह ठीक है कि एक आदमी चला गया, पर उसने बदले कोई और, नहीं-नहीं पत्नी की बात रही कर रहा है, वह सब बाहरी बातें हैं, दरअसल मैं और पुत्र के सम्बन्ध के बीच जो चुपके से खली आती है, उसका नाम है उम्र। वही आकर बदल देती है सब कुछ। वही मूल है। हम लोग बिना समझे उसे 'मित्र', 'पत्नी' यह सब नाम देते हैं। आदम और ईव के बीच जिस तरह छद्मधारी साप था, मा और पुत्र के सम्बन्ध के बगीचे में भी उसी तरह उम्र एक छद्मधारी साँप है। वही मुझे बदलता जा रहा था। मेरी उम्र ही मुझे बहुला-फुमला कर धीरे-धीरे तुमसे दूर हटा देना चाह रही थी।

खैर, वह सब बातें फिर कभी। पर उस समय मा हम लोग एक ही धाली में खाना खाते थे। भात सान कर, एक-एक कौर के लिए डेला बना रखती थी। मैं कभी-कभी टपाटप, मुँह में डाल लेता तो कभी तुम मुँह में डाल देती। गाल पर झूठा लग जाने से हुयेती से पाछ देती। आज उस सुख स्पश की बात लिखने में भी रोमांचित-सा महमूस कर रहा हूँ। और था मेरा आखिरी चाटना-चटोरना। उस काय का तो सर्वाधिकार मेरे पास सुरक्षित था। यहाँ तक कि तुम्हारे मुँह में चबाए गये पान की ओर भी मैं सलचायी नज़रो से देखता रहा हूँ कि जब तुम जीभ के अग्र भाग में थोड़ा-सा लाकर दोगी। उसी प्रतीक्षा में अधीर हो उठता था। क्लास में सिखलाई गयी सरल स्वास्थ्य-नियम की भी परवाह नहीं करता। मजीरा बजाकर साधु के आते ही, तुम्हारे पास से चावल लेकर दौड़कर जाना, तुम्हारे बगल में बैठकर दोनों हाथ जोड़कर प्रत्येक वृहस्पतिवार का सत्यनारायण की कथा सुनना। पद्मासन



होकर बैठना किसे कहते हैं, यह तुमने ही सिखलाया था। तुम्हारे ठाकुर जी के लिए, दूसरे के घगीचे से फूल चुराना। सहजन और बकफूल तोड़कर लाना, आज भी देख पा रहा हूँ, जो आज भी स्मृतियों की टोकरी में न जाने कितने फूलों से भरी हुई है। छुट्टी की दोपहरी में तुम्हारे वालों में उगली फेरा हूँ। वैसे यह सब लिखने का कोई अर्थ नहीं है। किसी के पास इन सबका कोई मूल्य भी नहीं है। मेरे पास भी कितना है ?

रात का उठकर बाहर जाने की जरूरत पड़ने पर जब तुम्हें जगाता, निद्रातुर तुम उठ बैठती। किसी-किसी दिन देखता, तुम्हारे नटखट तेवर को। "डरपोक कहीं का। अभी तो मैं खड़ी हो जा रही हूँ, इसके बाद कौन खड़ा होगा ? तेरी बहू आने से क्या वह खड़ी होगी ? तू इतना क्यों डरता है ? काहे का इतना डर है ?"

तुम्हें उस समय किस तरह समझाता था, कि किस बात का डर था। जिन लोगों का हम देख नहीं पाते, पर जो लोग निरंतर तरह-तरह के अबोध शब्दों से बात करते हैं, रात होते ही नतार लगाकर बाहर पहरा देते थे, उन लोगों के पास अनेक जाने से क्या मैं उनके घगल में फँस नहीं जाता।

एक बार और तस्वीर आधी रात की स्मृति-पटल पर उभरती आ रही है। यदन पर से रजाई या कपड़े हटा देने पर, तुम डँक दिया करती थीं, या फिर बुखार में अगर छटपटा रहा हूँ तो माथ पर ठण्डी हथेली रखती थी, हथेली ही माना जल पट्टी हो। माथे पर हाथ फेर रही हो। यह सब तो बहुत मामूली घटनाएँ हैं। पर किसी-किसी दिन तुम्हें महसूस हो जाता कि मैं सो रही हूँ, दोनो हाथ जोड़े उपमा की मुद्रा में बैठे देखा है। दृष्टि ऊपर की ओर, सर्वाङ्ग माया बँटोर हो गया है। मेरा जानी-पहचानी माँ, माना हठाव पत्थर की मूरत बन गयी है। तुम स्तब्ध निस्तरंग-सी, मूर्त प्रणाम से किसी अदृष्ट को बेध रही हो। तुम जहाँ हो वहाँ असल में नहीं हो। यह मैं साफ-साफ समझ जाता था।

जैसे ही तुम्हें यह महसूस हो जाता कि मैं जाग गया हूँ, तुम्हें देख रहा हूँ, पैर ही तुम नींद आती। तुरंत मुझ पर तनी, 'सो जा ! बाहर शायद किसी मकान की टाँप पड़ना होगा। कानों की साबाज होठ ही नींद हट गयी थी।"

हठ की एक पीना परत तुम्हारे चेहरे पर फैल जाती। लानटन की धीमा रागनी में भा उम में श्रवण। तुम दायाँ बायाँ कर रही हो। तुम्हारे जेब समय का मैं आत्मगर्वाह कर दिया था। मिन यही थोड़ा-सा निमृत्, तीरक दाग हो। विनिद्र म धन हो गंगा के लिए थे।

तुम जो पत्र मैं धार-धीरे तुम्हारे घुटने पर गिर रख देता, हाथ बझार, तुम्हारी गला में लिपटा हुआ बोझ, "माँ ! बाबा आज भी नहीं आये ?"

तुम कोई जवाब नहीं देती।

जना बड़ा गमाधार बाहर भी गंगा गंगा रहा है, यह गुनकर भी रहा था ?

"वे ऐसे ही हैं। या फिर हा सकता है, खतर न मिला है।"

"पग तो दिया था।"

"जिन जगहों पर हो सकता है, वहाँ-वहाँ तो दिया हो-यह किसी आदमी के

मार्फत भी कहलवाया था।"

"उन लोगों को शायद मिले न हा?"

"हो सकता है। यह भी हो सकता है कि मुन वर भी न आये हो। आयेगे क्या? किस मूह से आयेगे? हमेशा ही तो बाहर ही बाहर रहे। घर परिवार क्या देखा? देखा ही नहीं जब, तो फिर गृहस्थी क्या बनायी?"

गृहस्थी बनाना किसे कहते हैं, यह मुझे उस समय मालूम न था।

"बाबा कहाँ रहता है, मा। क्या करता है?"

"छि। रहते हैं, बोलना चाहिये। वे देश के लिए काम करते हैं।"

देश का काम क्या होता है, ठीक-ठीक समझ नहीं पाया था। पर यह जानता था कि जेल जाना पड़ता है। बाबा बीच-बीच में जेल गये थे, यह सुना था।

"सिर्फ देश का काम?"

"छूटने पर ताटक लिखते हैं। बहुत सी पुस्तकें लिख रखी हैं, बड़े हाने पर पढ़ना। ढेर सारी कापियाँ। फिर उनके दिमाग में न जान कितनी तरह के व्यापार करने की योजना है। यह सब करके ही तो सब कुछ चौपट हुआ है। मेरे बाबा जब तक जीवित थे, उन्हें कितना समझाया करते थे। सुधीरदा ने भी कितनी बार समझाया है।"

सुधीर मामा एक नांव थे। सुधीर मामा का, हम लोगों के उत्तरी दिशा वाले कमरे के ठीक बगल में, एक बहुत बड़ा नारियल का पेड़ था, ठीक उसी तरह खड़े रहना।

एक दिन सुबह बहुत ठंड लग रही थी फिर ऊपर से वार्षिक परीक्षा खत्म हो चुकी थी। नींद टूट जाने पर भी रजाई के नीचे चुपचाप दुबका हुआ था। सुधीर मामा के आने की आहट मिल गयी थी। नियमानुसार नीम के रस में घूंट भर रहे हैं। धूप की ओर पीठ करके तुम शायद बड़ी ढाल रही थी। सुधीर मामा को कहते सुना, "तुम्हारा बड़ा बाला अगर इस तरह नहीं चला गया होता अब तो और आठ-दस साल में तुम्हें एक सहारा मिल जाता।"

अचानक दाल फँटा हुआ कटारा अनशनाने हुए गिर पड़ा था। माँ! तुम्हें शायद मालूम नहीं, मैं बिस्तर से फट्टाक से बूद पड़ा था। मैं दरवाजे के पीछे इस तरफ खड़ा हो गया, जहाँ धूप अविश्वल तीर की तरह फैली हुई थी। तुम्हारी स्थिर हो गयी दृष्टि को मैंने देख लिया था। तुम्हारी दृष्टि स्थिर थी, पर बात करते हुए

तुम्हारा गला काप गया था, “मेरे किम पाप के कारण ऐसा हुआ मुधीर दा ! आज फिर पूछ रही हूँ । ईश्वर जानता है, किमी तरह का पाप हमने नहीं किया है ।”

“पाप ? पाप शायद बहुत तरह के होते हैं आज । सज्जन में न हो तो अज्ञान में ही ! ठीक-ठीक मालूम नहीं” इसी तरह का कुछ शायद मुधीर मामा ने अस्पष्ट स्वर में कहा था, या फिर उस नीम के गिलास में मुह रखकर बहुत धीरे-धीरे उच्चारित किया था, सो ठीक से सुन नहीं सका ।

पर बोलते-बोलते मुधीर मामा को खासी आ गई थी । मा, तुम जल्दी से उठ कर, जिस हाथ में दाल नहीं लगी थी, उस उनकी पोछ पर फेरती रही । मुधीर मामा के थोड़ा सम्मलने पर तुमने कहा था, ‘अभी भी समय है मुधीर दा । तुम्हारी तबियत ऐसी रहती है, किसी को लाकर, अपने देखने-सुनने का जिम्मा उसे सौंप दा ।’

पलाश में मुधीर मामा का चेहरा और अधिक सफेद, गुड़े-मुड़े कागज की तरह हो गया । कैसे अपरिचित-से स्वर में उन्हें कहने हुए सुना, “क्या ? तुम लोग तो देखभाल कर ही रही हो ।”

“हम लोग ?” तुम्हारे चेहरे पर ऐसी मुस्कराहट खिल गयी, जिसे ठीक मुस्कं राहट भी नहीं कह सकते । “हम लोग ? मैं तो अपने ही दुख, शोक में, अपनी ही मोह-माया के जाल में फंसी पड़ी हूँ । बल्कि, तुम्हीं हम लोग के लिए क्या, क्या मुधीर दा ! तुम्हें तो हम कुछ भी नहीं दे पाये । तुम ही केवल देते गये । तुम्हें तो रस्ती भर कुछ नहीं मिला ।”

उस समय मुधीर मामा के चेहरे पर दिव्य-भी जा आभा खन गयी, उसे आज भी साफ देख पा रहा हूँ । “पता नहीं, क्या जानूँ ! नहीं मिला ऐसा मैं जोर देकर नहीं कह सकता हूँ । भुरिखल तो यही है । पाने का चेहरा शायद हमेशा एक जैसा रहा होता है । न-पाना भी जब जान्त में शुमार हो जाय, तो उसका भी अपना एक नशा हा जाता है । तब वह भी एक तरह का पाना ही हो जाता है ।”

क्या ठीक यही वाक्य बोले थे मुधीर मामा ? पत्तो के बीच से गुजरती हुई हवा का सरसराती हुई आवाज में ? और मैंने हूबहू उसे याद रखा ? क्या पता माँ ! झूठ नहीं बालूंगा । शायद बात कुछ और ढग से बही गयी हो, पर उसका आशय कुछ इसी प्रकार का ही रहा । मन अपनी इस उम्र की आशा-हताशा के समीकरण के दर्शन से उनकी भूली हुई याता को इसी तरह बैठा लिया है, घट लिया है ।

\*

\*

\*

बीच-बीच में बाबा का पत्र आता । कभी-कभार रुपया । पर वे नहीं आय । कम से कम बहुत जिनो तन ता नहीं ही । दादा की मृत्यु के बेम से कम डेढ़ साल में उन्हें देखा है, ऐसा याद नहीं पड़ रहा है । याने एक जाड़े में दादा चल गये, बीच में

एक जाड़ा और आया। बाबा जिस दिन अचानक आये, उम समय चौधरियों के बड़े बगीचे में चिड़िया का चहचहाना अचानक थम चुका था। सुना था वे लोग जाड़े में आती हैं और गरमी का मौसम आते ही अपने-अपने देश को लौट जाती हैं। आम के बौर पर छोटी-छोटी गोलियाँ आ गयी हैं। बाबा जिस दिन आये थे, वह दिन मेरे मन पर जिस तरह अंकित है, यह मैं तुम्हें बाद में समझा कर बताऊँगा, अभी यही तक।

परिवार नामक सस्या में पिता नामक व्यक्ति एक अनिवार्य अंग होता है, यह मेरे प्रत्यक्ष अभिज्ञता में बहुत दिनों तक नहीं आ पाया था। बहुत कुछ मैं मातृत्व में पला था। मेरे सामने पिता की छवि शिशुकाल से ही बहुत धूमिल थी। वस परोक्ष में उनका अस्तित्व मात्र ही था।

हम लोग हम मकान में क्यों रहते थे? उसके बारे में सुना था कि वह मकान हम लोगों के एक मामा का था। मामा नहीं थे, इसलिए एकमात्र बारिश की हैसियत से वह मकान तुम्हें मिला था। पैतृक मकान जिसे कहते हैं, वैसा कुछ नहीं था। इन सब बातों का बोध मुझे काफी बड़ी उम्र तक नहीं हो पाया था। बलास के और सब लड़के अपने पिता से डरा करते थे, पर फिर भी अपने पिता के बारे में बार-बार बताते रहते। उनके साथ घूमने जाते। पर मेरे पास बात थी, तो केवल तुम्हारी सिर्फ तुम्हारी। पर इसके कारण किसी प्रकार का प्रश्न, किसी प्रकार की दीनता अथवा अभावबाध नहीं भी कष्ट नहीं दिया। किसी के पिता नियम हाते हैं, ता किसी की माँ। मैंने यही मान लिया था। मैं, दादा और तुम तीनों मिलकर भजे में ही रहते थे।

दादा चले गये, तो तीन की जगह रह गये दो। पूरी सुबह में रहता तुम्हारा स्तोत्र-पाठ और पूरे दिनमान में रहता तुम्हारा प्रगाढ़ आवरण। पहली बार जब जाड़े का मौसम लौट आया, पता नहीं क्यों, उम बार बिना मौसम के बादलों से टिप टिप बारिश भी होती रही। एवदम सुई चुभाने वाली ठंड। बाहर निकल नहीं पा रहा हूँ। एक पतली-मी चादर लपेटे पड़ा हुआ था। अपनी पाठ्य-पुस्तक से बगला की एक कविता 'डेके दाओ, डेके दाओ दादा के आमार, एका आमी पारी ना खेलीत,' पढ़ रहा था। बाद में पता चला था कि वह एक विदेशी कविता का अनुवाद था। पढ़ते पढ़ते मैं धरधर काँपे जा रहा था—ठंड से। या फिर अदर ही अदर कविता के शब्द कोहर की तरह एकाकार होकर हूँ हूँ करके मुझे कँपा दे रहे थे। कब तुम मेरे पीछे आकर खड़ी हो गई थी, पता नहीं चला। कनखी से देखा तुम चली जा रही हो।

पर थोड़ी देर में ही लौट आमी तुम। हाथ में एक कोट लिए। मेरे ऊपर फेंक दिया। मुह से कुछ बोली नहीं, पर समझ गया था मैं। पहनने के लिए कह रही हो।

पहन भी लिया। हम लागा के बीच एक मूक चलचित्र का अभिनय चल रहा था। कोट पहनकर आराम महसूस करने लगा था। मेरे पास कोट नहीं था। दादा को स्नून के स्पोर्ट्स क्लब से एक ही मिला था। देखते-देखते जाड़ा बीत गया। तुम्हारे चेहरे पर भी हल्की-हल्की उत्फुल्ल रेखाएँ थी, जिन्हें मैं भी देख पा रहा था।

तुमने इतने दिना तक इस रोट का नहीं निभाला था। उठा कर रख दिया था, पर आज दे सकी हो। अमल में लाना की ममी चीजों का तुमने उठा कर, रंग से सन्दूक में रख दिया था। उस सन्दूक से नेप्यनिन की महक आती रहती। काप के ऊपर कुछ मरे हुए कीड़े चिपके पड़े थे। मैं उठा चुन कर निभाल रहा था और जमीन महक मेरे शरीर में फैलती जा रही थी।

साहस छुटा कर एक दिन दास के पढ़ने की किताबें भी निभाल लियी। इस बार मैं स्वयं ही, उसे पुरस्कार में मिला एक पुस्तक जैसे रात्रि में हठ के पने पल का पढ़ रहा था। वही ग्रीनहुड डाकू की कहानी। तुम तो देखकर अवाक रह गया।

“उसकी किताब तू पढ़ लेता है?” बोला, “थोड़ा-थोड़ा पढ़ लेता हूँ।” तुमने कहा, “पढ़ो तो देखू।” मैं धीरे-धीरे पढ़ा लगा। तुम मगन होकर सुनने लगी। तुम्हारी आँखें कितनी बड़ी-बड़ी हैं मा। और कितने छोटे-छोटे से थे तुम्हारे दोषबान। घाड़ी देर बाद तुमने कहा “उसकी तरह नहीं होना है।” तुम चली गयी। किताब बंद करके सड़ हवा का झोका खाये हुए कुछ कौवा का ककश रोता सुन रहा। आगन में लगाये गये प्याज की कलियाँ पर बूद बूद पानी जमा था, पीछे। तालाब में शालुक फूल मरे-मरे से मुरझाये हुए थे।

यह कलम इसलिए पनडा है कि स्वीकारोक्ति करूँगा। पर क्या मैं प्रणामपूर्वक प्रणाम-सा थोड़ा ठूठपन पेश करूँ लगा हूँ? पता नहीं। थोड़ी देर पहले ही तो निज है कितने नजदीक आ गए थे हम लोग। उस बीच यह क्या। उस सरल बचपन में मैं शाखा-प्रशाखा में निपटी हुई कितनी जटिलताएँ थी। छुड़ाने की कोशिश में आज भी चौंक जाना पड़ता है।

तुमने कहा था इस बार पीठा नहीं बनेगा। मुझे उगसे कोई फल पड़ने वाला नहीं था, क्योंकि पीठा मेरे लिए कभी प्रिय नहीं रहा। फिर भी उस वर्ष कैसा बडब गया था मैं। उसी घटना का जिक्र करके फारिग होना चाहता हूँ।

सुधीर मामा आकर पीढे पर जम कर बैठते हुए बोले, “बनाओ बनाओ, पीठ बनाओ,” और उनके हाथ से खजूर के गुड की हाड़ी लेकर बिना ना-नू के तुम चह जलाने लगी। क्या इसे भी मान लेता हूँ, क्योंकि तुम्हारे बैठने का ढंग ही एक तरह का प्रतिवाद था। पर केवल चन्द्रपूला ही क्या, पाटीसाप्ता क्यों नहीं। खान समय भी मैं मन के उस आहूत-चीत्कार को तुमने सुना था या नहीं, मानूँगा नहीं। पर मुझे तुमने भरपेट केवल चन्द्रपूला ही खिलायी। मैं जो लोभी की तरह चाट-चूट कर खाये जा रहा था। चुक-चुक की ध्वनि के साथ। मुह से कह रहा था, “बहुत बढ़िया,” पर जो भी समझ नहीं पाया, न तुम न सुधीर मामा जि, उस तरह मेरा बैठकर खाना ही एक हाहाकार था। चन्द्रपूला दादा को प्रिय था। इसलिए तुम सिर झुकाकर मुझे देख रहे थीं। सुधीर मामा को बहुत धीमे स्वर में बोल रही, “बहु भी ठीक इसी तरह खाता था।” एक भी पाटीसाप्ता नहीं मिला।

उसकी तरह ! उसकी तरह ! ये वाक्य मुझे अनेक म पढ़ने की मज पर उदास कर जाते । विच्छिन्न की तरह टा मारते । सच ! मैं क्या बिना समझे-बूझे ही एक मरे हुए आत्मी से जलन महसूस कर रहा हूँ ।

स्कूल खुल गया है । वही घोट पहन कर जा रहा हूँ । तुमने पाठशुद्ध कर साफ कर दिया है । कीड़े अब एक भा नहीं हैं, केवल नैप्पलीन की विमिश्रित-सी निर्जीव गंध लगी हुई है । दरवाजे तक तुम छोड़ने आईं । “बिल्कुल उसकी तरह लग रहे हो,” कहकर ठुड़ी पर हल्का स्निग्ध स्पर्श । कितना स्नेह ! उस समय तक केवल तस्वीर में देखे हुए क्षण की तरह । पर मेरी ठुड़ी जली जा रही थी । उससे मैं बुद्धि में कम था, रंग भी काला यही जरावर सुनता आया हूँ उस दिन अचानक यह सुनकर कि मैं उसकी तरह दीख रहा हूँ, मेरी छाती तन कर दस हाथ वहाँ हुई ? उसकी तरह, उसकी तरह होकर क्या मैं उसके प्राप्य स्नेह को ग्रहण करूँगा । मैं तो अपनी तरह ही हूँ । जो जैसा है, वह वैसा ही रहगा । केवल थियेटर में दूसरा कोई बनने में अच्छा लगता है । वह भी अगर राबदार पार्ट मिले तो । पर जीवन में ? नहीं कभी नहीं ।

मरे हुए व्यक्ति से ईर्ष्या कर रहा हूँ । सिर्फ यही नहीं । उस कोट का पहन कर मैं भी स्वयं का एक मृत व्यक्ति समझने लगता हूँ । कोट का नीचे उसके शरीर को ढोये जा रहा है । पर उसने भी नीचे विस्मित आहत-सा नाई और भी रहता है । वह उसे स्वीकार नहीं करता था । एक विचलित सत्ता हो जाना उस बिल्कुल बरदाश्त नहीं था ।

कोट को एक दिन जमीन में फेंक उसे मथ रहा था । कब की बात है ? शायद सरस्वती पूजा की सुबह । दरअसल में, अवचेतन स्वाय कितना सयाना हाता है देखो ! दुर्जय जाड़े के मौसम को पार करने के बाद ही उस कोट को पारिज करना चाहा । कोट की दुर्दशा देखकर तुम मिहर उठी थी । तुम्हारी आखों में जा कुछ उभर आया था, उसका नाम केवल क्रोध नहीं था, आतंक भी था । तुम्हारी आखों में अगार था । माँ ! तुमने मरे बदन पर हाथ नहीं उठाया, पर अपनी दृष्टि से मेरा बदन झुलसाती रही । उसी क्षण गाना स्नेह की खीर कट-कट कर घृणा में बदल गयी । झुककर कोट उठाकर, धूल झाड़ा तुमने । धूल तो नहीं झाड़ा, माना हाथ पेरकर कोट को दुलराया । या फिर किसी और को ? अप्रत्यक्ष-सा वह जकस्मात् ही बहा उपस्थित हुआ । मेरी तरह वह भी देखता रहा । झाड़-पाछ कर तुम काट को फिर से टीन के बक्से में तह लगा कर रख दे रही हो ।

कोट फिर से अँधेरे में गुम हो गया । पड़ा रहा नैप्पलीन की विकट गंध से रमरमाते हुए अवश जगत् में । कितने दिनों तक कौन जान ! या फिर वे मरे हुए कीड़े फिर से जीवित होकर कोट का क्या धीरे-धीरे कुतर कर खा गए थे ?

मालूम नहीं । उस कोट को मैंने फिर नहीं पहना । दूसरे जाड़े में सुधार मामा ने मुझे एक और कोट ले दिया था । हालाँकि वह छीट का था ।



बहु शोक अभी शांत सयत रहता तो अभी सीमातीत हो जाता। दिन के बाद दिन ऐसे ही देखता रहा हूँ। जाड़े का दिन फिर भी जल्दी ढल जाता, पर गरमी का लम्बी दोपहरी बीतने का नाम ही न लेती। खूब धूल उड़ात हुए होली के ग्नि आये, चले गये। कितना रंग मलना, कितने ढोलक, सडक पर उत्कट चीत्कार और हुडका बाजी। पर हमलोगों का मकान उदास विघ्नवा का चेहरा ही ओढ़े रहा। थोड़ा-सा अश्वीर लाकर तुम्हें प्रणाम कर, उतनी हिम्मत भी जुटा नहीं सका। अतः म दोपहर के बाद जब सब लीट जा रहे थे, मुझसे रहा नहीं गया, बोला, “मा। थोड़ा सा रंग मैं खरीद लूँ?” तुम माना डर गयी। “खेलोगे?” “नहीं, सिर्फ तुम्हारे पाव म दूंगा” मैं केवल तुम्ह देखे जा रहा हूँ। तुम भी कुछ बोल नहीं रही हो। काफी देर बाद धीरे धीरे बोली, “जाओ।” स्वयं हाथ में देते हुए कहा, “उसी के साथ बाजार से धी, रंग के कुछ गुच्छे-घागे डी० एम० सी० का खरीद लाना।”

तुम्हारे हाथ की कड़ी हुई बहुत सूबसूरत-सी बहु लिखावट, हम लोगों के कमरे की दीवार पर बहुत दिनों तक टँगी रही। एकदम सफेद कड़कदार सागवत्पाथ घर पर ही था। मैंने रेशमी घागा ला दिया था। तुम शामद उसी दिन सुई धागा लेकर बैठ गयी थी। तुम्हारी उम्र उस समय कितनी होगी—हिस्साब लगा कर दब चुका हूँ, तीस या बत्तीस होगी। चश्मे की जरूरत नहीं पड़ती थी।

चारों ओर फूल-पत्तिया का नक्शा बना, कोने पर चिड़िया। शाम को सुधीर मामा आये।

“क्या कर रही हो?”

तुम शायद थोड़ा-सा अप्रतिम-सी हो गयी। बढाई किए हुए कपड़े को सामन फैलाते हुए पूछा, “कैसा बना है, बताओ न।”

छड़ी के ऊपर वज्रन देकर बाड़ा झुकते हुए सुधीर मामा बोल, “बहुत बनिया। पर क्या? किसके लिए बनाया है, यह तो बताया नहीं?”

“ममय नहीं कटना चाहता है, सुधीर दा। इसलिए सोचा, उसके लिए, उसको माफ करत हुए कुछ बनाऊँ।”

(नंदा का एक नाम भी था, पर उसके चले जाने के बाद उसका नाम तुम आसानी से जुवान पर लानी नहीं थी। शायद तुम्हारी जुवान जलने लगती हो!)

सान्त्वना के स्वर में, माना सान्त्वना न होकर कोई मल्हम हो, जोर बातें मानो उँगलियाँ । ठीक उसी तरह प्रलेप लगाते हुए सुधीर मामा बोले, “भूल नहीं पा रही हो ?”

तुम सिर हिला रही थी । याने बता दिया तुमने, बिल्कुल नहीं । “भूलना संभव नहीं है । भूल जाया जाए अगर ।”

उसी समय पता नहीं तुम्हारे मन में क्या आया । गले में आचल लपट कर सुधीर मामा को प्रणाम किया । मैं बाजार से जो अंबीर लाया था, उसका ही अधिकांश उन्होंने ढाल दिया ।

बाद में नवशे के कपड़े के बीच की खाली जगह को दिखाते हुए कहा था, यहाँ पर उसकी स्मृति में क्या कुछ लिखा नहीं जा सकता है ? तुमने तो काफी कुछ पढ़ा है सुधीर दा । कुछ पत्तियाँ बता दो न । किसी बखिता की कुछ उपयुक्त पत्तियाँ ?”

सुधीर मामा, दूसरे दिन एक पुस्तक ले आए । उसके ही एक पृष्ठ से—

यहाँ से दूर, बहुत दूर,  
स्वर्ग में, अमरपुर में,  
हृदय के घन मेरे चले गए ।  
नहीं, नहीं, नहीं वह गया नहीं,  
उन्होंने पकड़ लिया है ॥  
वह सब मरम पर रोक  
मेरे ही प्राणी का शोक,  
वह आग, यह हृदय जल रहा—जलेगा,  
जरूरत क्या दिखाकर किसी को  
किसके सीने में बजेगा ॥

याद है उस पुस्तक का नाम ‘वाय्यकुसुमाञ्जलि’ था । पति विरहातुरा नारी की व्यथा को पुत्रशोकातुरा माता की अभिव्यक्ति बनाने के लिए थोड़ी हेर-फेर करनी पड़ी थी ।

उसके बाद दादा की एक तस्वीर भी बँधवायी गयी न ? रोज ताजे फूल की माला उस पर पहनायी जाती । फूल में ले आता, माला तुम्हें बनाती । सुधीर मामा आते, देखते । सिर हिलाते, मानो तुम्हारी वेदना उन्हें स्पष्ट कर रही हो । बोलते, “थोड़ा, भी भूल नहीं पा रही हो ?”

तुम चौंककर बोलती, “नहीं, नहीं ।” उस समय ईर्ष्या से नहीं, संवेदना से मैं भी आती हो उठता, पर आज थोड़ा खटका लग रहा है, मा । ‘नहीं-नहीं’, वहवर किस बात को अस्वीकार करना चाहती थी ? भूल न पाने को अथवा थोड़ा-थोड़ा करके भूलने लगी हो, उसको ? शोक का गाढ़ा छूट गया था या हल्का पड़न लगा



इसीलिए क्या स्मृतियाँ का भयन करती थीं ? फ्रेम में बाँधकर ऊँची दीवार पर टाँग देने, और मन्त्रजाप की मात्रा बढ़ाने की जरूरत पड़ गयी थी ?

उस समय समझ नहीं पाया था, इसलिए पूछा नहीं था। आज मेरी वह धारणा कीड़े की तरह रेंग रही है, पर जानने का कोई उपाय नहीं है, उपाय तुमने रखा नहीं है।

बाबा को शायद उसके थोड़े दिन बाद ही घर पर देखा।

वह भी अचानक ही। जाड़े में जिस तरह त्वचा पटती है, और प्रधर ग्राम में माठ, हम लोगो के परिवार में भी ठीक उसी तरह, उसी समय से ही दरार पाने लगी। कम से कम तुम चाहे जिस तरह इसे देखो पर मुझे तो ऐसा ही लगा था। अच्छा हो, बुरा हो, इतने दिनों तक एक ही ढर्रे पर चल रहा था। उस ढंग को ही मैं अभ्यास मानता था। उस ढंग को ही मैं नियम मानता था। पर बाबा के आठ ही न जाने क्या बदल गया। कुछ अलग तरह का। मैं सब कुछ स्वीकार नहीं कर पा रहा था।

(भा, तुम क्या बुरा मानोगी ? अगर परोक्ष में यहाँ बाबा के लिए कुछ लिखें ? इस तरह लिखने का मन हो रहा है कि, बाबा ! तुम्हारे निकट मेरे किए गये अपराधों का अंत नहीं है, उनमें पहला अपराध तो तुम्हें स्वीकार न कर पाने का है। यह अक्षमता आयी थी अदर्शन से, अनभ्यास से। मेरे शैशव में, बचपन का भा दीधकाल तक, मेरे जीवन में तुम्हारा एक तरह से कोई अस्तित्व ही नहीं था। तुम कभी-कभार आये हो। कभी-कभार पत्र आया है। वह भी हाथ से लिखा लिफाफा ही देख पाया हूँ सिर्फ। माँ को लिखे गये उन पत्रों को माँ छिपा कर रख देती। पढ़ने कभी नहीं दिया। देना शायद सम्भव भी नहीं था। घर पर तुम्हारे नाम का उल्लेख बहुत सरसरी तौर पर किया जाता था, तुम्हारे बारे में सुन-सुनकर जो तस्वीर मन में बनी थी, वह तस्वीर निर्विकार किसी बाहरी आदमी की थी। एक ऐसा बाहरी आदमी, जो परिवार के दायित्व को नहीं सम्हालता था। पुत्र-परिजनों के प्रति जिसका स्नेह यथोचित न हो। हमेशा ही जो राजबंदी बने, या फिर यायावर। बीच-बीच में जो लगातार कई साल तक कहीं डूब जाता हो। विजली की तरह जो अचानक ही चमक उठता था। अपने परिवार में, अपने ही लिए कोई विशेष स्थान उसके लिए सुरक्षित नहीं था। कम से कम मैंने तो नहीं देखा था। कभी रहा होगा, पर उस समय मैं पैदा नहीं हुआ था।

सधवा होकर भी जो शून्य-शुभ्र विधवा का जीवन बिता रही थी, जिसका माया शीतल स्निग्ध आवाज की तरह था, वह तुम थी। तुम्हारी व्यावहारिक शुचिता थी। बाबा ! तुम्हारे लिए अगर सब कुछ उसने सुरक्षित रख लिया भी हो, उसके बावजूद उसके अन्तरतम की बात मैं नहीं कह सकता हूँ कि वहाँ क्या था और क्या नहीं। तालाब को अगर निरंतर साफ न किया जाये तो धीरे-धीरे वह भर जाता है, कीचड़ से। और भरता तो कभी साफ किया ही नहीं गया। बंद ही रहा हमेशा।

निरामिष भोजी जिस तरह थाल में मछली देखकर घृणा से आक्रान्त हो उठता हो। इससे भी बढ़िया एक तुलना दूँ। कण के मन से अपनी वास्तविक मा के लिए हाहाकार जिस तरह लुप्त हो गया था, मेरा भी वैसा ही हुआ। बाबा, क्षमा करना। तुम्हारी आवृत्ति-प्रवृत्ति कुछ भी तब मुझे ग्रहणीय नहीं लगी थी। तुम माना किसी उत्पात की तरह एक अवाञ्छित अनावश्यकता थे, क्योंकि एक प्रतिरोध, एक तरह की विरोधिता पहले से पनपी हुई थी)।

उस दिन साधी रात को काफी आँधी तूफान आया था। भीगी हुई सुबह आँख ही नहीं खोलना चाह रही थी, और आधी-तूफान में हम लोगों के भगवान के दिन का छप्पर हिल रहा था, इसलिए हम लोग की आँखा में भी नींद नहीं थी। बिस्तर पर बैठा ही रहा, ममहरी के अंदर। उसी दिन हमें पता चला कि जिह्वा की एक कपाट टूटा हुआ है। उसका ठव-ठक बजना, हमारी हड्डियाँ में प्रतिध्वनित होकर घुस रहा था, वायवीय भय बनकर। और जिजली। बिजली तो नहीं चमक रही थी, ऐसा लग रहा था, जैसे कोई डाकू आवाज को टुकड़े-टुकड़े करके काट रहा हो, आग का रंग, सलाई लिए हुए पीला होता है न। मैंने बिजली की कौंध में खून का फव्वारा देखा था, काली रात के बदन से टपकता हुआ खून।

रात के अंतिम प्रहर में वही हवा, मृदु हो आयी थी। पहलवानी करतब की हुहदगबाजी के बाद माना उसका करुण चेहरा हो। ठण्डी हवा के स्नेह-शीतल स्पर्श से हम लोग सो गये थे। तुम्हारी नींद जब टूटी, उस समय सुबह का चेहरा किसी आर्त पक्षी की तरह हो रहा था। बाद में देखा था, किसी का घासला टूटकर पेड़ पर झूल रहा है। पेड़ के नीचे फैले हुए, टूटकर बिखरे हुए कच्चे अंडे कई आत पक्षियों के शोर से सुबह मुखर हो उठी थी। कच्चे अण्डे की जर्दी के रंग जैसी ही धूप थी। धूप भी टूटे हुए अण्डे की तरह गुँथी-मुथी-सी हावर बिस्तर पर बिखरते ही तुम घड़फड़ा कर उठ बैठी थी। रोज तुम पहले उठकर, सुबह के सूरज को नींद से जगाती हो। उस दिन सूरज ने तुम्हें जगाया।

माँ। तुम आगन में बिछरे पेड़ पत्तों को एक ओर समेट कर रख रही थी। सूखे डाल-पत्तों से चूल्हा जलाया जायेगा। उसके बाद ही सुधीर मामा आयें। उनकी लाठी की ठकठक से ही यह पहचान लिए जाते थे। सिर उठाकर मैंने एक बार उनकी ओर देखा। भफटार आज उनके सिर से लिपटा हुआ था। उस समय तक नीम का गिलास नहीं मिला था। इसलिए कल के तूफान और आज की सुबह के बारे में तुमसे मृदुस्वर में बातें कर रहे थे। बहुत जरूरी बातें नहीं थी, बस यूँही चुप्पा तोड़ने के लिए।

उस समय एक बार और लगातार दरवाजे पर दस्तक पड़ी थी। किसी काम से तुम रसोई में गयी थी, इसलिए शायद सुधीर मामा को ही उठना पड़ा था। मैं भी तब तब बिस्तर पर उठ बैठा था। दरवाजा खोला गया, और तुरंत सुधीर मामा के स्वर में, “अरे आप। आइये। आइये-!” जिसे सम्बोधित करके कहा गया, व प्रत्युत्तर

मे खडखडाती हुई आवाज मे क्या बोले, समझ मे नहीं आया। शायद कुछ भी नहीं बोले होंगे, सिर्फ एक बार कनखी से देखा होगा और उसके बाद बगल से निकलत हुए सीधे सोने वाले कमर मे आ गये, जहाँ मैं उस समय बिस्तर पर ही था।

मैंने आख फाड़कर उहे देखा था। यहाँ तक कि सुधीर मामा के बगल से निकलकर जब वे आगे बढ़ते आ रहे थे, उसी समय ही उनका चेहरा मन मे घस गया था। बदन मे छोटे, शायद सुधीर मामा के कंधे से ज्यादा ऊँचे नहीं थे। पर मजबूत बदन काठी। पाय पर वजन डालकर चलने की भगिमा। एक ओर लाठा पर बल डालकर झुके खड़े, कुशा, दुबल, बेतरसीब से लम्बे सुधीर मामा का चेहरा इतना कुठित हो उठा था कि देखने मे कुरूप लग रहा था।

चौपट पार करके, वे अन्दर जाकर खड हो गए। बिस्तर के सामने, फली हुई परछाई से मुझे ढँक कर, बहुत उत्सुक, तीव्र, स्थिर दृष्टि से मुझे देख रहे थे। मैंने देखा, एक भारी-सा कुर्ता नहीं फलुआ, चौडा कघा, रायेदार बलिष्ठ दो हाथ, मानों दो पजे हो और घनी भीहो के बीच काफी बडा-सा मस्सा।

ज्यादा देर तक देख नहीं सका। आखें झुका ली थी। उन्होंने अचानक पीछे मुड़कर देखा था। गमगमाती-सी आवाज मे बोले पड़े थे, “क्या? इधर आओ। क्या बातें अभी भी खत्म नहीं हुए? उसे पता नहीं है कि मैं उसका बाबा हूँ? गुरुजना को प्रणाम करना नहीं सिखाया?”

दरवाजे की आड मे एक परछाई पड़ी थी— तुम्हारी। उस परछाई को पहने कमरे मे भेजकर पीछे-पीछे तुम। दबी आवाज मे बोली, “उसके बाबा हा, किन तरह यह जानना। बिंसी के बदन पर तो लिखा हुआ नहीं रहता है न।”

वह गम्भीर आवाज अचानक हँसने लगी थी। मजा पाकर या विद्रूप ॥ कहा नहीं जा सकता। हो-हो ध्वनि के बाद गुंता गया, “ठीक कहती हा। बदन पर लिखा हुआ नहीं रहता है। परिचय रहता है रक्त मे, रग-रग मे, शिराओ मे।”

तब तक मैंने उह प्रणाम कर लिया था। उहाने मुझे दोतो बाहा मे लपेटे उठा लिया था। अपने सीने से लगा लिया था। मेरा सिर उनके फलुए के बीच मे, जहाँ बटन थे, ठीक वही गूँ रहा था। मोटा—न जान कितने दिना से बिना घुला, धूल मे अटे हुए फलुए की गंध से उबकाई आने लगी। फिर भा एक सिहरन, एक रोमांच, एक भय, दुर्बोध्य उस अनुभूति और आवेश को भा। इतने दिना बाद किस तरह व्यक्त करूँ।

एक बार महमूस हुआ था कि छोड द ता छुटकारा मिले। पर साहस नहीं हो रहा था। और फिर उन्हने जकड रचा ही था कितनी देर। शायद कुछ सेरेड भर ही। उसने बाद मिर उठाकर, कनखी से देखते ही तुरन्त देख पाया था, मां।

छोटा-सा धँपन निकान कर तुम बगल मे खड़ी थी। सिर पर घूँघट डाले

तुम्हें पहली बार देखा। साथ के साथ तुमने भी थोड़ा अस्त-मस्त भ्रम में डूब-डूब कर देखकर, झुककर प्रणाम किया।

वे बोले, “रहने दो, रहने दो।” तुम जब उठकर चेहरा आनंद-अश्रु से भीगा-भीगा-सा हो रहा था। आज भोर में चंचल धूल हुए पत्ता की तरह, पुरानी बात की कडी खींचते हुए तुमने कहा था, ‘कैसे पहचानंगा? वही कब, जब एकदम न-हा-सा था तब देखा था न? बल्कि जो पहचान सकता था, वह तो ।”

माँ, शायद अब तक इस बात को कहने के लिए ही, तुम्हारा चेहरा तमतमाया हुआ था। “जो पहचान सकता था, वह तो ” बात पूरी होते न होते, तुम्हारे चेहरे पर जितनी भर धूप थी मिट कर आपाठ की वर्षा उतर आई। दरवाजे के बापत हुए पल्ले को छोड़कर तुम दोनों हाथों से मुह डँक कर बिस्तर पर असह्य-सी बैठ गई। आज भी मैं तुम्हारी उस सिसकी को सुन पा रहा हूँ।

धीरे-धीरे वे सिर हिला रहे थे। जिह अभी-अभी जान पाया हूँ कि वे मेरे पिता हैं। इस बीच ही वे असहिष्णु से हो उठे हैं। अव्यक्त किसी अपराधबोध के कारण, असहज होकर तुम्हारी बात अनसुनी कर रहे थे, या फिर सुनना नहीं चाह रहे थे।

“तुम्हें खबर नहीं मिली थी? तुम्हें पता नहीं था?” नम्र पर अकम्पित तुम्हारा स्वर, बाबा को स्थिर नहीं रहने दे रहा था। वह भारी-भरकम-सा व्यक्ति किस तरह जिरह के आगे निरुपाय होकर असलमन उत्तर दिये जा रहा था। ‘पता चला था कि नहीं? नहीं, कहाँ जान पाया? जब खबर मिली, उस समय तक मैं बहुत दूर चला गया था। छूटते ही, हरिद्वार, कनखल उसके बाद ऋषिकेश। वहाँ से कहा कहा तो। रुद्रप्रयाग चमोली, तुमने नाम भी नहीं सुना होगा। नेपाल की तराई से होकर, उजर धामा बिहार में। सोनपुर में हरिहर क्षेत्र के मेले में। नितना यन्त्र मेला लगता है, तुम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। वह सब कहानी फिर कभी सुनाऊँगा। हाथी, घोड़ा, साखा मनुष्य के पाँव के निशान। उसने बाद घोड़ा और पश्चिम की ओर जाकर, सरयू नदी में स्नान, पूर्ण अमावस्या, माघ की ठंड, ठंडा जल। पता है, इस बार जल से निकलते ही बँसा ता विरागी-सा महसूस करन लगा था। ऐसा लगा, देश का काम करने से पहले, देश को जानना बहुत जरूरी है। मैंने देखा, मह देश अपने तीर्थों में फँसा हुआ है, करोड़ों मनुष्यों की सहज जीवन-धाराएँ सरल विश्वासी चेहरे की रेखाओं में बिखरी पड़ी हैं। जैसे पहचानने की कोशिश की।”

“सिर्फ अपने परिवार को जान-पहचान नहीं पाये।” तुमने मृदु स्वर में कहा, “कोन देखभाल कर रहा है, गृहस्थी कैसे चल रही है ”

- इस बार बाबा नाराज हो गये। गुस्से की दबाव में हुए, गुरात हुए, कुत्ते का जिस

तरह शांत किया जाता है, मजाक में हँस पड़े, “तुम स्त्रिया, सिर्फ घर के कोने को ही पहचानती हो। देखभाल करने की बात कर रही हो।” होंठों पर मुस्कराहट का तिरछी रेखा दिखलाई पड़ी। बाहर आगन की ओर देखत हुए बोले, ‘देखभाल करनेवाले की कमी, तुम्हें थी क्या? ऐसा नगता तो नहीं है।’

उसी समय बाहर आँगन से खाँसने की आवाज आयी। रोज का नियमित नीम का गिलास उस दिन भी दिया गया था, पर लगता है कड़वा रस अचानक गले में फँस गया था।

हम सब बाहर आकर खड़े हो गए। सुधीर मामा तब तक लाठी धामे उठ पड़े थे। बाबा की ओर देखकर कैसे तो बुढ़ू की तरह हँस दिए। तुम्हारी ओर देखकर भी हँसे। बाद में नजर हटाकर बोले, मैं जाऊँ जानूँ। दिन चढ़ आया है। देखूँ, प्रणव बाबू के लिए अगर मछली-बछली मिले तो ”

अपसृत दीध देह को देख पा रहा हूँ। सिर सामने की ओर झुका हुआ। सुधार मामा चले जा रहे हैं।

बाबा ने, आगन में उतर कर, एक-एक कुम्हत्ता गये, गेदे के फूल के पड़ को उखाड़ फका। “उखाड़ दिया?” तुमने मानो डर कर कहा।

“हूँ, फेंक दिया।” बाबा बड़ी सहजता से बोल गए। हाथ से धूल झाड़ते हुए “उखाड़ दिया, सूख गया था। जगल बन गया था। उसमें अब फूल नहीं खिलते।”

“पर आनेवाले मौसम में बीज तो उसमें से ही ”

“फिर होगा।” बाबा ने एकदम निर्विकार स्वर में कहा। उखाड़े गये पेड़ को पाव से सड़ से बेड़े के पास फेंक दिया।

बाबा से उस समय मैंने घृणा की।

\*

\*

\*

आज स्वीकार करता हूँ, बाबा के अनेकों वर्षों के ऊपर जितनी भी पत पड़ जाएँ, उनके प्रति मेरी अनुभूति के नीचे विराग अथवा घृणा ही मूल उपादान रहा। उनके प्रति मैं माय नहीं कर पाया था। पर नियति का देखो स्तिता झूर बिघान है। बाबा की आठुति, सदन-समय चौड़ा कंधा, जुड़ी हुई घनी भीँहा के ऊपर मत्सा। गले के ठाँव ऊपर घुबना की दा-तीन पतें, जावाज बिली कड़वो जेमी— उस दिन मुझे कुछ भी पसन्द नहीं आया था, क्योंकि मैं उस समय हल्का फुल्का, पीला-सा, दुबला-पतला, स्वयं का कवि सा समझता, यह सब भरी आदत में शुमार हो गया था। पर थाग शीत का साभी छडा करण पर उमने मूह से डूबडू बाबा के उस समय की आठुति का वणन मुन पाता हूँ। कभी त्वचा, भारी आवाज दोहरी ठुहड़ी, माटी गदन दण्ड पर चोर जाना हूँ। प्रष्टि न प्रतिशोध लिया है, उत्तराधिकार सूत्र-असल समत जा मरा प्राप्य था, वन भर सवान्न पर बाण लिया गया है। उस आठुति का साथ मैं

वय से नियमित रह रहा हूँ ! बहन कर रहा हूँ, शरीर को जो शरीर मेरे अस्तित्व का भी प्रत्यक्ष रूप है, जा आज मेरा स्वीकृत स्वत्वाधिकार है। बाबा के प्रति घृणा-विराग का महसूस पार्श्व-पार्श्व बसल हा गया है।

उस दिन माँ, मैंने घृणा की थी। तुमस भी की थी, थोड़ी देर बाद। तुम अचानक क्या सुंदर हो उठी थी ? तालाब में नहा आयी। रोज ही जाती हो, उसके लिए कोई बात नहीं, पर उस दिन बाहर वैसे से एक साडी निकाला, जो पता नहीं कब से उठाकर रखी हुई थी। पीली साडी, किनारी लाल। रंगीन साडी पहनत हुए तुम्हें कभी नहीं देखा था। कितनी सुंदर लग रही थी तुम ? कितना बुरा लग रहा था मुझे ? अच्छा लगना और बुरा लगना, किसी बटारी की तरह मुझे ठुकठा-ठुकठा काटती रही। फव्वारे-से छूटते फूल से अंतरमन धुल जाने लगा। उमका रंग भी लाल था, पर जमीन सफेद-सफेद। सफेद और लाल में घिरा हुआ तुम्हारा चेहरा अपरूप लगता। जिस देवीमूर्ति के चरणा पर तुम फूल दे रही हो, तुम उससे भी अधिक महिमामयी लगती। लाल किनारेवाली वह साधारण-सी साडी, मेरी आँखों में प्रगाढ़ पवित्र रंग भर देता। मेरे अवचेतन में उस दिन की उस साडी ने, तुम्हारी महिमा घुसा कर उमके बदले निश्चय ही एक छटा दी, वरना मैं अपलक तुम्हारी ओर क्यों देखना रहा ! तुम्हारी भगिमा मे किसी चक्रवात का छंद भले ही न हो, रहे तुम्हारी वह दिव्य ज्योति, पर माँ ! तुम इतनी कोमल, इतनी अपरूप, इतनी सलज्ज हा सकती हो, यह पता नहीं था। तुम्हारा सलज्ज सौंदर्य मुझे प्रयत्न माह से घीच रहा था, फिर भी उसमें ही निहित, मानो कोई लज्जाहीनता मुझमें कड़वाहट भर रहा थी।

खाना खाते समय बाबा ने पूछ लिया कि, मैं क्या पढ़ रहा हूँ। दादा पास-पास ही बैठे थे। तुम सिर पर थोड़ा-मा आचल डालकर खाना परास रही थी। अनजन्मस्त घूघट बार-बार सरक जाता। तुम हथेली से बार-बार उसे यथास्थान पर रख रही थी। यह सब देखते देखते अच्छा लगने न लगने से अस्थिर हात हुए मुह में कौर भर रहा था। बाबा जो कुछ जानना चाह रहे थे, उस जितना हो सकता था, ठीक से बताए जा रहा था।

नहान के बाद बाबा भा थाडा और तरह के लगन लगे थे। वह रुखा-भूखा भाव चेहरे पर था बाता में नहीं था। सब मानो धुल-पुछ गया हो। थोड़ा कमनीय स, थोड़े क्लान्त भी। मुझे बीच-बीच में निरीक्षण कर रहे थे, माना व कोई परीक्षक हो। मैं चौकन्ना, सचेतन-सा उनके प्रश्नों का उत्तर दिये जा रहा था।

खाने के बाद मुझे कविता सुनानी पड़ी, 'जागी की तामार मोधूर भूरोती,' शुरू करते ही बोल पड़े, "बन्धास ! 'विद्रोही' नहीं जानते हो ?" पूछने के बाद स्वयं ही दो लाइन बोल गए, 'बान्नी धीर। बलो उन्नता मम शिर। शिर नेहारी आमारी मतो, शिर आई शिखर हिमाद्रीर।' सुना नहीं है क्या ?"

लकड़ी के खिलौने की तरह सिर हटाना, "नहीं।"

"यह मधुर मूरती ऋविता तुम्ह विसने सिखाया है ? पाठ्य-पुस्तक में है क्या ?"

बोला, "जी हाँ ।"

"पर इस तरह बनते हुए पढ़ना किसने सिखाया ?"

"सुधीर मामा ने ।"

"कौन ? ओह ! वह तुम्हें पढ़ाते हैं क्या ?"

"हाँ ।"

"बोलो, जी हाँ ! रोज पढ़ाता है ?"

"रोज ही ।"

"तू जाता है ?"

"वे आते हैं ।"

"ओह !"

घोड़ी देर तक बाबा कुछ नहीं बोले । गुम-से रहे । ऐसा लगा सो गये हैं । पर अपनी गलती का पता दब पाव निकल आते समय चला ।

'बहा जा रहा है ?' "ऐसे ही । ज्यादा दूर नहीं जाऊँगा, बस स्कूल के मैदान तक । द्रतचारी के सर ने बुलाया है ।"

बोल कर बाड़ी देर तक रुका रहा । घोड़ी देर बाद ही उनकी नाक से घर घर की आवाज निकलने लगी । सुनने की आदत नहीं थी, सो कैसा ता अद्भुत बुरा सा लग रहा था । उठकर पैर एक लय के साथ उठ रहा था, गिर रहा था । प्रबल पराक्रांत व्यक्ति इस समय अवसन, दुबल-से । उस दिन वह दृश्य भी हास्यकर लगा था । आज तो पता है, मैं भी धरटि लेता हूँ । मेरी भी नाक बजती है । बहुत दिनों से ही वजती है ।

बाहर आने ही मा, तुम्हें देखा । आगन की सीन्ने पर लड़ी होकर, पाव धोकर कमरे में आ रही थी । ठिठककर मैं खड़ा हो गया । सोचा, डाटोगी । इसी स तुम्हारे कुछ पूछन के पहले ही जोर-जोर से बोलने लगा 'स्कूल जा रहा हूँ । व्यायाम के सर ने बुलाया है ।'

"आज तो छुट्टी है न ?" पर यह प्रत्याशित प्रश्न आज सुनने को नहीं मिला । हालांकि कड़ी धूप से झुलसत आकाश की ओर ताकत हुए, उत्तर की ओर नारियल के मरे हुए छान पर दो कौवा वा हाहाकार सुनत हुए प्रतीक्षा में खड़ा रहा । उसके बाद दौड़कर दरवाजे तक जाकर कुड़ी खोली । तब ज़िद चढ़ गया, साहम बढ़ा माना । दरवाजे को ही उद्देश्य कर रहा हूँ, और भी ऊँची आवाज में बोला, 'जा रहा हूँ । शाम के पहले तोटूंगा नही ।' पर, 'टो-टो करके घूमना मत । सिर दुपेगा ।' पीछे से हमेशा की तरह किसी ने नहीं कहा ।

तुम्हें मातूम नहीं, उस दिन सारी दोपहर घूमता रहा । पहले साथी रटा भय । बाद में देपता हूँ, ज्यादा ताताब के पानों के ऊपर सिर झुकाया, दादा भी जी

गया। झुककर हाथ डालकर, पानी हिलाते ही वह गायब हो गया। जल के स्थिर होते ही वह फिर आ गया। वह आया-गया। मैं पानी को हिलाऊँ, फिर ठहर जाऊँ। उसे बहुत सारी बातें बतायीं, बाबा के आने की सूचना, मेरी वितृष्णा, मेरे मान-अभिमान, सब के बारे में। वह सब कुछ समझ गया, मानो गर्दन हिलाकर अपनी सहमति दो। खासकर जब, मैंने कहा, "तू ने चला जाऊँ तो अच्छा ही किया," वह जरूर धीरे से मुस्कराया था, धरना उसी समय बोष्टम दीघी के किनारे, जिस पेड़ के नीचे मैं बैठा था, उसकी डाल से टप-टप कुछ पत्तें क्या झर पड़े? एक बगुला लगातार उड़-उड़ कर तालाब के पानी में डुबकी लगा रहा था। एक दुग्ध-धवल शब-बील, जब हा-हा करती हुई उड़ गयी, उस समय भी मैं बैठा रहा। मैं क्या यही सब देखता रहूँ, अथवा वह घगुला, जो पानी में कुछ डूब रहा है, पानी में उतर कर उसकी सहायता करूँ? पर ऐसा करना ठीक होगा कि नहीं, यही सज सोच रहा था। भय? नहीं उस समय मैं था और दादा था। भय-वय कुछ नहीं था।

प्रायः ही निबलन लगा। जब कभी मौका मिलता, निकल पड़ता। स्कूल की छुट्टी के बाद शाम को भी। डाट खाने के लिए तैयार, जवाब क्या दूंगा वह भी सोचा हुआ था क्योंकि घुसत ही देख लिया, तुलसी के चौरों के नीचे दीया जल रहा है, याने शाम हो गयी है, याने आकाश के इधर-उधर तारों का पहरा। सब कुछ से बचकर जब कमरे में घुसता, उस समय नाटक पढ़ा जा रहा होता। बाबा पढ़ रहे हैं, तुम गाल पर हाथ धरे सुन रही हो। बाबा के पढ़ने का ढंग अस्वाभाविक होता। वही नाटकीय अंदाज से पढ़ते तां वही अचानक ही स्वर मद्धिम कर देते, और फिर भारी आवाज में लहकियों वाला अंश बोलते समय जब स्वर को महीन बनाने की कोशिश करते, तो ऐसा लगता जैसे किसी भातरी पेसिरा को छील कर नुकीला बनाया जा रहा है। इतना अजीब-सा सुनने में लगता न। फिर कभी सस्वर पाठ करने लगते। इतना मजेदार लगता उनका गला कँपाना। अपने पाँव पर हाथ थपड़-थपड़ कर ताल देते रहते। कुछ भी समझ में नहीं आता, और शायद समय नहीं पाता था, इसलिए अच्छा भी नहीं लगता था।

फिर भी बैठ कर सुनते रहने से बाबा खुश हो जाते। गवार-से दीधते चेहरे पर एक तरह का आह्लाद झलक उठता। तुम कुनमुनाने लगी हो शायद। बोल रही हो, "जाऊँ, खाना बनाऊँ।" बाबा हाथ पकड़ कर खींच कर बैठा देते, 'धरे। सुनो न। थोड़ा-सा और सुन लो न। इस जगह पर बहुत मन लगाकर निखा है।"

तुम्हारा हाथ छुड़ा सकूँ, उस समय मुझमें उत्तनी ताकत नहीं थी, माँ। आग्रह और अक्षमता मुझे काटकर टुकड़े टुकड़े करता। जा अनिच्छुक है, उसे जबरदस्ती लिखा हुआ पढ़कर सुनाना? जबरदस्ती? जिस बात की जबरदस्ती, यह तो बह्याई है।

(वही बह्याई मुझे भी एक दिन बन्धा का पाग बना दगी, उस समय क्या मालूम था!)



तुम कहती, “तू पढ़ने बैठ ।”

जर्जर क्रोध से मैं कहना, “लानटेन तो एक ही है ।”

पत्ने के ऊपर से आख उठाकर बाबा बोलते, “कल से उसे एक असल द्विती जला कर दे देना । उस कोने में बैठकर पढ़ेगा, आज उसे यह नाटक ही सुनने दो ।” बाबा बिना किसी हिचकिचाहट के बोल जाते ।

फिर शुरू होता पाठ । काफी देर तक लगातार पढ़ जाने के बाद बाबा बोलते, “समझ रहे हो, क्या कहना चाह रहा हूँ ? देवयानी पर लिखा है । वह दैत्य गुण शुक्राचार्य की कन्या थी । प्रेम हुआ गया पितृ शिष्य देवपुत्र कच से । पर प्रेम नहीं मिला । तब देवयानी ने उसे अभिशाप दिया, जिसे उसने चाहा था । पर दूसरे को अभिशाप देने से क्या अपना दुःख मिट जाता है ? नहीं, मिटता है । देवयानी का विवाह रामायणी से हुआ । ऐसा लगा अब शायद सब दुःख समाप्त हो गये हों । पर वहाँ भी दूसरी पत्नी थी । इर्ष्या से पीड़ित देवयानी की इच्छा से शर्मिष्ठा निर्वासिता हुई, पर फिर भी क्या देवयानी जीत पाई ? विशेषकर उस समय जब उसे यह पता चला कि, पति उसी निर्वासन-स्थान पर जाते रहे हैं निर्वासिता पत्नी के साथ गुप्त रूप से मिलते रहे हैं । उस समय देवयानी के मन में जो चिन्ता घघक-घघक कर जलने लगी थी, उस असह्य पीड़ा की बात सोची भी नहीं जा सकती है । फिर से अभिशाप । इस बार पति को । पर जो स्वयं अभिशप्त हो, क्या उसके अभिशाप देन मात्र से कुछ दूर हो सकता है ? बार-बार जिसने प्रेम किया, पर जिसे अपने जीवन में सच्चा प्रेम किसी से नहीं मिला, उसी नारी की वेदना को मैंने इस नाटक में समझने, समझाने की कोशिश की है ।”

माँ, उस समय तुम मेरी आर कन्या से देख रही थी । मैं सुन रहा हूँ कि नहीं, समझ रहा हूँ कि नहीं । उस समय विशेष समय भी नहीं पाया था, पर निगल जम्बरू हूँ । उस उम्र में शब्द और वाक्य मन में अनायास ही गुप्त जाता था, इसलिए उससे साराश को आज उगलने में कठिनाई नहीं हुई ।

‘देवयानी की वेदना को समझना चाहा है, समझाना भी चाहा है,’ बाबा इतना कहकर जमा-ही चुप हुए, उसी समय माँ तुम्हें धीरे-धीरे उठ जाते देखा । रसोई की ओर जा रही हों, पर सुन पा रहा हूँ, जाते-जाते पदन धुमा कर निरुत्तर हो तो बदले हुए स्वर में कहती हो, “दूसरी सब स्त्रियाँ का दुःख तुम पूरे समझ हो । समझ में थोड़ी भी दर नहीं हाती है ।” ~

उस प्रीवाभगी और उस तबक में किस देव पाया था, माँ ! किस ? उसका नाम क्या है ? अगिरूप देनी है जा, वह क्या वही देवयानी है ?



दूसरे दिन शाम से ही तुम रसोई में थी। बाबा उस दिन पढ़कर कुछ सुना नहीं रहे थे, बल्कि जालटेन के सामने कापी खोलकर बैठे हुए थे—शायद नया नाटक लिख रहे हों। मेरे लिए अलग से एक नया लानटेन आया था। मैं पलंग के एक किनारे बैठकर सवाल हल कर रहा था, क्योंकि जोर से कुछ पढ़ने से बाबा को व्याधात होता। पर बाबा लिखने के साथ साथ पढ़ते भी जा रहे थे, कभी माना अपने ही गद्य से आभोदित, स्वयं ही हँस रहे थे। एक भी सवाल सही नहीं हो पा रहे थे। अन्त में पेन्सिल-कापी रखकर, मैं तुम्हारे पाम गया, माँ। तुम छूल्हे के सामने बैठकर, कढ़ाही में कुछ बना रही थी। तुम्हारी पीठ के ऊपर बाल बिखरे पड़े थे। सिर पर पन्ना नहीं था। छूब कर, कंधे पर गान रगड़ते हुए, बहुत दिनों के बाद कुछ साढ़-दुसारे से मचलते हुए बोला, 'कान के पास इतने जोर-जोर से किसी के चिल्लाते रहने से क्या सवाल किए जा सकते हैं ?'

तुम कुछ नहीं बोली, कढ़ाई और बरछुल में उतना ध्यान देो की क्या जरूरत थी, भगवान जाने। बोला, "बिन्कुल फेन हो जाऊँगा, टरमिनल परीक्षा में। इससे तो अच्छा है, मैं कहीं और पढ़ने चला जाया करूँ ?"

भूँह उठाकर तुमने पूछा, "वहाँ ?"

"मान लो," फटाक-से बोल गया "सुधीर मामा के यहाँ ? सुधीर मामा तो बहुत दिनों से नहीं आ रहे हैं।"

तुमने सिर हिलाकर स्वीकार किया, "नहीं आ रहे हैं।"

"बीमार-बीमार तो नहीं हो गये ?"

"शायद नहीं। मछली एक दो दिन छोड़ कर तो भिजवाते जा रहे हैं।"

कढ़ाई खूब छूब-छूक कर रही थी। कढ़ाई से धुआँ निकलने लगा था। तुम्हारा चेहरा डँक गया था। तुम अपने काम में बहुत व्यस्त हो गयी थी।

फिर भी मैं पूछता रहा, "जाऊँ, माँ ?"

कढ़ाई में करछुल चलाते हुए ही तुमने कहा, "वे अगर गुस्सा हुए तो ?"

"नहीं होंगे। बोलकर जाऊँगा। फिर इससे तो बाबा को भी सुविधा होगी। देखना, बाबा भी मान जायेंगे।"

तुम फिर कुछ नहीं बोसी ।

बाबा से कहने के लिए कमरे में गया, पर बहने का साहस ही नहीं हुआ, क्योंकि दोनों भीड़ों को सिकोड़े, ठीक बीच में एक उँगली रखे, पता नहीं वे क्या सोच रहे थे । मैं पाँव दबा कर पलंग पर चढ़ गया ।

\*

\*

\*

सुधीर मामा आ नहीं रहे थे । बारह भुइयों की आँखों की कहानी, ईशा खाँ की कहानी पूरी सुन ही नहीं पाया था । सोचा, शायद इसीलिए मन उदास-उदास, दिन बुझे-बुझे-से लगते । बाद में सोच कर देखा था, वह कोई कारण ही नहीं था । वह सब मेरा जयाल भर था । ईशा खाँ की कहानी का अन्त जानने के लिए मैं उठना व्याकुल नहीं हुआ जा रहा था । दरअसल बाटे की तरह जो चीज चुभ रही थी, वह भी शून्यता । एक अभावबोध की अस्वस्ति । सड़क किनारे के नीम-पेड़ के पत्तों का प्रथम फागुन के घूल जमने लगे थे । बहुत दिनों से तोड़े नहीं गए, क्योंकि जिसने लिए जरूरत पड़ती थी, वह आ नहीं रहा है । कुछ साल पहले एक सचमुच की मृत्यु को जाना है, उस समय स्वयं ही अनुभव किया कि अनुपस्थिति भी एक तरह का मृत्यु है, मृत्यु के समान है । हमारे बलास का एक सड़का, कुछ दिनों से आ नहीं रहा था । उसके साथ मेरी खास दोस्ती नहीं थी, फिर भी बेच पर उसके निर्दिष्ट जगह को खाली देखकर, कैसा तो मन खाली-खाली-सा लगता । ठीक सात साल की उम्र : जब पहली बार दान हूँते थे, उस समय जैसा लगा था । जीभ बेजार ही घूम घूम कर कुछ दूँडती फिरती । एक दिन पता चला वह बलास-फेड़ अब और नहीं आया उसने उसके पिता फलमत्ते में नोकरी करत थे । वही उनका देहान्त हो गया है । उसका माँ पहले बलकत्ता, फिर वहाँ से सबको लेकर अपन भाई के घर चली गई हैं । सब के मामा एक दिन आकर ट्रांसफर सर्टिफिकेट ले गए ।

अक्सर ही तुम्हारे जीर बाबा के बीच बहना-सुनी हाने लगी थी । सुनकर बहुत बुरा लगता । हम लोगो के परिवार में पहले यह सब नहीं था । पर कितने आश्चर्य : बात थी, अचानक अगर देखता, तुम लोग हसी मजाक कर रह हो, उस समय भी बौ जाता । गला सूखा-मूँछा सगने लगता ।

उस दिन शाम को खेल के मैदान से लौट कर घर पर आते ही ठिठक गया था । तुम्हारे चेहरे पर आचल था । आँखा से मानो खुशियाँ बहती जा रही हो । तुम्हें भी हँसना आता है । ता वह सब क्या झूठ था झूठ ! सुबह की प्रार्थना मिष्ट है, सूर्य-प्रणाम मंत्र, श्लोक-पाठ केवल एक मुखौटा है, मुखे धाँखा देने के लिए ।

मुखे देखते ही तुम थोड़ा हट गयी थी । तुम्हारी उस भगिमा को मैं पहचान हूँ, क्योंकि अचार का मर्तवान खोलते समय कितनी दीपहर को पकड़ा गया है—बा फिर से अपनी पोथी हाथ में लिए अयमनस्व-से हो गए । तुलसी चौरा के नीचे उस दिन दीया नहीं जल रहा था । नारियल के पेड़ पर एक वेदब-सा कटा हुआ

चांद झूल रहा था। शायद इसीलिए उस पेठ पर रहने वाला उन्सु और दिनों से पहने ही, 'समझता हूँ, समझता हूँ,' पुकारे जा रहा था।

उदास स्वर में बोला, "तालाब के किनारे काफ़ी बड़ा घानियाना लगाया गया है, माँ। मुनता है, मैजिक सातटेन होगा, देखने चलोगी?"

"मैं? न-न। तू जायेगा? जा न, देख वा।"

"दादा अगर"

"मैं कह दूंगी।"

दादा कापी के ऊपर झुककर अपने को इतना व्यस्त दिखा रहे थे, जैसे उनके काना में कोई बात जा ही नहीं रही हो।

तुरन्त अनुमति मिल गयी। मैं तुरन्त पीछे घूमकर चलने लगा। तुम मेरे साथ दरवाजे तक आयी। "पर ज्यादा ठण्ड मत लगा लेना। अभी भी बास गिरती है, यह चिरपरिचित वाक्य तुमसे सुनना चाहता था, पर नहीं सुन पाया।

प्रतारित! प्रतारित-सा मैं सड़क पर दौड़ रहा था। ठीक डर से नहीं, हालाँकि शाम गहरा चुकी थी। किसी और दिन क्नास का एक गुण्डा किस्म का लडका, जिसका नाम मानिक था, ने एक बार मेरी जेब से सारे कचे, सट्टर सब छीन लिया था। मैं रोक नहीं सका था। ताकत नहीं थी न, इसीलिए आँख में पानी आ गया था। हाठ धारे हो गए थे। साचा था, मेरा सब कुछ चला गया। मैं दुबसा हूँ, कमजोर हूँ इसलिए कुछ भी कर नहीं पाता हूँ। आज भी तालाब के किनारे-किनारे दौड़ता हुआ, ठीक उसी तरह महसूस कर रहा था। आँखें धुँधली। मैं सोच रहा हूँ जायेगा-जायेगा, इसी तरह सब कुछ चला जायेगा। दादा गये, सुधीर मामा भी दूर हट गये, तुम। तुम दोनों ने ही आज मुझे जनायास घर से निकल जाने दिया। मुझे बाहर निकाल कर मानो राहत मिली। मीरा तो दूढ़ हो रहे थे। मेरी कोई माँ नहीं है, भाई नहीं है, साचना हुआ सवमुब डर लगने लगा था। सामने की सड़क इतनी मुनसान क्या थी? सब के जाने के बाद क्या सब कुछ इतना खाली हो जाता है? रहन के लिए निर्फर् मैं और मेरे फेफड़े मे जमी हुई हवा और कुछ नहीं?

(उस दिन की अनुभूति आज जिस तरह बदल चुकी है। अब मैं बलान्त हो गया हूँ। मैं समय चुका हूँ कि मैं भी चला जाऊँगा, और सब कुछ रह जायेगा। ये सारे पेठ वैसे ही खड़े रह जायेंगे। घास सूख कर जमीन में फिर से फैल जायेगी। घूल वेम ही उठती रहगी। मरी हुई-सो चाँदनी छिटकेगी, सुबह का सूरज रून के फव्वारे ही फेंकेगा। जिस सीट पर बैठकर अभी तक प्रेनाग्रह में रहा, उस सीट पर दूसरे 'शा' के लिए कोई और ना बैठेगा। जो कुछ छुआ है, छाना है, सोपा है जितन कीचड़, इन्ह बाद में वाई और आकर छानेगा, सीपेगा-पोतगा। मैं नहीं रूँगा। पर उस दिन यह ज्ञान नहीं था।)

सुधीर मामा को वहाँ देख पाने की जम्होर नहीं थी। शाम को अपने कमरे

मे कोई पुस्तक बगैरह ही पढ़ते रहते हैं। ठण्ड के कारण बाहर नहीं निकलते थे। वही सुधीर मामा भीड़ के एक कोने में बैठे हुए हैं। दोनों घुटना को जोड़कर उस पर अपना सिर टिकाये हुए। पर उनका मफलर कहाँ गया? मुझे देखकर पहले तो अवाक हुए, फिर हाथ हिला कर बुलाया। चेहरे पर कैसी सकपकायी-सी हँसी थी। दरजन के थोड़े से अप्रतिभ से हो उठे थे। इतने दिनों तक मुलाकात नहीं हुई थी न, इस लिए। गाल और ज्यादा पिचके हुए, आखे बैठ गयी हैं। नसे उभरी हुई, पतली पतली बाहों पर खुरकी उड़ते साफ देखा। पर मफलर?

ज्यादा बातें नहीं हो सकी, हालांकि उस समय तक छाया-चित्र दिखाना शुरू नहीं हुआ था। एक बार सिर्फ सुधीर मामा ने पूछा, “आनू कैसी है?” और एक बार “तुझे अकेले आने दिया?”

“आप यहाँ?”

सुधीर मामा मुस्कराये। बातों का फ वारा, जिस आदमी के मूँह से झूठा था, शीघ्र कण्ठ से कितनी बातें निकल आती थी। कितने प्रश्न, कितना उत्तर!

(आनू! तुम्हारे इस लडके को मैं आदमी की तरह आदमी बनाऊंगा। “मेरा लडका?” “नहीं, नहीं, एक हिताव से यह मेरा भी है। उसे उसी तरह देखता हूँ। उसे लेकर ही तो हूँ।”)

वही सुधीर मामा कैसे तो झुपचाप, उदास-से गैस की रोशनी में सिर घुटना पर टिकाये बैठे हुए हैं।

“पर मफलर कहाँ है?”

सुधीर मामा ने कहा, “भूल गया। फिर उतनी ठण्ड भी तो नहीं है। ओ फिर थोड़ी बहुत ठण्ड लगने से भी क्या फर्क पड़ता है?”

साधारण-सी बातें थी। उस दिन सुनकर अजीब सी लगी थी। आज नहीं लग रही हैं, “पर पर पढ़ने के लिए कोई पुस्तक नहीं थी।” सुधीर मामा बता रहे थे, “इसलिए सोचा, यह लेनटन लेक्चर ही सुन लूँ। सुना है यह शिष्यात्मक है इसमें देश की बातें हैं। मन लगा कर देख। तुझे भी सीखने लायक बहुत कुछ मिलेगा।”

न मफलर साफ नहीं, भूल गए हैं जाना। अरे घट् ठण्ड नहीं है, सर्ग नहीं। फिर लगने से भी क्या फर्क पड़ता है! बहुत होगा तो दो दिन निस्तार प पड़ जायेंगे। वह तो अच्छा ही होगा, थोड़ा आराम करने को मिलेगा।

लगने से भी क्या फर्क पड़ता है! अस्पष्ट होने पर भी अगर उस दिन थोड़ी सी शोशिश करता तो इस बात का मतलब समझ जाता। सुधीर मामा जिस लिए आये हैं, मैं भी तो उसी लिए ही आया हूँ। परास्त, प्रहृत, प्रतारित, परित्यक्त ‘प’ व वाद ‘प’—जहाँ ज़िंसा तरह भी कुछ आता जाता नहीं है। दोनों की ठीक एक जगह सा छोड़ा है।

सुधीर मामा मुझे घर तक छोड़ गये थे। असल में वह दरवाजे तक किसी हालत में नहीं आये। सदर रास्ते से ही लौट गये। तुम अगर छिड़की के पास खड़ी होती माँ, तो देख पाती। माँ फिर जिस समय मैंने दरवाजे पर जाकर तुम्हें आवाज लगायी थी, “माँ ! माँ ! माँ !” अगर उसी समय दरवाजा खोल देती, तो देख पाती एक शीर्ष-दीर्घ देह, उस समय छायाकार सम्बे-सम्बे डग फेंकती हुई जितनी जल्दी हो सके सबक पार कर अंधेरे में हूब जाना चाहती है। अघकार था ही, क्योंकि उस समय रात थी, पर फागुन की मोठी बयार पुरानी थी, रग की चाँदनी के साथ गड़मड़ तो हो ही रही थी।

फिर भी मैंने कहा था, “आइए न सुधीर मामा ! आयेँगे नहीं ?” बड़ सहज भाव से बोला था, क्योंकि लौटते हुए पूरे रास्ते के बिनार की झाड़ियाँ, जुगनुआ की आँखें जलाकर टिमटिमा जरूर रही थी। हवा में फूला की सुशब्द घुली हुई थी। हालाँकि थोड़ा-बहुत अजीब-सा कष्ट भी पा रहा था मैं। फागुन का महीना, पता नहीं क्यों अभी से मेरे लिए बहुत कष्टकर हो गया था। उस नीम अंधेरे में फूलों की महक ही कटि की तरह धुमने लगी थी। अहेतुक ही मन के किस कोने में बिघने लगता है, पता नहीं। जो भी हो, उस दिन मैं डरा हुआ नहीं था। विशेषतः साथ में जब कोई साथी हो, जिनकी मैं इतने दिनों तक इज्जत करता था। पर इस समय जिसके साथ मैं स्वच्छन्द हूँ, क्योंकि हम दोनों के बीच एक पुल बन गया है। इसलिए बोल रहा था, “आइए न सुधीर मामा ! आयेँगे नहीं ?”

उहनि पल भर के लिए इतस्तत किया। फिर बोले, “नहीं, रहने दो। आनू शायद सो गयी होगी।” मैं जोर देकर बोला था, “मेरी माँ इतनी जल्दी सोती नहीं है।”

पर तुम तो सो गई थी। दबी आवाज में जितनी बार पुकारा था, “माँ ! माँ ! माँ !” तब कहीं आकर सुन पाई थी। माना मैं कोई प्रेत हूँ, रात को आवाज लगा रहा हूँ, इसलिए तुम बोल नहीं रही हो। एक छायाभूति हल्की चाँदनी में तैरती हुई, धीरे-धीरे विलीन होती जा रही है। मेरे पाँव भ्रमशः अवश होते जा रहे हैं। “माँ-माँ”, पुकारते हुए आवाज काँपने लगी है।

मेरी माँ इतनी जल्दी सोती नहीं, कहा था। पर तुम तो सो गई थी। एक लैम्प हाथ में लिए तुम दरवाजा खोलने आयी थी। हल्की पीली रोशनी में तुम्हारी सूजी हुई आँखें देखा। पूरे माथे पर सिंदूर पैला हुआ—काफी बड़ी-सी चिन्दी तुम इधर लगाने लगी थी न ! इसलिए पैली हुई थी। पीली साड़ी का किसी तरह लपेटे हुए तुम्हें देखते ही समझ गया था कि सो गयी थी। तुम्हारे बदन से सटकर, छाती की महक से चूर होकर हमेशा सोया हूँ। तुम्हारे उस रूप को मैं भला नहीं पहचानता हूँ ?

सीधे रसोई में से गई। घाना ढका हुआ था, परोस दिया। जम्हाई ले रहा थीं, यह मैंने धुपके से देख लिया था। तुम्हें ज्यादा तपस्वीफ न हो, सो मैंने जल्दी जल्दी या लिया। थोड़ा नयापन तो था ही। पीठ पर बैठकर मैं ऊँपता रहूँगा और तब जबरदस्ती मुह में पोर ठूसती रहोगी, यही तो नियम था। यही नियम क्या आज उलट गया है ?

बाबर उठते ही बिस्तर में घुस गया। जो बिस्तर तुम्हारा मेरा था, बाबर बिछाई हुई चान्दर मन ही मन में कुछ गड़बड़ा रहा है। तबिये में लिपटी हुई तेल की महक-छाप कुछ नहीं। उसने लिए ताई चास बात नहीं थी, क्योंकि तुम्हारे स्नेह बाल, खुले हुए थे। शायद उस दिन तुमने तेल नहीं लगाया था। पर तबिया ही तो नहीं था। आश्चर्य तो उसी बात का था।

बाबा की ओर हल्का अँधेरा था। पर वे चारों तरफ ही भर रहे थे। तो क्या वे सोये नहीं थे ? उस बात की मुझे चिन्ता नहीं थी। तुम सोयी थी या नहीं, यही सोचते-सोचते मैं धुद न जाने बब सो गया।

थोड़ा-थोड़ा करके सब कुछ बदल रहा है, यह मैं बाहर देखते ही समझ गया था, आकाश का रंग बदल रहा है, गरमी बढ रही है। तालपत्ते का पत्ता खरी-लाया गया। सुबह की धूप देखते-देखते गुस्सेल हो उठती है। पूरी दोपहर ताबे जैसा। किसी-किसी दिन की शाम भटमेली हो जाती है, जब हवाकार के साथ तूफान राक्षस की तरह दौड़ा आता है। सब कुछ कँपा जाता है। हमारे मकान का छपर खूटा समेत धरधरा जाता। रात को छटपटात हुए साँप तिल से निकल आते और बेड़े या आगन में आकर कुडसी जमाकर बैठ जाते। अँधेरे में सरसर करत हुए सबक के इस पार—उस पार आते-जाते।

उस समय एक-एक ऋतु एक-एक किस्म की छाप छोड़ जाती। जैसे गरमी जैसे ही बरसात की बड़ी-बड़ी बूँदें भी मन की जमीन पर गूँथ जाती।

बरसात के शायद कुछ पहले ही बाबा का बड़ी गम्भीर बीमारी हुई। खासी तो थी ही, उसके साथ ही छाती में दद। बुखार छूटता ही नहीं था। आखे दिन भर लाल। बाबा कुछ और तरह के दीखते। जब आखें मुदी रहतीं, देखता हाठ काँप रहे हैं। कण्ठ स्वर भी रुँधा हुआ, विडविड करके जो कुछ बोलते सब समझ में नहीं आता। कभी सुनता, “यहा नहीं रहूँगा। मेरे छत्तीसगढ जाने की बात थी। वहाँ से और भी दूर पश्चिम में, एकदम द्वारका। एई। बोल न, मैं ठाक हो जाऊँगा तो ! नहीं हाँ जाऊँगा ?”

पास बुलाकर कभी मेरे माथे पर हाथ फेरत। गोखरू पडे हाथ। शिथिल, दुबल। फिर भी उतने से ही बदन के रांगटे खडे हो जाते। कभी दौड कर दवा लाने जा रहा है, तो कभी चौखट पर खड़ा दख रहा है। तुम निश्चल मूर्ति—सी बाबा के सिरहान बैठी रहती। बुखार देख रही हो, माथे पर ठण्डी जल पट्टी। बाबा अगर औंधे लेटे हो, तो कमरे में बाल्टी भर-भर पानी उनके सिर पर डाल रही हा। गमछा

से होले-होले सिर पोछ रही हो। धीरे-धीरे अब तुम हाथ से पखा झल रही होती हो, तो उस समय किसी बादल की तरह ममतामयी लगती हो। अपसक, दीर्घनि श्वसित, कभी-कभी तुम कनात होकर वहीं लेट जाती।

पर मैं शौंकता नहीं। बरसात की ताजी बौछार ने मुझे कोमल बना दिया था।

\*

\*

\*

आश्चर्य की बात है, ठीक उसी समय सुधीर मामा भी काबू में आ गये। उनके साथ बीच-बीच में मछली पकड़ने का काटा लेकर मैं भी निकल पड़ता था। मैंने पहले ही बताया है, हम दोनों के बीच अब तक एक समवेदित सत्यता पनप चुकी थी, यद्यपि हम लोग हमउम्र नहीं थे। इसलिए जब क्लास नहीं होती, घर पर भी मेरे करने लायक कोई काम नहीं होता, मैं सीधे वहाँ चला जाता। वहाँ से खेत-मैदान पार कर, बाँस-वन की कोमल छाया में निभाई राय के तालाब में। वहीं साथ-साथ काफी देर तक बैठा रहता। फटना तैरता है, उठता है, पर कनखी से देखकर समझ जाता हूँ। उस ओर सुधीर मामा का कोई ध्यान ही नहीं है। असल में ध्यान कहीं और भटक रहा होगा। मछली पकड़ने-वकड़ने का सुधीर मामा को कोई शौक तो है नहीं, कभी रहा भी नहीं। समझ जाता, वे एक नए अभ्यास में प्रवेश करना चाह रहे हैं।

एकाध बातें सिर्फ होती। बातों की जरूरत भी नहीं थी। हम दोनों एक दूसरे को समझ पाते थे। जिस दिन एक भी मछली नहीं फँसती, उस दिन, दिन ढलने पर सूता-बूता समेट कर सुधीर मामा अपने जजर शरीर के साथ उठते। हड्डी से हड्डी टक-राने की आवाज भी मानो मैं सुन पाता। बोलत, “असल में मैं यहाँ क्यों आता हूँ, पता है ? मछली पकड़ने से धैर्य की परीक्षा होती है। यहाँ बैठ-बैठकर सहिष्णुता सीखता हूँ।”

क्यों आते हैं वह मैं जानता हूँ।

पर एक दिन नहीं आ पाये। उनके घर जाकर देखा, लेट हुए हैं, चादर लपट, खिड़की बंद, कमरे में अँधेरा। पाव की आहूट पाते ही चादर हटाते हुए बोले, “सिर में बहुत दब है रे। मानो फट जायेगा। कँपकँपी आ रही है। मुझे दबाकर पकड़ सकोगे ? एकबार दबाकर पकड़।”

उन्हें दबाकर पकड़ा। वे माना तृष्णात की तरह मेरे माथे का घ्राण पीने लगे। माना घूस लेना चाह रहे थे मुझे, मेरी सत्ता को।

जबड़ के परुड़ा हुआ हाथ अपने आप ही एक समय ढीसा पड़ गया। मैंने सिर उठाया, वे सो चुके थे, पर गरम साँस उस समय भी मेरे गाल से टकरा रही थी। मैं दबे पाँव बाहर निकल आया।

मुझे आकर बताया, “सुधीर मामा भी बीमार हैं। बहुत तेज बुखार है।”



तुम ताकती रहों, मानो आँख से मुन रही हो। तुम्हारे चेहरे पर कोई भाव ही नहीं था। उस समय तुमने कुछ नहीं पूछा।

पूछा दूसरे दिन दोपहर को, तालाब के घाट पर।

“कैसे हैं रे?”

“आज तो गया नहीं।”

“जाओगे नहीं?”

“कहो तो चला जाऊँगा।” कहो तो पर कुछ ज्यादा ही जोर देकर बोला। तुरंत मुनने को मिला, “मुझे से चलोगे?”

“घर छोड़कर? बाबा अकेले”

“वे तो अब कुछ ठीक ही हैं। पथ्य दे गायी हैं। और फिर अभी तो मेरे नहाने-धोने का समय है जाना और आना है। ज्यादा देर नहीं होगी।

\*

\*

\*

वही खिड़की बंद कमरा। इस बार मैं साक्षी। मुधीर मामा सो रहे थे, गले तक ढँके हुए। दुबला-पतला आदमी माना विस्तर में ही समा गया हो।

मैं केवल देख रहा हूँ। तुम्हें आगे बढ़त देखा, आचल से बाहर निकला हुआ शोषायुक्त कण हाथ। बहुत हल्के से उसी हाथ की हथेली को, उनके माथे पर एक बार न छूने जैसा ही छुआया। बस और कुछ नहीं। मेरी ओर धूमकर बोली, “अभी तो काफी बुखार है।” बस और कुछ नहीं। न जलपट्टी, न हाथ पखा। सिर्फ घड़े से निकाल कर एक गिलास पानी उनके सिरहाने रख दिया। कहा, ‘अब बसो।’ जिस तरह दबे पाव गयी थी, वैसे ही दबे पाव निकल आयी।

और कुछ क्या नहीं? बाबा के सिरहाने भी ता शूर्तिमती शुभ्रपा, सेदा, उल्कठा और माया बनकर रहने तुम्हें देखा है। यह यह कृपण, कृच्छ, नीरव निस्पृहता। यह वैपरित्य अछा नहीं लग रहा था। रास्ते भर तुमस एक बार भी नहीं बोला।

(उस दिन जिसे अमानवीय निर्ममता समझा था, बाद में उसका कारण समझ पाया था। एक ही वस्तु के दो पक्ष—वही सब कुछ उठेता कर भी लगता है और दे दू, तो वही हाथ घोघे के भुह की तरह सिमटा रह जाता है। कुछ न देना, देना न चाहना या न सकना भी सब कुछ देना है।)

बाबा जाग गये थे। उठ कर बाहर घड़े पर आकर बैठे थे। तुम चौंक गयी थी, “बीमार शरीर लेकर यह क्या?” लगभग चीख की तरह तुम्हारी आवाज सुनायी पड़ी थी। पर बाबा की आँखें उस समय एकदम ठंडी थी। बेहद कोमल स्वर में पूछा था, ‘कहाँ गयी थी?’

पोखर में नहीं, यह तुम्हें देखकर समझा जा सकता था। अमरुद के पेड़ से सरसराती हुई दो गिनहरिया आकर आँगन में कुछ खा रही थी। हमें दखते ही भाग

गयीं। थोड़ा रक गयीं तुम, क्षण भर के लिए, फिर मानो बाबा के ही स्वर की नकल करती हुई वाली, "सुधीर दा के यहाँ।"

तुम बच गयीं माँ! थोड़ा-सा भी कुछ भी बनाकर उस समय न बोलने के कारण तुम मेरे पास पहले जैसी ही रह गयीं। मैं साँस रोके खड़ा था। जैसे ही तुम्हारा जवाब सुना, उसी समय एक नेवला जो खिड़की से बार-बार मिचमिचाई आँखों से झाँक रहा था, उसकी ओर दड़ा लेकर दौड़ पड़ा।

"वहाँ क्यों?"

"सुधीर दा को भी बुधवार है।"

"धरर किसने दी थी?"

हाथ से मेरी ओर इशारा किया तुमने। सत्य अस्वस्तिकर होता है, पर उसका रंग कितना सफेद होता है। इस आँगन के ऊपर खुले आकाश की तरह। मैंने उसी समय अनुभव किया था।

देखा, बाबा काँपते हुए खूटा पकड़ कर खड़े हो गये। लड़खड़ाते हुए कमरे में धुस गये। फिर उसी बीमार बिस्तर पर।

शायद उसी दिन शाम को ही बाबा को दोबारा बुधवार आ गया।

और उसी दिन रात को? अचानक डर कर नींद टूट गयी थी। मूढ़ के ऊपर गरम हवा। न जाने किसका तप्त श्वास। एक टिमटिमाता सा दीया जल रहा था। बाबा की बीमारी के समय से ही रोज ही जला कर रखा रहता। समझन में देर नहीं लगी कि वह किसकी साँस थी। कई दिनों की बढी हुई हजामत, धनी भौंह। बाबा को आसानी से पहचान गया। उसी दाढ़ी-मूछ के जगल में बाघ की तरह जल रही थी एक जोड़ी आँखें। बाघ नहीं, वह दृष्टि पागल की मुझे खडखड़ाती-लूखी जीभ से चाट रही है। मा, आ मा। तुम अभी भी पलंग के एक किनारे माना बिखरी हुई लता हो। तुम्हारी नींद क्या नहीं टूटती?

मैंने तुरन्त आँख मूँद ली, जैसे कुछ देखा ही नहीं। सोत रहने के भान से सचमुच सो जाना कितना आसान है? पर मैं तो सोऊँगा नहीं, जागूँगा। हिलना-डुलना, साँस लेना सब कुछ बंद करके। सकेण्ड गुजरता है, एक-दो-तीन। कितने सकेण्ड में एक मिनट, कितने मिनट में हे भगवान पूरी एक रात? उसके बाद आँख बंद किये हुए ही पता चल गया है, शिकारी की व्यग्र-एकाग्र दृष्टि हट गयी है। जाते-जाते एक पाँव से लालटेन उलट जाती है। जलूर तेल चू रहा होगा। कल सुबह फर्श के ऊपर जलूर वाला दाग देख पाऊँगा। फीते की तरह। फाँता या फिर भीगी हुई वेणी की तरह। पसाने के तरहतर होते हुए मैं यही सब सोच जाता हूँ। पसीने की कलकल ध्वनि क्या कभी सुनाई पड़ती है?

ऊटपटाग बहुत कुछ सोचता रहा, सिर्फ समझ नहीं पाया, झुककर बाबा मेरे चेहरे में क्या देख रहे थे? उतनी गहरी साँस व क्यों भर रहे थे?

दूसरे दिन सुबह उठते ही सुन पाया, बाबा तुमसे कह रहे थे, "मैं अब जाऊंगा।"

दोनों ही बराबे में थे। बाबा का स्वर मुलायम, जैसे कोई और व्यक्ति हों। एक बार अचानक कमरे में आये, शायद गमछा लेने। मेरी ओर देखा नहीं, फिर भी मैंने देखा, इस बीच बाबा, दाढ़ी-वाढ़ी साफ कराकर, एकदम फिट।

असल में गयी रात की नींद थी जो मैं ही शायद देर से उठा था।

बाबा दोबारा बराबे में निकल आये। तुम्हें बोले, "कस या परसो जाऊंगा।" तुम्हें कहते हुए सुना "ऐसा क्या? तबीयत तुम्हारी अभी भी पूरी तरह ठीक नहीं।" बाबा ने तत्क्षण "मेरी बीमारी क्या जान वाली है? तुम्हीं बताओ?" आवाज में समझ जाता हूँ बाबा हल्के-हल्के हँस रहे हैं। वाह! कितना मधुर! पर मातुम मान नहीं रही हो। धीमी आवाज में कहती हो, "पर मेरी ऐसी हासत में "

"डर रही हो?"

"रही हूँ।"

"पक्का पता है?"

"एकदम पक्के तौर से क्या कहूँ। पर पहले की ही तरह सब कुछ बीच-बीच में तुम आते हो और यह सब होता है। तुम्हें क्या। दायहीन, तुम एक दायहीन डाकू हो।" माँ, तुमसे माना बोला नहीं जा रहा था।

हो हो करके बाबा को निर्मल हँसी हसते सुना, मानो अपने कौतुक भरे स्वर से खुद ही रस लेने लगे हों। "अच्छा हो तो हुआ। तुम इतना सोच क्यों रही हो। यह लोग ही तो देश के भावी सपना के एक-एक सैनिक हैं।"

'ऐसा नहीं हो सकता। नहीं होगा।' माँ, तुम हाँफ रही हो, पर पता चल रहा है, तुम्हारे दाँत स दाँत लग गये हैं, "हो नहीं सकता। न होगा।"

'क्या नहीं होगा?'

"कौन धींचेगा इतना? कौन पालपोस कर आदमी बनायेगा?"

हा-हा-हा-हा! बाबा के अकृण्ठ अनाविल ठहाके। पर बात के धीरे-धीरे कर रहे हैं। "क्या धींचनेवाला तो है। और आदमी बनाना? वह ठीक-ठीक मासूम नहीं।"

"मतलब?"

"अगर तुम जानती नहीं हो तो बोलूंगा नहीं। पर देखो, जो है वह ठीक साफ नहीं बन रहा है।" इस बार बाबा ने बड़ी भयंकर बात कही, "घात रहा है उग मैं से जाऊंगा। यहाँ नहीं रघूंगा। यहाँ बर्बाद उगरे बुरे प्रभाव के कारण अमानुष ही बन रहा है। उसे अपना पाग रगड़कर आत्मा बचाऊंगा।"

उसे मान मुझे। बुन बनकर गुन रहा था। माँ, क्या हुआ फिर म तुम्हें कहते गुना, 'क्या कहा हो?'

“सोच-विचार कर ही बोल रहा हूँ।”

“तुम राक्षस हो, तुम ही इस तरह की बातें कर सकते हो।”

“एकदम से घबड़ा मत जाओ।” दरवाजे की फाक से देख रहा हूँ, बाबा ने आख दबायी, “उसे वापस भी भेज सकता हूँ।”

“मतलब ?”

“बताता हूँ। पर पहले तुम एक बार और हिसाब लगाकर बताओ ताँ। मैं वही एक बार आया, वह कौन-सा साल था ? मुझे थोड़ा याद करा दो। उसके बाद जब आया, तो कितने साल बाद ? दो या तीन। उसे देखा, तुमने कहा वह पूरे दो साल का है। सच्च बताता तो, वह उस समय पूरे दो साल का था ? कुछ कम वम नहीं न ?”

तुम निर्वाक-सी, क्रोध, घृणा और रलाई भानों सब एक साथ गड़मड़ हो जा रही थी। “निर्लज्ज, बदमाश, पाजी !” छूटी पकड़ कर अपने को किसी तरह सम्हालते हुए तुम ये सिर्फ तीन शब्द बोल पायी थीं।

“आहा हा, गाली गलीज बाद में। पहले मेरी बात तो सुनो। मेरे प्रश्नों का जवाब फटाफट-बे देने से ही तो सारी शका मिट जाये। मेरी रानी। मेरे लिए क्यों नहीं सोचती हो ? पता है मैं बीच-बीच में उससे अपना चेहरा मिलाकर देखता हूँ, फिर खुद को शीशे में देखता हूँ। किसी-किसी रात को, वह जब सो जाता है, उसे देखता हूँ, देखता ही रहता हूँ। मेरी तकलीफ को तुम क्यों नहीं समझने की कोशिश करती ?”

• तुम मानो गूमी हो गयी थी। आखों की पुतलियाँ बाहर निकली आ रही थी। पर चेहरा बिल्कुल सफेद हो गया था। किसी तरह खींच-खींच कर पर तीव्र स्वर में तुमने कहा था, “तु म जाओ। चले जाओ।”

“जाऊँगा तो। वही तो आज ही बला जाऊँ। पर क्या एकदम से इस तरह विदा करोगी ? पन्ना खोल कर याना शुभ-अशुभ का विचार नहीं करोगी ?”

कोई उत्तर नहीं।

“बताया तो है, उसे भी ले जाऊँगा, बलवत्ते में आजकल बहुत तरह की परीक्षा होती है। ब्लड टेस्ट, सभी इसके बारे में सुना है ? खून के साथ खून मिलाना। बातें जब उठी ही हैं तो जिसे अपने हाथ से आदमी बनाना है, उसके बारे में एकवार नि सपाय हो जाना ही तो अच्छा है न !”

तुम्हारे हाथ के पास कुछ था। उसे ही खींचकर तुमने बाबा को मारा था। समस्त दृश्य धुंधला गया था। सिर्फ मेरे दोनों कान में प्रत्येक शब्द घुस रहे थे। उसे भयकर सुबह को आज भी नहीं भूल पाया हूँ। बहुत-सी बातें, बहुत से इंगित उस दिन थे अस्वच्छ, पर वे बातें भयकर भी थी, यह उस अबोध आयु के सहजात बोध में भी घँस जाने में कोई मुश्किल नहीं पड़ी थी।



वह दोपहर भी बीत गयी। समय का एक महत्व स्वभाव होता है, वह बीत जाता है। यदि नहीं बीतता, ठहर जाता एक ही जगह पर तो वह एक दुःखद स्थिति होती। जमे हुए जजाल से भयकर दुर्गंध आती। समय का सबसे बड़ा गुण है उसका बीतते रहना। उसके चरित्र में ठहराव कहीं नहीं है। वह बहता ही जाता है, और साथ ही अपने साथ सारी गन्दगी भी बहा ले जाता है। समय क्या कोई शुचि प्रसूत विधवा है? या फिर वह एक अदम्य प्राणशक्ति से भरपूर युवा है, जो पानी में डूब जाता है। एक-एक मौसम को ही देखो न, लगता है जैसे बाढ़ में डूब गया। उसके बाद ही झिलझिलाती धूप में पीठ उछाड़ कर बैठ गया, घना-नीला आसमान।

हमारे यहाँ भी उस दिन समय किसी बैरागी की तरह 'भीख दो' के साथ हाथ पसार कर हाँकता नहीं रह गया। और इसलिए ही सब कुछ सहज हो गया।

\*

\*

\*

माँ तुम और बाबा आपस में बोल नहीं रहे थे, यह मैंने देख लिया था। तुम दोनों के बीच एक झीना-सा परदा पड़ा हुआ था। फिर भी काम-धाम चलती ही रहा। तुमने ठीक समय पर चूल्हा जलाया, चाय बनी। बाबा ने भी चाय पी। ठीक समय पर तुमने उनके सिरहाने दवा की भीषी और गिलास रख दिया। इस बीच बाबा अपनी छिटपुट चीजों को सहेजते जा रहे थे। पतुए में बटन क्यों नहीं है, इस बात पर थोड़ी देर तक बहबहात रह। न जाने कब सुई घागा लेकर खुद ही रफू करने बैठ गए। शाम होने ही रोज की ही तरह शख बज उठा। बड़ी बाड़ी के मन्दिर से बासे का घंटा पीटने की आवाज ने, घर लौटते हुए पक्षियों को और अधिक भद्दा बना दिया। इस समय रोज पूरा आकाश जले हुए लोहे में जग लगने की तरह हो जाता।

क्योंकि मैं उस दिन कुछ समझ नहीं पाया था। सिर्फ हिस्स-हिस्स की आवाज में एक दूसरे पर वाक् प्रहार करते सुना था। इतना समझ गया था कि जो कुछ हो रहा है, बहुत बुरा हो रहा है। पर घंटा बजने के ढग-ढंग ने आघात से मह-गूस हो रहा था कि सब कुछ बीतता जा रहा है। जैसा पहले था फिर से सब कुछ वैसा ही होगा। मैं तुम्हारी बगल में तुमसे लिपट कर सोऊँगा। तुम्हारे शरीर की उष्णता पाऊँगा। जिम् तरह जब मिट्टी की गहराई को सोच लेता है, उसी तरह तुम्हारी प्रगाढ़ भमता को मैं साँच सूँगा, क्योंकि मैं व्याकुल होकर यह सोच जा रहा था कि

सब कुछ जल्दी ही खत्म हो जाए । इसलिए और भी कौन-कौन सी घटनाएँ आगामी एक प्रहर के साजघर में तैयार हो रही थी, उसकी कोई जानकारी मुझे नहीं थी ।

अपना बैग ठीक कर लेने के बाद, बाबा ने अचानक मुझे चौंकाने हुए कहा, "तुझे जो कुछ ठीक करना था, किया नहीं ?"

मैं ? हाँ, बाबा जब कह रहे हैं, तब निश्चय ही मैं ही । स्थिर स्वर में वे बोल रहे हैं, "तू भी जायेगा । एकबार मैं जो सोच लेता हूँ, उसमें फिर कोई फेर बदल नहीं होता है । आज रात को ही गाड़ी है । शायद नौ बजे । जाकर तैयार हो जाओ ।"

तुम सामने आकर खड़ी हो गयी थीं । मैं जहाँ था, वहाँ ही खड़ा रहा । बाबा का बक्सा तैयार हो गया था । इतने दिन बाद पीछे मुड़कर देखने पर सगता है, जैसे एक दृश्य रहा हो । जिनका जो पार्ट था, वे तीनों तीन जगह पर जड़े हुए । प्रत्येक अपना पार्ट भूल कर निर्वाक-सा देखता हुआ । कोई किसी की ओर सुई भर भी बढ़ नहीं पा रहा है ।

उस दिन नाटक हमारे घर पर खेला जा रहा था । मेरी निर्ममलतम स्मृतियों में यह अत्यंत है ।

नहीं कोई विस्फोट हुआ था, एक हिमझोत बहता जा रहा था । बाबा ने एकबार कैसी तो उलझी-सी अद्भुत स्वर में पूछा था, "क्यों ? तुझे क्या-क्या लगा है, लाया नहीं ?"

पुराना टाइम पीस अक्सर बंद पड़ा रहता था, पर उस दिन ठीक टिक-टिक करता रहा ।

उस फूल-पत्ते वाले छोटे टीन के बक्से के लिए तुमसे कहें माँ ? दो-तीन कपड़े-पत्ते, फिताय-विताय तुम बक्से में भरने लगी थीं । मानो किसी मुँह को सजाया जा रहा हो, माना दादा की मृत्यु की तरह एक और रात वापस लौट आयी हो । फर्क सिर्फ इतना ही था, तुम्हारी सूखी आँखा में आँसू नहीं थे ।

उस अविश्वास्य क्षणों में हमलोग टुकड़ा टुकड़ी में बंट कर क्या कर रहे थे ? मुँह में भात ठूस रहा था, या फिर तुम ही एक के बाद एक शास उठाकर मेरे मुँह में भरता जा रही थी ?

मैं तैयार होकर टुकुर-टुकुर देखे जा रहा हूँ । अब जाऊँगा । तुमने मृदु स्वर में कहा, "वाल नहीं सँवारोगे ?" घड़ी एकमात्र साधारण-सा निरुत्पाप स्वर । बाबा बोल पड़े, "नहीं रात को शीशे में मुँह नहीं देखते हैं ।" तुमने कहा तो फिर तस्मेवाला जूता पहन ले ?" बाबा बाले, "नहीं बाबूगिरी करने की कोई जरूरत नहीं । चप्पल ही ठीक है ।" फिर तुम्हारी ओर देखते हुए, "तुम समझ नहीं पा रही हो कि यह अब ओर तुम्हारी सरजी पर नहीं चलेगा । उस पर तुम्हारा हुक्म नहीं चलेगा ?"

तुमने मुना । मैंने भी । जो नाथून किसी को नाचना चाहता है, पर नोच नहीं पाता है, बेशक न नोच पाये, पर जीवन भर सोचता रहा हूँ, वे लोग तब स्वयं को ही हिंसतापूर्वक क्या नाचने-खसोटने लगते हैं ।

दादा से मर्न-ही-मन में बोला, "जा रहा हूँ। तुम्हें प्रणाम करता हूँ, वहाँ जा रहा हूँ, कितने दिनों के लिये, पता नहीं। प्रणाम करता हूँ तुम्हें। तुमने हाथ बड़ा कर मुझे छुआ। उम सप्ताश में घडक्न नहीं थी। बाहर अघवार, दूर दूर एकाध रातना। वे लोग जाग रहे हैं पर उन्हें कुछ पता नहीं कि कौन चला जा रहा है। फिर भी आश्चर्य है। उसके लिए कोई शोक भी नहीं है। कम से कम बाहर उसका कोई चिह्न नहीं ही है। यह मोहन्मा मानो मेरी एक ओर माँ है। वह भी उस दिन मानो तुम्हारी ही तरह अचानक जड-स्तब्ध हो गयी थी। साफ-साफ कह दूँ, मेरी छाती के अन्दर से रुलाई, भय बाहर निकलने का हा रहे थे। अँधेरा हाने पर भी मेरी जानी-महजानी सबक थी। इसके प्रत्येक हूटे-फूटे गद्दा से मैं परिचित था, फिर भी ठोकर खा रहा हूँ और आगे-आगे चलते हुए बाबा मुझे जल्दी चलने के लिए कहे जा रहे हैं।

जा तो रहा हूँ, पर इस तरह कोई जाता है? इस तरह चोरो की तरह? कस भी सुझ होगी। पाडे का क्या उस समय कुछ पता चलेगा? कौन था, कौन नहीं अब और यहाँ नहीं देखेगा। मेरी जब एक बार फटी हुई थी, उस समय पता नहीं चला था, मेरे दो पैसे गिर गये थे। फिर भी मुझे उसी दिन पता चल गया था। खोये हुए पैसे का छान मारा था। इस पाडे मे क्या उतना भर भी आहूट नहीं होगी? इधर उधर आख फेरकर मुझे वह नहीं खोजेगा? मेरी क्या दो पैसे भर भी कीमत नहीं है? रुलाई आ रही थी।

पाडे की तरफ से आँख घुमाकर आकाश की ओर देखता हूँ। वहाँ वे लोग हैं। हजारों चमकती आँखें किसी का चले जाना देख रही हैं। साहस मिला, मन में मरोसा हुआ। जहाँ भी जाऊँ, डर क्या है। कहीं भी क्या न जाऊँ, डर किस बात का। वहाँ भी क्यों न जाऊँ, बाबें मूढ़े जवाक आकाश से बोला, "कहीं भी जाऊँ, तुम लोग साथ रहना।"

तुम शायद बिस्तर पर निढाल हो गयी होगी, या फिर दीवार से गप गयी होगी। तुम शायद जान नहीं पायी होगी, कितने लोगो स उस दिन मन ही मन मे विदा लेता हुआ जा रहा था। एक-एक बार मे एक-एक जन स बात करूँ, और सबको ढकेलकर बराबर तुम सामने आ जाती रही। तुम्हे क्या बोलूँ? तुमसे तो कोई बात ही नहीं हो सकी।

वही मूढ़ा कुआ। सबक जहाँ मुडकर खेत वी ओर चली जाती है, उसी मोड के कूर्ण मे झुक्कर गत करना बड़ा मजेदार लगता। कूर्ण मे कुछ फेंक देने से गुड्डप से हूँ जाता, तैरना नहीं। पर उसको छाती पर मुह रखकर जा मरजी कहते जाओ, प्रत्येक शब्द का दम गुना फनाकर, बढ़ाकर वह ऊपर की ओर फेंक देता है। बड़ा मजेदार धत था वह। खाई हुई बात को वापस पाना। आखिरी बार के लिए खेलने का मन हुआ। मन हुआ उसके सीन में मुह डुबो दूँ। डुबो दूँ, डुबो पर पड़ा रहूँ और फिर अचानक ही बालू, 'मैं जा रहा हूँ। अब शायद लौट न सकूँ।'

"बाजेंग नहीं," येन की सड़क फट-फट है। उस पार स्टेशन की सड़क के टोक मुंह पर जो बरतन का ढेठ है, धड़े में बिजे दर से सबरे बाबा बाला बाहु समन, दर से कान जाता, पाज बिस्वस्त-परिचित की तरह उसे भी वही बात बहो।

कुछेक पक्षियों बार-बार माद झा रहो थी। वही सीताहरण वाली जाह पर, स्वर पड़ते-पड़ते जहाँ बाबाज बंध जाती तुम्हारी-मेरी। वही, वह तासाब है, जिसके उस पार वह मकान है। आज दोपहर वो भी गया हूँ। सिरहाने रहे जिलात से अब तक उन्होंने जम्बर पानी पिया होगा? उन्हें भी कुछ मालूम नहीं। उन्हें क्या अभी खबर है? या उतर गया होगा? मैं सड़का हूँ, फिर भी स्वयं को सीता समझ रहा हूँ। सीता तो जाने-जाने कितना कुछ फँकती गयी थीं, ताकि चिह्न रहे, ताकि राम-सम्पन्न की पता चल जाये। पर हार कफन-केतुर कुछ भी तो मेरे पास नहीं है। मैं कौन-सा चिह्न छोड़ जाऊँ?

बाबा बाबा आगे हो गये थे। मैं थोड़ा पिछड़ गया था। एब सेकेण्ड के निते रूका। जेब में रिसप सगा स्ट्राइसो पेन। सुधीर मामा ने दिया था। टप् से उसे गिरा दिया। सड़क के किनारे। बाबा ने पुडकी दी, "बरा हूपा? पाँव चला कर आ।" मैं जल्दी-जल्दी चलने लगा। बहुत धीरे-धीरे किसी से मानो मैं कह रहा था, "उनका बुघार ठीक हो जाये। रोज मॉर्निङ्ग पाँक की उनकी आदत है। चल चुबह भी टहलने निकल पड़े। देख सँ। डाक्री ही दी हुई चीज है न। जरूर पहचान जाएंगे कलम वो। उठा लेंगे। बसम सब कुछ बता देगा। सुधीर मामा को पता चल जायेगा।"

\*

\*

\*

चारो ओर सब कुछ चुपचाप, धामोश, पर स्टेशन पर रौनक थी। सिर से पाव तक ढँके न जाने कौन तो सब सोए हुए हैं। दो छकरा गाड़ी और एब वही बपडे का घूँघट डाले टेक्सी, जो ट्रेन के आते ही, जितनी मरजो पेसेजरा को छूट कर, हम लोगो के उस मुफसिल शहर से जिसा-सदर तक धुर्भा घूम उछाती, थोडती रहती है। जिला सदर मे रेल नहीं है।

उस समय तक ट्रेन नहीं आयी थी। हम सोच पहुँचे ही थे कि डग डग डग पहला घटा बज पड़ा। मतलब यह रि गाड़ी आगे मे अभी ओर पन्द्रह मिाट की देरी है। गेस की बत्ती जलाकर बूढ़ा पान धाला, पान सगाये जा रहा है। ट्रेन आते ही प्लेटफाम की ओर दौड़ेगा, 'पान-थोडी सिगरेट।' मैं उसकी आवाज की बहुत मड़िया नकल उतार सकता हूँ। बाबा टिकट घर मे सामने खड़े हो गये। भीतर पटांग-पटांग की आवाज, लटक हुए टेलीफोन को कान से सगाये, उसके चोमे पर मुहू रहे, स्टेशन मास्टर बहुत दूर किसी वो हैलो-हैलो किए जा रहे हैं, बीच-बीच मे खट-खट टर-टक्का। निरचुप चारो ओर की नींद मे यह स्टेशन अपना गहमाहट, रोशनी बनसता और व्यस्तता के साथ किसी द्वीप की तरह जाग रहा है।



बाहुर प्लेटफार्म काफी शान्त था। प्लेटफार्म के दूसरे छोर पर सिगनल की खूटी। टिमटिम करती रोशनी। अचानक ऊँचे उठकर, फम से तारा बनकर आकाश में उठ जाना चाहती हो, जिस तरह कार्तिक महीने में आकाश प्रदीप चाहता है, पर उठ नहीं पाता है। इस सिगनल की रोशनियाँ भी नहीं उठ पा रही हैं। इच्छा को दबाये चिकचिक आँखों से देख भर रही हैं।

जिन लेम्पपोस्टो के शीशे पर स्टेशन का नाम लिखा हुआ है, उन्हीं में से एक के नीचे खड़ा हो गया। पास में ही एक बरबी पेड़ की झाड़ी, बहुत नीचे तक झुककर धीरे-धीरे साँस ले रही है। उसी हवा में हल्की-सी एक महक भी मिली।

बाबा का चेहरा ठीक देख नहीं पा रहा हूँ, हालाँकि वे बगल में ही खड़े हैं, पर मुह दूसरी ओर घुमाया हुआ है। शायद उधर से ही गाड़ी आये। इसलिए चेहरा देख नहीं पा रहा था। अस्पष्ट, अंधेरा घुमाया हुआ चेहरा, अचानक पता चला, कुछ बोल रहा है। कान लगाकर सुनते ही समझ में आ गया, एक प्रश्न मुझे ही, "मुझे तू क्या समझ रहा है रे? बदमिजाज खामखयाली, यही न? तुझे छीन कर लिए जा रहा है।"

अचानक बाबा घूम कर मेरी मुट्ठी दबा कर पकड़ लेते हैं, उनके हाथ काँप रहे हैं। मेरा शरीर भी काँप रहा है। यह तो कोई दूसरा आदमी है। एकदम दूसरी आवाज़, मैं इसे नहीं पहचानता हूँ। उस भाषावी मनोरम रोशनी में अभिसारी सिगनल की साक्षी रखकर, क्या वे बदल गए? अभी भा ठीक समझ नहीं पाया हूँ। उस क्षण उनके अंदर क्या घट रहा था? क्यों उस घुस्त-दुरुस्त आदमी का हाथ उस समय काँप रहा था। मुझे छीन कर ले जा रहे थे, जानकर भी क्या, हम दोनों के अकेले होते ही दूसरा आदमी बन जाना चाह रहे थे।

"मुझ तू पहचानता नहीं है। पहले देखा नहीं है। देखकर भी याद नहीं रहा है। बता तो मैं कौन हूँ?"

"बाबा!" मैं किसी गुब्बे की तरह बोल पड़ा।

"पर करता क्या हूँ? मैं कौन हूँ?"

धया करते हैं, उसकी कोई स्पष्ट धारणा मुझे नहीं थी। इसलिए जो मन में आया, वही बोल बैठा, "आप नाटक लिखते हैं न?"

"नाटक?" बरबी की झाड़ी के निष्वास के साथ एक और निष्वास मिसकर नि शब्द हो गया। "लिखता हूँ, पर इस बात का पता कितनी को है? कौन पढ़ता है? एकाध लोगो को बुलाकर सुनाता हूँ। इतना भर ही। बैसे तो सारी रचनाएँ बक्से में बंद ही रह गई, पढ़ने वाले पढ़ते जा रहे हैं। फटन लगे हैं।"

"प्ले होता नहीं है?" पूछ बैठा।

"कौन करेगा? दल चाहिए, रुपया चाहिए।"

अचानक माना दिमाग में जुड़ आ गयी। बोला, "बाबा किताब छपवाने से तो पैसा मिलेगा। इन नाटकों की पुस्तक नहीं बन सकती है?"

बाबा बोले, "घट् ! छापने के लिए भी पैसा चाहिए । मेरे पास पैसा कहाँ है ? टो-टा करके घूमता रहता हूँ, कहीं बँधता नहीं हूँ । हाथ में जो कुछ आता है, खच हो जाता है । जीवन में कभी कुछ जोड़ ही नहीं पाया ।" बाबा धीव-धीव कर बोल रहे थे, मानो बोलते हुए उन्हें तकलीफ हो रही हो । उस तकलीफ को मैं भी अपने बदन पर हवा के थपेड़ों की तरह महसूस करने लगा । "कुछ जमा-पूँजी तो है नहीं । कोई पहचानता नहीं है । खुद कौन आकर यह सब छापेगा ? इन सब बातों को तू नहीं समझ सकता है । मैं मैं केवल लिखूँगा, लिखता रहूँगा, छापेगा नहीं ।"

मेरे ही चेहरे पर आँख गड़ाये, बाबा बात कर रहे हैं । उनका मुँह अब फेरा हुआ नहीं है । पूरा दोष रहा है । भारी आवाज तहदार ठूँदी, दोनों भाँहों के बीच प्रवीण दो आँखें । उन्होंने जो कुछ कहा था, उसे अभी भी सुन पा रहा हूँ ।

"छापेगा नहीं, पर रहेगा । रख तो जाऊँगा ही । तू बड़ा होकर पढ़ना । और और स्वर सूखते हुए कपड़ों की तरह काँप रहा था । "और और तुझे अगर लायक बना सका, अगर तेरे पास कभी पैसा हुआ, तो तू छपवा देना ।"

बहुत क्लेश से, इसलिए बाबा ने रुक कर दम लिया । "एक स्मृति । किस तरह का पता है ? तू क्या समझेगा ? गिरा हुआ एक टुकड़ा कागज, कील या फिर टूटी हुई रस्सी । तुरन्त किसी काम में नहीं लग रहा है, फिर भी बहुत-से लोग सम्हाल कर रख देते हैं । इस खयाल से कि शायद कभी किसी काम में आ जाये । ये नाटक भी समझ ले उसी/तुम्हारी चीज है । आज शायद इसकी जरूरत किसी की न हो, इसलिए कोई पूछ नहीं रहा है, पर कहा तो नहीं जा सकता है, बहुत-बहुत मिनटों के बाद किसी की नजर पड़ गयी । आज जो चीज छारिख हो रही है, अचानक कभी वह बहुत जरूरी हो जाए, पर सम्हाल कर रखा रहेगा, तभी तो ?"

उस समय दूसरा घटा बज रहा था । खूब जल्दी-जल्दी । गाड़ी आने ही वाली थी । बाबा का चेहरा असहाय-सा, पर आँखें घक्-घक् जल रही थी । इनके घबराते हुए आग को उस तरह जलते देखा है । बहुत जल्दी-जल्दी सोहे का जो प्रकाण्ड बड़ा सामने के धक्कों को ठेलता है, उसी तरह अस्थिर पर सहसा शक्तिमान बाबा व्याकुल कण्ठों से कहते हैं, 'बादा कर, जैसे भी हो, तू इन नाटकों को छापेगा ?'

"वचन दे, वादा कर " उनके बड़े हुए माखून मेरी बाँहों में खुब रही हैं, उस तकलीफ से नहीं, शायद यूँ ही मैं चीखना चाहता था । घस्-घस-घस् कोयले के घून से टिमटिमाती रोशनी डूब गयी । गाड़ी आ चुकी थी । धक्कम-धक्का । कमरों के बन्द दरवाजे पर धक्के । एक दरवाजा शायद खुला मिल गया । घटघटाते हुए सब अंदर घुसा चाह रहे थे । मेरे हाथ बाबा की मुट्ठी में । सबसे आखिर में चढ़कर, दरवाजे का राड पकड़ कर हाँफ रहे हैं । उसी समय सुन पाया, बाबा बोल रहे हैं, "रहने दे ।"

रहने दे, मतलब न चढ़ू ? उनका हाथ ढीला हो गया है । छिड़की से मेरा

बक्सा, वापस मुझे थमा दिया। स्तम्भित-सा मैं क्या मुन रहा हूँ ? "तू रहने दे।" गर्दन बढ़ाकर बाबा मेरे बान में फुसफुसाते हैं, "मैं एक गलती करने जा रहा था। मैं आवाज़-मुसाफिर, धूमता रहता हूँ। तुझे भी वैसा ही बनाना चाह रहा था। पर तू अगर मेरे जैसा बन गया, तो फिर वेसे उन्हें छापेगा ?"

माना मेरे चले जाने से, उन निताबों को बोन छापेगा, इसलिए बाबा मुझे सहेजे जा रहे हैं और कोई कारण नहीं था।

\*

\*

\*

इजन पानी ले रहा था। गाड़ा छोड़ने में देर हो रही थी। न जाने किस समय वे टप-से नीचे उतर जाये थे। मेरे कंधे पर हाथ रखकर बोल रहे हैं, "जीवन में किसी को सुख नहीं दे सवा। तेरी माँ को भी नहीं। तुझे भी छीन लेने से उसके पास रह क्या जायेगा ? कुछ दे भले हाँ पाऊँ, पर सूँगा भी नहीं, तू लौट जा।"

कैसी तो एक करण मुस्कराहट उनके चेहर पर फैलती जा रही थी। सिगनल का रक्त-बधु उसी समय बोलस हो गया। वे धीरे धीरे फिर से पवित्रानी में बड़ गए। गदन घुमा कर बोले, "माँ से कहना क्या कहेगा ? तूरे पामछयाली बाबा का एक और कारनामा, यही न ? न हो तो बड़ी बोल देना। पर इतनी रात को तुझे धकेले लौटने में डर नहीं लगेगा ?"

दूटे दर में सीटी की आवाज़ उनकी आवाज़ को दबा गयी। सब कुछ डूबता जा रहा है। ये लोग-बाग, ओवरट्रिज, घुएँ के कोहरे में सब डूँक गया। बिराटवाय एक अजगर हिस्स-हिस्स करता हुआ चल रहा है। बाबा उस समय भी दरवाजे पर खड़े हैं या नहीं मालूम नहीं। आँख में बोयसे की किन्नी चुमने लगी है, देखूंगा किस तरह ? उन्हें देख नहीं पा रहा हूँ। टीन का बक्सा घुटने पर ठवठव करके सग रहा है। मैं गेट की ओर बढ़ चला।

डर ! घब, डर कहाँ है ? माथे पर बूद बूद पसीना। जीवा में शामद पहली बार मैं निबर होकर उतना रास्ता तय किया। इतना सम्बा रास्ता, इतनी जल्दी तय कर गया।

एक सभूषे दिन ने मुझे किसी गेंद की तरह इधर ॥ उधर उछालते हुए छाड़ दिया। डर नहीं लग रहा था।



माँ ! यहाँ से लिखने की स्याही थोड़ी बसल किस्म की, पता नहीं कैसे हो गयो ? बीच में कुछ दिन खाली गया है । वह वसम भी आज नहीं मिल रहा है । जब लिखने बैठा था, उस समय सोचा भी नहीं था, कि इतना बातें लिखने को है । यह सोच कर इस काम को उठाया था कि, यह एक कृत्य है । एक समापन । रोज सुबह हस्तपद प्रक्षालन के बाद, आसन बिछाकर आह्निक में बैठने की तरह, सनातन में एक-एक पुष्प निवेदन करता जाऊँगा, यही तो स्थिर किया था ? कुछ अपराध स्वीकार करूँगा । मुनो मुनो कहता हुआ आत्म उमोचन नहीं, उमोचन नहीं, केवल स्वयं का ही मोचन । ताप-सताप में आयु के इस हिमन्तु में हाथ-पाँव सँक लूँगा, यही सोचा था । पर तर्पण की वह परिश्रुति पूरी नहीं हो पा रही है । देख रहा हूँ, पन्ने पर पन्ने भरते जा रहे हैं, पर मैं लिख नहीं रहा हूँ । कोई लिखवा ले रहा है मुझसे । जैसे लिखने की मेज न होकर, प्यानबेट हो । अनुभव कर रहा हूँ, अमोघ एक शक्ति का दबाव और उसी का सकेत । कितना आश्चर्य है देखो इतने दिनों से इतनी जो कलाएँ सीखी हैं, वाक्चातुरी सीखा है, वह सब किसी काम में नहीं आ रहा है । गगन रहा है, हाथ ! सब कुछ भूलते जाना ही अच्छा है । सब कुछ भूल जाने में ही तो राहत था । सब कुछ भूलना तो पढ़ा ही ।

इतनी बातें कहो को हूँ । कुछ लोगो से समा माँग लेने की कातरता । कुछ लोगो का समा न कर पाने की असमता । उस दिन किसी सुहृद ने कहा, जिनके साथ थड़ा सहिब जुड़ नहीं पा रहे हो, उन लोगो के साथ घृणा में ही क्यों जुड़ोगे ? ये सारी बातें मेरे लिखने के तैवर को ही बदल द रही हैं । फिर इसके साथ हा बलान्ति भी है । रोज एक-एक, दो-दो के हिसाब से उत्सर्गपत्र लिखना सम्भव नहीं हो रहा है । फिर दोबारा बीमार पड़ जान के कारण भी कनम चलाना बंद रहा । इसे भी भाग्य के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? मैं, जो स्वयं को सोहे का बना हुआ समझता था, अपने खुद के शरीर का जिसने स्वयं ही लगातार धर्पण किया है, अनियम का वह प्रबल पण भी धीरे धीरे सुस्त पड़ता जा रहा है ।

मध्यमायु की मध्यरात्रि भी भयंकर होती है, यह अब पता चल रहा है, माँ ! सजा ? प्रायश्चित्त ? पता नहीं । ये सनस्त मध्यरातें, अचानक ही एक-एक दिन जाग

उठती हैं। शोर मचाती हुई घबरे दे देकर, आँखों का जलना, स्मृति, मेरे हुए पृष्ठ और इतिहास। सुराही उठेल कर गट्-गट् पानी का गिलास, अन्त में ठन-ठन गिलास। लगातार सिगरेट। हरिष्यनि देते हुए जो सब शववाही, पालकी-कहारों की तरह दौड़ जाते हैं, वे लोग इतने बर्षा भाव से नाहि-नाहि क्यों मचाते हैं? दरखस्त वे लोग भी डरते हैं, मृत्यु-भय। चित्सा-चित्सा कर भय को अपने से दूर भगाना चाहते हैं। आज मुझे मालूम है कि राह चलती टेक्सी खामखाह हार्न क्यों बजाती रहती है। क्यों रात का चौकीदार फुटपाथ पर जोर-आर से साठी ठोंकता है। डरपोक ईर्ष्या सूर वह अकेले जग रहा है न, इसलिए सबको उठा देना चाहता है।

यह सब मुझे अब मालूम पड़ गया है। निस्तब्ध रात को सुई तक गिरने की आवाज भी सुन पाता हूँ। आज मुखहीन हूँ, पर किसी किसी दिन परिचित लोगों की भीड़ आ जुटती है। विश्वरहस्य किसी ब्रह्म के डबकन की तरह ढँका रहता है। एकमात्र मनुष्य को ही वे बीच बीच में डबकन खोल कर थोड़ा-बहुत दिखाते हैं। अर्जुन को जिस तरह दिखाया था। सिर्फ अर्जुन ही नहीं, विश्वरूप किसी न किसी समय प्रत्यक्ष होकर, प्रत्येक मनुष्य के निकट ही व्यक्त होता रहता है।

पागल हो जाऊँगा। पर पागल हो जाना भी तो उतना आसान नहीं है। जो लोग हो जाते हैं, उनसे आज मैं ईर्ष्या करता हूँ। वे लोग अस्तित्व के अन्यतर एक छाया में सुस्ता रहे हैं, स्थान-काल की सीमा रेखा के बाहर।

जानती हो माँ। उस स्थान-काल की सापेक्षिकता की दिशा को मैं भी समझता हूँ। उस छोटी उम्र से ही सब कुछ समझने लगा था। जैसे, उस दिन उस स्टेशन पर खड़े होकर, जब अचानक देखा, एक कासखण्ड एक स्थान ने किस झटके के साथ एक व्यक्ति को किस तरह बदल दिया, बाबा को और तरह का हो जाते देखा। मन ही मन में वचन देता हूँ, उनके नाटको को छापूंगा।

\*

\*

\*

माँ, यहाँ एक स्वीकारोक्ति करने दो, एक स्वात्मन। वरना यह सब लिखने का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। बाबा के उन नाटकों को मैंने नहीं छपा, यद्यपि छाप सकता था। उनके पुराने बक्से में पांडुलिपियाँ रहती थीं। उसके बाद क्रमागत जगह बदलने, मकान बदलने के हृदकम्प में न जाने कहाँ खो गयीं। मैंने भी उन्हें खो जाने दिया, क्योंकि मैं जान गया था न, कि वह सब कुछ नहीं बेकार के नाटक थे। व्यर्थ।

उस दिन निश्चय ही मेरे अगोचर में कोई हँसा होगा। आज स्वयं भी नष्ट हो चला मैं इस बात को अच्छी तरह समझ पा रहा हूँ कि, मेरा वह अहंकार कितना भयानक था। मानो किसी न खजाने का रुपया नष्ट कर दिया हो। किसी अभिभावक ने मानो अपने पास पालित किसी और की सन्तान की हत्या कर दी हो। दत्तवाक्य हत्या का वह पापबोध, अक्षरीरों ककाल की भाँति मेरा अनुसरण करता रहता है,

“अरे ओ ! मेरो रचनायें ! कहाँ रखी हैं ? कहाँ फेंक दी हैं ?” कभी व्याकुल, कभी निर्मम प्रश्नों की बोछारें, कनपटियों पर चोट करने लगती हैं। माँ, मैं दर्द के मारे अपने दोनों कान बन्द कर लेता हूँ। फिर भी अट्टहास सुन पाता हूँ। प्रश्नकर्ता के साथ समय का स्वर एकाकार हो गया है। समय ने बाबा के बगल में मुझे सा खड़ा किया है। उनकी पाण्डुनिपियों के साथ ही अपनी रचनाओं की भी सिकुड़ कर उड़ जाते देख कर सिहर जाता हूँ। समान रूप से तापा हुआ न्याय उस दिन क्या मुझे पता था कि मैं भी एक परित्यक्त हो जाऊँगा, जोष, पुराना ? अमोघ देव समय का अर्थ हुआ मृत्यु मृत्यु से भरा हुआ एक भगाड !

\* ,

\*

\*

उसी दिन रात को दरवाजे पर लगातार दस्तक देने के बाद, अवाक सी तुम्हें मैंने क्या कहा था ? हाँफते-हाँफते क्या सिर्फ एक ही बात कह पाया था, “सौट आया है” तुमने क्या विश्वास-अविश्वास से आँखें रगड़ते हुए देखा था ? दबे स्वर में एक बार पूछा था, “वे कहाँ हैं ?” झककर देखा भी था।

“बाबा नहीं आये हैं। मैं अकेला हूँ।”

और उसी समय वह विस्फोट हुआ था। सीधी खड़ी तुम, अचानक आगे बढ़ आयी और फिर तड़-तड़ कई चोटों मेरे गाल पर पड़े। “अकेले आया है ! सौट आया है ? अकेला ही अकेला !” तुम्हारा स्वर असहज हो उठा था। उसके बाद यह क्या ? तुम्हें दोनों हाथों से मुँह ढँपे पागल की तरह फूक-फूक कर रोते देखता हूँ।

यप्यड के निशान गाल पर उभर आये थे। मुझे तकसीफ हो रही थी। गलत बात नहीं हो रही थी। तुम रो रहो थी। मैं नहीं रो रहा था। सहर्ष, सर्वाङ्ग से बल्कि उसी दिन जान पाया था, मैं, मैं ही हूँ। मैं दादा प्रपदा किसी और का दुष्मनी-कैट नहीं हूँ।

दूसरे दिन सुबह एक दीड में वहाँ पहुँच गया, जहाँ कलम फेंक आया था। वहाँ से सुधीर मामा के घर। नहीं, अभी ठीक नहीं हुए हैं। बिस्तर पर ही केवल उठकर बैठते हैं। फिर भी मुँह में कोई बात नहीं। एक तरह से उन्हें घसीटता हुआ अपने घर ले आया।

आगन में खड़े होकर सुधीर मामा काँप रहे हैं, मैं बड़े उत्साह के साथ नीम के पत्ते तोड़ रहा हूँ। सब कुछ ठीक पहले जैसा लग रहा है। सब कुछ ठीक पहले जैसा हो जायेगा। बीच के ये कुछ दिन बेकार के थे, यह जानकर निश्चित हो गया हूँ।

पर ठीक पहले जैसा तो हुआ नहीं। माँ ! तुम बात नहीं कर पा रही थी। सुधीर मामा भी नहीं। वे सौट गये, हालाँकि दूसरे दिन दोबारा सौटे भी। गये-आये, आये-गये। पर जाना-जाना पहले जैसा बात-बात में भर नहीं उठ पा रहा था।

वह फिर भी अच्छा था। बात न करना। पर एक दिन शायद महीने भर बाद, क्योंकि तब सारा दिन आकाश में बादल छाये रहते। शाम को अचानक बिजली चमक उठती। तुमने पता नहीं सुधीर मामा से क्या कहा कि, उनका चेहरा बिल्कुल राख जैसा हो गया। कैसे तो अप्रस्तुत, आहत, अचानक माना किसी चीज से ठोकर खा गये हों? तुमने कहा या कि उनकी नज़रा में कोई बात अपन आप आ गयी?

देख रहा हूँ, सिर्फ उनका चेहरा ही नहीं, स्वर भी विवर्ण हो जाता है। वे बोल रहे हैं, "क्या कह रही हो तुम आनू? इस बार भी? फिर से?" दुर्बोध्य, सक्षिप्त, साकेतिक कोई भाषा।

तुम आगन में बैठी हुई। दोनों घुटनों के बीच तुम्हारा मुँह बिल्कुल हूबा हुआ। उसी मुँह को धीरे-धीरे उठाया। कैसे तो अस्थिर-से हो रह हैं सुधीर मामा। उनका बुखार वापस आ गया क्या? सीखे पर अस्वाभाविक स्वर में बोल पड़े, "यह मैं सोच भी नहीं सकता हूँ। छि छि छि।"

बिनम्र-सी तुम अचानक फूफकार उठी। देख पा रहा हूँ तुम्हारी दोनों आँखें, उस समय सिर्फ आँख ही नहीं रह गईं गयी थी, खत्म हो आये तेस का कोई निया दप्-दप् जल रहा हो, पूरी शक्ति के साथ सारे सकोच को झाड़ कर पेंकते हुए तुम अचानक एक चीख हो गयी, "तुम्हे तुम्ह क्या?"

"मुझे?" सिर झुका हुआ है, सुधीर मामा का। मानो शर्म एक ठुकड़ा बपटा हो, जिसे तुमने अभी-अभी उनकी ओर फेंका है। वही बपटा उनके चेहरे से लिपट गया हो। अपने चेहरे से उसे हटाते हुए बोले, "मुझे? नहीं मुझे क्या? कुछ नहीं। पर सोच कर देखो, यह क्या उसके प्रति विश्वासघातकता नहीं है?" सुधीर मामा ने यहाँ दादा का नाम लिया। दुबले-पतले व्यक्ति हाँफ रहे हैं। उ-ह इतना ज्यादा गुस्साते पहले कभी नहीं देखा। सतत झगड़ते आँखें मानो छोटी हो गयी हैं। गुस्साने पर आदमी का चेहरा कैसा बदसूरत-सा हो जाता है। गुस्सा, बहुत बदसूरत बाज़ है। माँ! तुम भी क्या तुरन्त नाराज हो उठोगी? तुम्हारे पाँव पकटा हूँ माँ! तुम्हारी दोनों आँखें दप से जल कर हों भरी-भरी सी राख जैसी क्यों उड़ने लगी? दो बिलिनियाँ मोवा पाकर ठीक इसी समय मकान के पिछवाड़े झगड़ने लगी हैं—आह!

अभी कुछ देर पहले ही तुम्हें अपराधिन-सी, चार्मीसी-सी देख रहा था। वही शर्म ही क्या इतनी बेपरवाह हो गयी? इतनी जल्दी हो जाता है क्या?

"विश्वास-अविश्वास की बात कहाँ उठ रही है? कठ सो रही है, एव भूप, एक जवरदस्ती।"

"सिर्फ जवरदस्ती?" सुधीर मामा कैसे तो आवाज़ में बोल रहे हैं। दुबले-पतले गुस्से में। अपने हाथ की साठी की तरह ही सूखे हुए, मानों एक मृत हात हों। सुधीर मामा देखने में इतने बुरे हैं, यह उस दिन पहली बार महसूस किया।

“तुम्हे थोड़ा अलग बिस्म का समझा था आजू !” स्वर में जब नाराज़गी थी, उसी समय देखो आँखें कितनी करुण, मानों वहाँ वादल घुमड़ने लगे हों, उनके ब्रौघ को छीनते हुए तुमने कहा था, “मैं जो हूँ, वही हूँ।”

सुधीर मामा फिर रुके नहीं।

कुछ समय में नहीं आया। कुछ समय नहीं था रहा था, इसलिए दोनों में से किसी की तरफ नहीं हो पा रहा था।

कुएँ पर जाकर, मुह में पानी के छीटे दे आयी। अब तुम काफी शान्त हो। पर उस दिन ही तुम्हारा मुह बहुत उतरा हुआ देखा। तुम्हारी आँख के नीचे कालापन था, कितनी दुबला गयी हो माँ। तुम्हारे गले की हड्डी इतनी उठी हुई तो कभी न थी।

थोड़ा डगमगा रहा थी। आँगन के एक किनारे घटाई सपेट कर रखी हुई थी। उसे वही बिठाकर तुम लेट गयी। मुह थोड़ा-सा खुला हुआ। क्या बात ? हाफने क्यों लगी हो ? तुम्हारे आँख के बाने में एक बूँद खून का नहीं है। मैं दौड़ता हुआ आकर घप् से तुम्हारे पास बैठ गया। तुम अलसाई-सी पड़ी हो, फिर भी कौतूहल मुझे खायें जा रहा है। उसे दबा कर नहीं रख पा रहा हूँ।

“तू आज चावल घोंसा सकेगा ?” तुमने धीरे-धीरे पूछा।

“ले जाऊँगा माँ।”

“मैं ही उबाल दूँगा। थोड़ी-सी शपकी ले लू। आलू का चोखा, कद्दू का चोखा और बैंगन का भर्ता। प्या नहीं सकेगा ?”

बोला, “पूँव ब।”

“अच्छे बेटे हो। होगा तो दाल भी बना लूगी।” तुमने हाथ बड़ाकर मेरा माया लुआ। ठण्डा, पर कोमल, विश्वस्त हाथ सुकते हुए धोलता हूँ, “सुधीर मामा क्या बोल रहे थे माँ ? क्या तो विश्वास-फिरास ”

“तूने सुना है ?”

“यही तो था।”

क्या तो काँप उठे। तुम या तुम्हारे होठ ? थाब मूदते हुए तुम कहती हो, “मेरी तबीयत ठीक नहीं है न, इसलिए बाल रहे थे।”

तबीयत खराब होने की बात तो ठीक है, पर किसी की बीमारी के साथ विश्वास तोड़ने-फोड़ने का क्या सम्भव है, यही सोच रहा था।

“मैं बहुत बीमार हूँ, और ज्यादा बीमार हो जाऊँगी। दिन भर गला जलता है। खट्टी डकार, मिशेलो आती है, सिर चकराता है ”

“तुम थोड़ा-सा सो जाओ माँ। मैं तुरंत चावल घोंसाता हूँ।”

“ठहर, थोड़ा साफ कर दूँ।” तुम उठकर बैठ गयी। उस समय भी तुम जोर-जोर से साँस खींच रही थी। आँख झुकाकर, पुरानी बातों का सूत्र पकड़ते हुए कहती हा, “विश्वास ! विश्वास तोड़ने-फोड़ने की बात कहाँ से आती है ? तेरे



सुधीर मामा ऐसी ही बातें करते हैं। शुरू से दब्लू। कभी कुछ नहीं कहा। क्या। आज, अब मुह खुल रहा है।”

किसे सुना रही थी तुम ? मुझे या खुद को ?

“वे लोग सबके सब नासमझ ईर्ष्यालु हैं जैसे तेरे बाबा हैं, वैसे ही सुधीर मामा भी।”

तुम बोल रही हो न, इसलिए मेरी भी हिम्मत बढ़ रही है। पूछने का साहस कर पा रहा हूँ, ‘पर सुधीर मामा अचानक न जाने कैसे हो गए हैं ? तुरन्त चले गए। नीम का रस भी नहीं पिया।’

“घोड़ा पानी सा दे।” ला दिया। पीकर तुमने होठ पोछे। फिर अचानक, “पता है। तरा दादा वापस आ रहा है।”

क्या क्या क्या ? मेरे कान मेरे ही थे या किसी और के ? तुम्हारी आवाज़, तुम्हारी आवाज़ तुम्हारी या फिर किसी और की ? क्या सुन रहा हूँ ? क्या सुन रहा हूँ मैं ? असम्भव-सी एक घोषणा कर रही हो तुम। पर अगर कर ही रही हो माँ ! तो तुम्हारी पलकें झुकी हुई क्या हैं ?

“आ रहा है।” तुमने एक बार और कहा। इस बार स्वर में विश्वास था।

“जायेगा तो नहीं न !”

‘ऐसा ही हो, प्रार्थना करो।’ ऊपर की ओर देखते हुए मानों तुमने प्रार्थना की कि, “अब न जाए, कि अच्छी तरह आ सके।”

और कुछ सुनने की जरूरत नहीं है न। मैं एक कूद के साथ, दौड़कर कमरे में गया, दादा की तस्वीर के सामने। मानो उस फ्रेम के अंदर रुकना नहीं चाह रहा हो। सम्भव हो तो तुरन्त निकल आए। आने पर मैं क्या करूँगा ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। गले से लिपट जाऊँगा, जैसे पहले लिपटता था। पाब पर दबन डालकर, घोड़ा मुह उठाकर उसके कान पर मुह रखकर यह भी कहूँगा कि, “फिर वे लोग क्यों कहते थे कि तू स्वर्ग में है। तू भी देवता बन गया है ?”

“कौन कहता था ? माँ और सुधीर मामा” दादा के होठ हिलते हुए वे मानों सुन पा रहा हूँ। “वे लोग गसत कहते थे।”

“कहते दे।” दबे स्वर, दबी धुषी में उसे भरोसा देने के-लिए बोल ही बैठा, “दादा ! तू देवता था, फिर से आदमी बनेगा।”

और फिर सारा दिन, उमना-सा भीत जाने के बाद, उस दिन रात को ? तुम थोड़ी देर पहले ही सो चुकी हो। मैं बिस्तर पर कूद कर पहले तो क्या करूँ, क्या करूँ क्या सोचूँ, सोचता रहा। फिर अचानक तुम्हारे सीने में अपना मुह गंठा दिया, क्योंकि तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। अब और कोई दूसरी बात नहीं। दादा बाबा-मामा, किसी बे बारे में कोई धालोचना नही। तुम्हें लिपटा कर, तुमसे

लिपट कर फिर भी, एक ही प्रश्न कर पाया। अद्भुत था वह प्रश्न, “भा! दादा जाने पर तुम्हारे किस ओर सोयेगा ?”

\*

\*

\*

बाबा का पत्र आया। अचानक एक दिन एक पोस्टकार्ड—मेरे नाम से। मेरे नाम से लिखा हुआ वह पहला पत्र था। घुमा फिरा कर, उलट-पुलट कर न जाने कितनी बार पढ़ गया। तुम्हे भी दिया था। तुमने एक बार सरसरी तौर पर देखा, फिर पास में रख दिया। तारीख के ऊपर लिखा था, “जबलपुर”। वह कितनी दूर है, नक्शे में मिलाकर देख लिया। तुम्हें भी दिखाया, “देखो यहाँ है।”

पत्र में विशेष कुछ नहीं लिखा था। नया कोई नाटक-वाटक लिख रहे हैं कि नहीं, उस बारे में भी कुछ नहीं। सिर्फ कैसा है, तुम्हारी तबीयत कैसी है। अच्छी तरह से रहना। आदमी बनना होगा, यही सब। नर्मदा नदी, मार्बल रॉक के बारे में भी शायद एक लाइन लिखा था। स्मृति जिस तरह असग-असग कटोरे में बहुत कुछ रखती है, उसी तरह बहुत कुछ सिरप-बर्फ-पानी की तरह एक ही गिलास में डालकर कभी-कभी मिलाती रहती है।

पत्र में कोई पता नहीं दिया हुआ था। उत्तर देना चाहें तो कहाँ दें। उसका कोई उल्लेख नहीं था। इसी से मन में थोड़ा भ्रम रहा था। पहला पत्र मिला, पर उसका भी उत्तर देने का कोई उपाय नहीं, बाबा भी पता नहीं कैसे हैं? फिर से च हैं थोड़ा दूर-दूर, पराया-पराया-सा महसूस करता हूँ। अपना समाचार भेजकर ही सन्तुष्ट हूँ। हम लोग कैसे हैं, वह सब जानने की खरबत नहीं। मान लो मैं मर जाऊँ, दादा जिस तरह चला गया, उस तरह चला जाऊँ। उन्हें तो बताया नहीं जा सकेगा। जानने के लिये वे भी कोई खास उत्सुक नहीं हैं—निश्चिन्त, निर्विकार। मन ही मन में सोच लेता हूँ, तुम ही ठीक हो। उनसे बारे में जो कुछ कहा करती थी वही एकदम खाँटी बात थी—बाबा निष्ठुर, भयकर निष्ठुर और स्वार्थपर हैं।

\*

\*

\*

इस बीच बूढ़ा डाक्टर एक दिन आकर तुम्हें देख गया। तुम्हारी छाती-पेट पर टपोर देते हुए बोला, “अभी भी काफी देर है।” जब तुम फर्श पर निढाल-सो लेटी रहती, उस समय उसी पेट पर कान रखकर मैं क्या तो सुनने की कोशिश करता। सुनता रहता। दादा अब तस्वीर में नहीं, वहीं है।

मोहल्ले की बूढ़ी दासी एक दिन छबर से गयी। कमर पर हाथ धर कर, थोड़ी तिरछी होकर उसने तिरछी नजर से तुम्हें देखा। मिस्सी मिली थूक फेंकते हुए कहा, “दुर्! अभी तो सिर्फ दो-अढ़ाई महीना हुआ है। अभी से कालू हो गयी! तू बियायेगी कैसे ?”

मैंने उसका पीछा किया। तालाब के किनारे उसे रोक कर पूछा, "कितनी देर है?"

मौहें सिकोड़ कर उसने पूछा, "किस बात की?"

"याने-याने," मैं ठीक से बोल नहीं पा रहा था, हाँफ रहा था।

"तेरी माँ कब बिआयेगी, यही जानना चाहता है न?" बुड़िया का बात करने का तरीका कितना फूहड़ है। बिल्कुल मिस्सी मिले घूक की तरह। बुड़िया ने कहा, "अभी पक्का सात या छह साढ़े छह महीने बाकी हैं।"

"सगता है, तुम्हें हाथ देखना आता है।"

"क्या, विश्वास नहीं हो रहा? मुझे क्या भालूम नहीं है? कितनी बेटियों बहुओं को इस हाथ से पार किया है। तुझे भी किसने खसास किया था रे? मैंने ही।" अपने सीने पर उँगली देकर बुड़िया कहती रही, "भगियाँ तो पेट में धर कर ही खसास करती हैं। तुम लोग को खसास करती हूँ मैं।"

गुस्से से मारे मैं अघा हुआ जा रहा था। गंदी गालियाँ सुनकर मैं बोझा रहा था। जोर से सिर हिलाता हुआ बोला, "नहीं, उतनी देर नहीं है, कभी नहीं है।"

"रहा नहीं जा रहा न। देखू-देखू! बच्चे का मुह देखू तो एक बार।" बुड़िया बोली, "बट्टा। मरा क्यों जा रहा। जो शत्रु आ रहा है। आते ही तेरे हिस्से पर अपना हिस्सा बैठायेगा।"

मैंने मन ही मन में उसे एक गंदी-सी गाली दी। उस पटा नहीं है कि बाग आ रहा है। मारूँगा, उसे मैं मारूँगा। एक डेसा उठा लेता हूँ।

हाथ उठाकर बुड़िया ने अपना सिर बचाया। जाते-जाते बोल गयी, "तेरी मा का कच्चा-पक्का दिन है। रोज उसे परबस का पत्ता खाने हो दना। समझा? थू थू।"

पक्का सात या छह साढ़े छह महीना। याने पूजा-बुजा बीतने के बाद वही जाड़े में? बदन थोड़ा सिहर उठा। दादा गया था, वह भी तो उसी जाड़े में? जाड़े में गया, जाड़े में ही आ रहा है। दादा ही सौट रहा है, इस बारे में मैं तब बिम्बुन नि सशय हो गया।

जिस दिन तुम्हारी तबीयत ज्यादा खराब हो आती है डाक्टरखाने से दवा ले आता हूँ। गागुलीबादी की बुआ जी उस दिन आकर खाना बना जाती। आँचल से ढँक कर अचार ले आती। तुम खाती, मैं खाता, तुम ज्यादा खाती, बार-बार, ज्यादा-ज्यादा। सब आते हैं, पर सुघीर मामा कहाँ हैं? उ दाने खाना बंद क्यों कर दिया?

दादा चले गये। घर वहाँ, सब कुछ ठीक पहले जैसा तो नहीं हुआ? तबीयत थोड़ी समझने हो तुम कचरी लेकर बैठ जाती। मेरे लिए नहीं, यह मैं समझ गया।

था। बात नहीं होती थी, फिर भी तुम्हारे पास बैठता था। बार बार वही एक ही बात, "दादा आ रहा है माँ ?"

गर्दन हिलाकर "हाँ" कहती तुम।

"याने फिर से हम लोग तीन जन ?"

"तीनजन ?" हमी भरते हुए तुमने कहा था "पर वह न हा-सा होकर आ रहा है।" कथरी दिखाकर "इसमे सोयेगा।"

"न हा-सा होवर ?"

"न हा-सा।"

अपने को दवाकर रख नहीं पा रहा था, मैं। मन में जो विचार आया था, उसी का परखना चाहा। तुम्हारे मुह से सुनना चाहा। न हा-सा याने मैं होऊँगा "

"दादा।" मेरे गाल पर हल्के-से टकोरते हुए तुमने कहा, "और इस बार वह होगा तेरा छोटा भाई।"

एकदम उलट आयेगा। समझ रहा हूँ, फिर भी मानो विश्वास नहीं हो रहा था। वही, फिर भी थोड़ा दूसरी तरह का। क्या मजा ? जो भर कर शोध। पिछली बार का शोध लिया जायेगा। प्यार ठीक ही करूँगा। पर मान लो जब शैतानी करेगा, या फिर पड़ना गही चाहेगा, उस समय, उस समय क्या उसे मैं डादूंगा ? या फिर मौका मिलते ही फस्स से थोड़ा कान एँठना ? भँ से रो पड़ेगा। ऐसी की तैसी। पर अगर वह भी पलटकर मुझ पर हमला करे और फिर आँखें तरेरते हुए या फिर छमछलाते हुए बोले, "एई ! मैं पिछले जनम में तेरा दादा नहीं था।" माँ ओ माँ ! तुमसे कहता हूँ, क्या होन से क्या हाँ सकता है, तुम धाढ़ा समझा दो न।

पर गुधीर मामा न जाना बन्द क्यों कर दिया। दादा ही आ रहा है, शायद यह वे समय नहीं पाये हों। सगता है, उ ह बताना जरूरी है, बहुत जरूरी है। फिर रय का मेला भी तो नजदोक आता जा रहा है। अकेले कैस आऊँगा, इसलिए भी एक दिन, बहुत दिनों के बाद दोड़कर वह माठ पार कर गया।



पहचाना हुआ मकान, जाना हुआ कमरा। पर क्या देखा उस दिन? उस समय की भाषा को इस समय व्यक्त करना कठिन है। जो कुछ समझ पाया था, उस समय की समझ से समझाना, वह तो और भी कठिन है। पर एक बात थोड़ा बहुत समझ गया था। उस दिन सीटकर तुमसे कुछ भी नहीं बताया था। शायद कभी भी नहीं बताया।

सुधीर मामा सेटे हुए नहीं थे। बैठे हुए हैं एक आराम कुर्सी में। थोड़ी दूर से ही देख पाया था, देखकर आश्चर्य हो गया था, क्योंकि रास्ते भर जल्दी-जल्दी पाँव चलाते हुए आने के बावजूद, मन में थोड़ी हिचकिचाहट भी थी। बहुत दिनों बाद उनके यहाँ गया था न, इसलिये, क्या देखूंगा जाकर? फिर से बीमार हैं? सेटे हुए हैं, एक हाथ से सिर दबाये? उनके सिरहाने किसी ने पानी नहीं रखा? या फिर, हे भगवान! अगर ठीक हुए तो क्या बोलेंगे? मुझे देखकर क्या चेहरा खुशी से भर जायेगा? हाथ बढ़ाकर बोलेंगे, “आओ, इतने दिन आये क्यों नहीं?” मैं उस समय जो कुछ बोलना था, उसे भी मन ही मन में तय कर लिया, “आप भी तो इतने दिन से गये नहीं।” उसके बाद? पास खींचते हुए अगर घ्राण लेने लग गये, उस समय कैसा तो लगेगा। मुझे गुदगुदी लगती है। अगर पढाई के बारे में पूछा सोचता-सोचता मैं वहाँ पहुँच गया।

आरामकुर्सी में सुधीर मामा, आहट पाते ही गर्दन घुमा कर, हल्के-से एक बार हँसते हैं, पर कहा नहीं तो, ‘आओ?’ मैं पाँवपोश पर पैर रगड़ रहा हूँ। न बुलाने पर भी थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ रहा हूँ। कोई कारण नहीं है, फिर भी थोड़ा अटपटा-सा लग रहा है। सुधीर मामा ही हैं तो? महीन लुगी और जालीदार गजी बदन पर। पहले कभी उन्हें इस वेश में नहीं देखा था। हाथ में एक खीशा और छोटी-सी एग बैची। देखा सुधीर मामा ने हल्की-सी मूछ भी रखी है। उड़ी की तराश रहे हैं क्या? उनके बास हल्के ही हैं, फिर भी टेरी काटे हुए। अपने कमरे में जो आदमी पुस्तक में मुह गढाये पड़ा रहता था, वह कहीं चला गया? थोड़ी बाबू गिरी की महफ मिल रही है। एक बार सोचा। नहीं असल में सुधीर मामा खास हँस नहीं रहे, न बात ही कर रहे हैं, शायद इसी से सब कुछ अनग-बतग अजीब सा लग रहा होगा। मैं और भी उदास-बिखरे बास, और भी कमजोर हुए सुधीर मामा को देखना चाहता था। बगल में हालाँकि एक पुस्तक रखी हुई

यो। बंधो हुई मोटी। पर मेरे नजदीक जाते ही वे धौंक कर उसे जल्दी से हँप देते हैं। पता नहीं क्या था उस पुस्तक में? जानने के लिए मैं उतावला हो उठा।

अभी थोड़ा और अवाक होना बाकी था। दूसरी तरफ घूमकर मैंने देखा, सुधीर मामा के बायीं तरफ के कान के पास के जो बांस कच्चे-पक्के थे, वे इस समय बिलकुल बाले हैं। बाल भी छटे हुए। सब कुछ दूसरी तरह का। उन्होंने जरूर बाल बढ़वाये होंगे। बड़े पक्षी उड़ गये होंगे। पहले तुमने कितनी बार हँस कर कहा है, बया का घोंसला है उस सिर पर।

(वे सोंग चुन-चुन कर क्या खाते हैं सुधीर दा! तुम्हारा मगज? खोपड़ी तो बिचा-बुद्धि से ठसाठस भरा पड़ा है)

इसलिए क्या और तरह का लग रहा है? सफेद बाल कैसे कैसे हो गये? एक शीशी देख पा रहा हूँ। पास में एक ब्रश भी है। ब्रश की बूची में कासा रंग लगा हुआ है। काले बालों का रहस्य उसी में है या नहीं, जानने के लिए, ज्योंही झुका हूँ, सुधीर मामा ने त्योंही उसे जल्दी से उठा लिया। आज उनके हर काम में जल्दबाजी थी। सब कुछ छिपाना चाह रहे थे। अपने को भी। पीछे घूमकर मैं भी एक कधी से अपने बालों को खींचता हूँ। ज्यादा कधी फेरने से वे डँटा करते थे, उस दिन शायद समझ ही गया था कि, आज नहीं डँटेंगे, इसलिए खींच खींच कर कधी बसा रहा हूँ। दुख रहा था। डँटा नहीं, देखकर तकसोफ हो रही थीं।

रैक पर रखी किताबों के पास ही एक डब्बा था। एक साल रंग के तेल की शीशी थी। अनधीम्हा-सा गन्ध। पहचाना हुआ था सिर्फ बिस्कुट का वह डब्बा। खोलकर मुह में डाल लेता हूँ। कुछमुठ की आवाज सुनकर उन्होंने सिर्फ मेरी ओर देखा, कहा कुछ नहीं। क्या उन्होंने हमेशा की तरह कहा था, “खा रहा है? और एक खा ले?” नहीं, वह भी नहीं।

बोला नहीं रहे हैं, कुछ भी नहीं बोल रहे हैं, हालाँकि वैसे ही सहज-स्वाभाविक हैं। कैसा हूँ, कैसा था, कौन कैसे हैं, माना रोज ही आता हूँ। आज भी आया हूँ, बोस म कुछ नहीं है, कुछ नहीं हुआ है। पर बाहर थोड़ा सा शब्द होते ही धौंक जा रहे हैं। एक बार भीतर के बरांडे से निकलकर झाँक कर देखा भी, पर कुछ बोस नहीं रहे हैं। तो क्या वे किसी का इंतजार कर रहे हैं? किस आना है? कौन आ सकता है? उनका तो कोई खास दोस्त भी नहीं है। कुछ बोस नहीं रहे हैं। पलंग पर ताण बिखरे पड़े हैं। किसके हैं? उस ब्रुश और शीशी को इस समय कहाँ छिपा दिया है? उसमें क्या है देखना है। कुछ भी नहीं बाल रहे हैं। मैं एक बिस्कुट और खाऊँगा—मैं चला जाऊँगा।

दादा ही आ रहा है, यह सुधीर मामा को बताया नहीं जा सका।

\*

\*

\*

मैंने तुम्हें बताया नहीं, बताना चाहा नहीं क्योंकि बताने शायद कुछ था

नहीं। फिर भी माँ, पकड़ा गया। किस तरह, उसकी कोई विस्तृत व्याख्या आज भी नहीं दे सकता हूँ। आज की बातचीत के सिवा भी हम दोनों के बीच एक तरह का सांकेतिक, कूट-गूढ़ भावों के आदान-प्रदान की असंग भाषा थी। इशारे में भी बातें होती थी? छिपाया कुछ भी नहीं जा सकता था। छिपा रहता भी नहीं या कुछ। मेरा चेहरा देखकर ही जिस तरह तुम बता देती थी कि उस दिन स्कूल में क्या हुआ। डाट खाई या नहीं। यहाँ तक कि एक दिन बाहर से मीठी सुपारी खारर आने पर पकड़ा गया। किस तरह पकड़ाया उसकी कोई सटीक व्याख्या आज भी नहीं दे सकूंगा। आपस की बातों के सिवा भी हम दोनों में वैसा तो एक सांकेतिक, कूट गूढ़ किसी भावों के आदान-प्रदान की असंग भाषा थी। आँखों-आँखों में बातें होती थीं? एक लम्बे अरसे तक मेरी काफी उम्र हो जाने तक, यह असौक्य शक्ति तुममें थी, मानो मन्त्रबल हो। आज जिस तरह मैं किसी भी कठिन से कठिन पुस्तक को पढ़कर समझ लेता हूँ, उसी तरह उस समय बेटे का चेहरा देखते ही पढ़ लना, तुम्हारे लिए असाध्य नहीं था। मन ही मन में गर्वित होता, गर्व के साथ एक प्रकार का भय भी मन में समाया हुआ था—मेरी माँ जादू जानती है, यहाँ तक कि जब किस मैदान में घूम कर आ रहा है, वह भी पाव का धूल देखकर बता देती हैं।

पाठोपार करने की तुम्हारी वह क्षमता न जाने कहाँ बंध चुप्ट हो गयी। उम्र की अधिकता ने छीन लिया क्या? या कि मेरी उम्र ने ही उस छीन लिया था? बड़ा होकर खुश हो चलाकी पूर्वक, आहिस्ता-आहिस्ता, तुम्हारे लिए अनजाने एक सिपि में अपनी आँखों की दृष्टि और चेहरे की रेखाओं को लिख लिया था। उस समय ऊपर के होठ पर मूँछें उभर आयी थी। ठुड़ी पर हल्की हल्की दाढ़ी, आँखें घसी हुई फसा हुआ जबड़ा, और गाल पर ढेर सारे मुहासे। शुद्ध शुरु में नये पाठ के आरम्भ होने के सूनपात से, मैं स्वयं भी भयातुर हो उठा। जिस दिन स्वर भग हुआ, वह भी मानों कोई अपराध हो। मेरा ही अपराध। सोचा था, अदरक और नमक के गरम पानी से गरारे करने से ठीक हो जायेगा। घट। कुछ भी नहीं हुआ। तुमने कहा, डरने की कोई बात नहीं। बय सघि काल में सबका ऐसा ही होता है। बड़े होने की पहली कीमत क्या कण्ठस्वर है? जो कुछ जाने साथ लेकर पैदा हुआ है, उनमें से बहुत कुछ जिस तरह खोता चला जाता है, मसलन दूध के दाँत। उसी तरह स्वर, आवृत्ति के साथ प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के साथ विभिन्न प्रकार के विश्वास, भरोसा, प्रेम इत्यादि सब कुछ अपना रूप बदल लेता है।

लेर, ये सारी बातें तो आयेंगी ढेर सारे ज्वार-भाटा खेल जाने के बाद। उस दिन लेकिन तुमने मुझे पकड़ लिया।

“क्या कहा रे?”

“कोन?”

“तेरे सुघोर मामा ने?”

“कुछ नहीं।”

“बात नहीं की ?”

बिल्कुल कुछ नहीं बोले होने से तो कोई बात ही नहीं थी, पर सुधीर मामा ने बात तो की थी। गड़बड़ी तो सारी बही थी। पर वह कोई बातचीत करने सायक बातें भी नहीं थी। जैसे, इतने दिन आये बयो नहीं। वे बयो नहीं आ पाये। पहले की तरह अगर एक भी बात की होती, पहले की तरह कोई एक भी चीज देख पाता, तो उस दिन मेरे अंदर ही अन्दर भापाहीन जो सारी बातें उचलने लगी थी, वे नहीं उचलतीं। जो कुछ मैं स्वयं ही नहीं समझ सका, उसे कैसे समझा सकता हूँ ?

पर तुम खुरच-खुरच कर सब कुछ निकाले जा रही थी।

“कुछ खाकर आया है बहा से ?”

बोला, “बिस्कुट !” होठों के किनारे घूरा उस समय भी रागा हुआ था।

“खुद दिया था ?”

निश्चर रहा। तुमने तब मुई घागा और कयरी को परे रख दिया, “क्या कर रहा था ?”

“करने क्या ? किताब पढ़ रहे थे।”

सुधीर मामा की आदतों में पहचाने हुए उस आदत को सुनकर तुमने मानो थोड़ी चैन की साँस लेकर, सहज होकर बैठ गयी। “यही तो उसका स्वभाव है। एकदम किताबी कीड़ा। तुम्हें कुछ पढ़कर सुनाया ?”

“नहीं तो ?”

थोड़ा अवाक-सी तुम, सौना-सुमफ का हिसाब न मिलने पर जिस तरह बेचैन-सी हो जाती हो, उसी तरह थोड़ी बेचैन हो उठी। मुई दोबारा उठाते हुए कहा, “लगता है कोई कठिना पुस्तक होगी। तुम्हें सुनान लागप नहीं होगी।”

माँ ! उस दिन मैंने पुस्तक वाली पूरी बात तुम्हें नहीं बर्ताई थी। सुधीर मामा थोड़ी देर के लिए बाहर गये थे। ठीक उसी समय मैंने शुक कर उस पुस्तक के पन्ने उलट दिये थे। कठिन थी कि नहीं मालूम नहीं, पर वे तस्वीरे ! एक के बाद एक तस्वीरे ! मा, उस समय भी उहात समय में गमछा नहीं बाधे रहता और तुम अगर अचानक कुछ घाने कुएँ के पास आ जाती, तो मैं फौरन कुएँ की आड़ में चला जाता था। हाथ हिला-हिलाकर अस्थिर होता हुआ कहता रहता, “बसी जाओ, हट जाओ तुम,” या फिर तालाब के किनारे तुम्हें देखकर। माँ, तुम्हें देखकर भी फौरन नजर केर लेता था।

वे सारी तस्वीरे, एक के बाद एक तस्वीरें ! लगता है मानो मेरी आँखों को जलाकर जुबान तक सुखा डालेंगी ! तुम्हारे पेट में पड़ी हुई आधी तिरछी रेखाओं तक की ओर मैं ताक नहीं पाता था, अभी-हे वे सारी साज-सज्जा विहीन शक्लें और भगिमाएँ ! सहजत भापाहीन, व्याख्याहीन, बोधशक्ति तो मूक प्राणियों में भी होती है, मैं भी तो उसी जायु का प्राणी हूँ, फिर भी अनुभव करता हूँ कि वे सारी भगिमाएँ अरलीस हैं, उन लोगो की दृष्टि कम से कम तुम्हारे जैसी ता नहीं ही है। कान में



हाथ देकर महसूसता हूँ, गर्म ! थूक कितना घना ! छि । मुझे बुखार हो गया क्या ? वह तो अच्छा हुआ कि कुछ सेकेण्ड की वह बात रही । सुधीर मामा लौट आये । उससे पहले ही मैंने पुस्तक बन्द कर दी थी । बिल्कुल पहले की तरह रख दिया था । पर बिल्कुल पहले जैसा रह नहीं गया सिर्फ मैं ।

तो इसका मतलब यह हुआ कि सुधीर मामा अकेले मेरे सब विचारों पर पड़ते हैं ? पढ़ते नहीं हैं देखते हैं याने पहले नहीं देखते थे, अब देखने लगे हैं ।

उस दिन अगर तुम एक के बाद एक प्रश्नों की बीछारे न छोड़कर सिर्फ हाथ बढ़ाकर मेरा छूकर देखती, मेरा शरीर गर्म पाती । घुस-घुसा बुखार सा था मुझे । फिर इसके सिवा बालों को कासा करने वाली शीशी । ब्रूश में लगा हुआ कासा रंग । कासापन सुधीर मामा के तमाम चेहरे पर । तब पर फैला हुआ पाउडर, सुगंधित तेल । माँ ! मेरा जो कैसा-बैसा लो करने लगा । उल्टी-सी आने लगी थी ।

तुम्हें बता नहीं पाता था । कारण तो बताया न तुम्हें । एक ऐसा अनबोध ज्ञान जो मुझे साफ-साफ बताए दे रहा था कि वह सब तुम्हें बताया नहीं जा सकता । बताना ठीक न होगा । तुम्हें तकलीफ होगी । बल्कि उस तकलीफ को मैं अकेले ही झेलूँ । कोई भी सड़का किसी उम्र में हमारे समय में अपनी माँ से वह सब बातें नहीं कर पाता था । यहाँ तक कि बड़े होकर भी नहीं । पर देखो, किस तरह फटाफट तुम्हें सब कुछ लिख दिया ? वह वस्तु, जो सख्त, शुष्क, सिरहनुदार था, जिसका नाम बाद में शात हुआ, यौनताबोध था । सज्ञान में मेरा पहला यौनताबोध ।

(स्नोत स्नोतपाठ करना तुम्हारा बंद नहीं हुआ था । हाथ का बुना हुआ आसन बिछाकर नित्य बैठती थी । मैं समझ नहीं पाता था कि जब ठीकीयत ठीक नहीं है, तब भी तुम क्यों रोज भोर में नहाकर ठण्ड लगाती थी । फिर यह सब तो तुम्हारा दादा के जाने के बाद से ही शुरू हुआ था । वही दादा ही जब वापस लौट कर आ रहा है, तो फिर यह सब क्यों ? या फिर अपनी बाव की उम्र की एक कठोर सन्देह की बात तुम्हें बताऊँ ? तुम्हें पता था कि दादा सबकुछ का नहीं आ रहा है सिर्फ मेरा मन बहुलाया था, वह सब कहकर । इसलिए दादा के कल्याण के लिए मात्रपाठ के साथ साथ तुम्हारा कपरी पाने का भी काम चल रहा था ।)

मैंने कुछ भी नहीं बताया । पर कानाफूसी में बातें दबी कहीं रही । मैंने तो मान लो निबोध सहानुभूति के कारण तय कर लिया था कि तकलीफ को ही झेलूँगा । अनेक बच्चे सेना अथवा बच्चे के कारण अनेक पढ़ जाने का अभ्यास मुझमें उठी समय से जड़ जमाने लगा था । अनेक वेदनाएँ होती हैं, जो किसी से नहीं जा सकती । बहने से भी कोई साम नहीं होता है, इसलिए सोचकर देखा है, मेरे कपि में जहाँ एक ओर केल जाने का बहिर्मुखी भाव है, वहीं दूसरी ओर सिमट कर अन्त मुँधी हो जाना भी है । जैसे कोई शीशा, एक ओर सफासफ काँच, पर दूसरी ओर पारे में लिपा हुआ अव्यक्त ।

मैं सुधीर मामा ने यहाँ जाया करता था जाता रहा । कैसा तो एक अनबोध

मुझे वहाँ बार-बार खींच ले जाता। नहीं उस कमरे के अंदर नहीं, बाहर सड़क पर। आसपास वही। खड़ा होता देखता, जितना जो कुछ देखा जा सकता था। एक व्यक्ति किस तरह अलग हो गया, मुझे, हम लोगो के मकान को छोड़कर? और उसे क्या मिला? अथवा वह क्या अलग था भी? जो आदमी सुग्री पहनता है वैसी सब तस्वीरो वाली किताब रखता है, वालों को रगता है, फुनगे निकालता है, वह क्या कोई भाड़ था, या फिर बहुरूपिया? जो गुनगुना कर गाता है, भजन नहीं और कोई गीत! वह सब क्या उसे पहले से आता था?

मकान के अंदर जा सकता था, पर गया नहीं। उस दिन उ होने मुझे डाँटा थोड़े ही था। पर वह न डाँटना ही, भावलेखही निर्विकार चेहरा ही मानो कुछ भी न हुआ हो, बाधक होकर खड़ा हो गया। प्यार नहीं करते हैं, मुझे अब और प्यार नहीं करते हैं। प्यार नहीं करते हैं, उसका भी कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं था। पर प्रमाण न रहना ही मानों उनकी गलती थी, जो मुझे अंदर तक हिलाती रही। मानो अपने खेल की टीम का खिलाडी किसी दूसरी टीम में चला गया हो। विश्वास तोड़ने-बोड़ने की बात उसी दिन सुधीर मामा ने कही थी न? उनका इस तरह बदल जाना भी तो एक तरह का विश्वासघात ही था? अभी तो कुछ दिन पहले भी बाबा जब यहाँ आए थे, माँ! तुम और बाबा एक तरफ हो गए थे। मैं और सुधीर मामा दूसरी तरफ। मनो आम्ने सामने दो टीम हो। पर अब क्या हुआ? मेरे दिल में काँई भी नहीं रहा। क्या करूँ? मैं अकेला पड़ गया हूँ, या कि मन ही मन में बाबा के दिल में चला जा रहा हूँ। यद्यपि तुम भी हो, पर तुम तो सबको हा। जो मित्र बन सके, साथी बन सके सबको का, कम से कम उस तरह का एक सबका तो चाहिए ही।

यह जो उस आदमी को देख रहा हूँ, जो सुधीर मामा थे, पर सुधीर मामा तो वे नहीं हैं। इतने दिनों तक दूसरा रूप था। जहाँ दबा हुआ था वह रूप? अब और स्थिर स्थित दुखी तो नहीं लगते हैं। खासे मूर्तिवान, उतने दुबले भी नहीं दिखते हैं, और न ही असह्यम। बल्कि अच्छे खासे सख्त मजबूत एक व्यक्ति! कोई प्रमाण नहीं है, फिर भी एक वैसी धारणा गढ़ ली थी। मैं मानो तभी से कोई बूढ़ा कुम्हार रहा होऊ, जा मिट्टी से मूर्ति गढ़ता है, मनपसंद न होने पर तोड़ता है। मैं भी उसी तरह एक मूर्ति तोड़कर, बिल्कुल मिट्टी का लावा बनाकर, एक दूसरी मूर्ति गढ़ ले रहा था। पर उसकी असली मूरत छुपी हुई थी। उसने मुझे ठगा था। उस बहु-रूपिये ने।

पर बताया न, कुछ भी तुम्हारी आँखा से नहीं छुपता था। तुम क्या कहानी की वही जादूगरनी थी, जो हाथ के स्फटिक पत्थर पर नजर टिकाये सब कुछ बता देता थी। किसी तीसरी आँख से तुम्हे पता चल जाता था कि कहाँ मैं मोका पाते ही दौड़ जाता हूँ। बदन में पसीना, पाँव में धूल लिए तुरंत वहाँ से भागता हुआ लौट रहा हूँ।

पर उस दिन माँ, तुमने बेकार मे ही मेरा झोटा पकड़ा। तुम्हारी तो तबीयत खराब थी न ! जम्हाई से रही थी और बार-बार सेट जा रही थीं। कुए के पास जाकर बार-बार आँख में पानी धा छोटा दे रही थी। अचानक तुम्हारा उठना नाराज हो जाना उचित नहीं था। सोच भी नहीं सकता कि मेरे बदन पर तुम हाथ उठा रही हो। अवाक होकर ताकता रहा, इसलिए ठीक समय पर सिर नहीं हटा पाया था। अपनी मुट्ठी में बास पकड़ कर बार-बार झिझोड़ रही हो। बेर तोड़ते समय जिस तरह हम सोग डाल हिलाते हैं, ठीक उसी तरह। दर्द के मारे मैं पसरा गया। शरीर को यन्त्रणा तो थी ही, एक असम्भव घटना के कारण मन में भी यन्त्रणा थी। गोद में बैठे हुए पिनूक से जब दूध पिलाते समय मारती मारा क्या नहीं है या फिर न सोने पर सोरी सुनाना बंद करके जब एक चाँटा जड़ती

जल्द जडा होगा वह सब तो मुझे याद नहीं है। पर होश सम्हालने पर कभी तुम्हारे हाथ का हल्का चाँटा भी खाया हूँ, क्याल नहीं पड़ता। स्टेशन से जिस रात को अचानक सीट आया था, उस रात का घण्टा अलग किस्म का था। वह तो कोई मार नहीं थी, अपने कल्पनातीत आह्लाद के कारण फुलझड़ी हो जाना था।

(स्वयं हा जो बैठे-बैठे बिस्मृत के हाथों मार खाता रहता है, वह तो स्वत ही मिट्टी में समाया हुआ है अथवा सठ गया है उपासना से, वह भला दूसरे को क्या मारेगा !)

इसलिए उस दिन चोट महसूस हुई थी। देखे जा रहा था, सुधीर मामा की तरह तुम भी अलग हो गयी क्या ? जिस माँ को जानता हूँ, तुम क्या वह माँ नहीं हो। सब कुछ क्या बदल जा रहा है। सब कोई ?

“क्यों जाता है ? क्यों जाता है वहाँ तू ? उसने भी क्या तुम पर जादू किया है ?” दाँत से होंठ दबाये, होंठों के किनारे झग।

“जाता तो नहीं हूँ सिर्फ खड़ा रहता हूँ। सब पर।”

“जाता नहीं है ? सिर्फ खड़ा रहता है ? इसका मतलब उसने तुम पर भी जादू किया है।” बासों का गुच्छा छोड़कर तुमने हाँफने हुए कहा।

‘कौन ? सुधीर मामा ?’

तुम अवलक देखे जा रही थी। कला त-सी। थोड़ा-थोड़ा निहाल-सा भी होती जा रही थी। “नहीं, वही-वही बदमाश औरत। तूने उस जल्द देखा होगा।”

बोला, “मैंने किसी का नहीं देखा है माँ।”

अफवाहें तुम्हारे भी कानों में आयी थी। कलास म भी इन सब बातों की चर्चा होती। उस समय सारी बातें समझ में नहीं आतीं। हम लोगों में माजिक जो बंद म हम लोगों से बड़ा था, एक दिन वह खूब रस ले लेकर अपने हमजोलियों से बोला रहा था। कोई-कोई तिरछी नजर से मरी और देखे जा रहा था। एक ने मुझे ठेसते हुए कहा, “क्यों रे। तेरे सुधीर मामा तुम्हारे यहाँ रोज आते हैं तो ? बात नहीं है ?” बोला था, “नहीं।” उसने कहा, “एकदम बंद है ?” सिर हिलाया।

तब "हैं, है जायेगा कहीं से ? घोघे ने पाँव काट लिया है न ।" घोघा क्या चीज है, समझ नहीं पाया था । सोचा था, सुधीर मामा के पाँव में घोघे-दोघे के काटने का कोई निशान तो नहीं दिखे !

इधर-उधर की चर्चा तुम्हारे भी कान में आयी थी । "देखा नहीं है ? तूने उसे देखा नहीं है ?"

"नहीं तो ?"

"पर माँ, तुमसे मैंने झूठ बोला था । उसे मैंने देखा था ।"

मुँह में झूठ था । पर मेरी आँखों में उस समय एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी में एक के बाद एक खरगोश दौड़े जा रहे थे । उसी तरह की एक तीसरी झाड़ी के बाद एक तस्वीर । सुधीर मामा बाहर निकल रहे हैं । मैं पेड़ की छाड़ में क्षुब्ध से छिप जाता हूँ । दरवाजा खोलने के बाद दो कदम आगे आकर कौन पीछे हट गया ? इसे तो पहले कभी नहीं देखा । जो बुढ़िया उनके यहाँ पानी भरती है, चूल्हा ठोक कर देती है, उसे मैं पहचानता हूँ । काली दासी है वह । घुघुसा-सा जिसे देख पाया, वह कोई दूसरी थी । माँ से रंग थोड़ा दबा हुआ, पर उम्र माँ जितनी ही, बल्कि थोड़ी छोटी ही होगी । हर कोई इस समय बदल रहा है, पर कालीदासी के लिए इतना ज्यादा अपना हुलिया बदल लेना क्या संभव होगा ? शायद नहीं ।

"घटिया औरत, बदमाश औरत !" आँगन में ही बैठ कर मुह ढाँपे तुमने कहा था । "लोगा की बातें अब सुनी नहीं जाती ।"

मैं पेड़ की छाड़ से निकल कर न जाने कब सबक से होता हुआ, एक खुली खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया था । खिड़की से झाँककर देखता हूँ—यही तो है वह । दरवाजा खोलकर बाहर निकल आयी थी जो, वही न ? काफी चौड़े काले पाँव की साड़ी, भरे भरे गाल वाला चेहरा, आँखें सूजी-सूजी सी । पर आँख क्या किसी की इतनी काली होती हैं । क्या इसी से कहते हैं, काजल अजी आँखें । पर काजल तो बच्चे आँजते हैं । मुझसे भी छोटे बच्चे । वे लोग याने लड़कियाँ भी भला काजल पहنتी हैं । मैंने तो कम से कम देखा नहीं है । पर चेहरा मिला कर देखने पर देखा जायेगा कि गोलगाल मुह के नीचे की ओर झगमगा लम्बोतरा-सा वह मुह किसकी तरह है ? ठीक-ठीक अब याद आया, ताश में देखे हुए बेगम की तरह । "सुना है दखन में काले मेंढक की तरह, एकदम हाथी के बच्चे की तरह ।" माँ कौन बोल रहा है यह सब, तुम ? अगर तुम बोल रही हो, तो मैं वहाँ हूँ ? कहीं हूँ इस समय ? किसीकी आवाज सुन रहा हूँ ? पर वह देखो वह तुने तुरन्त बुला रही है । दाँत के बीच में कासा फोटा दबाए, एक हाथ में किस तरह दो जगलियाँ धूमा-धूमाकर, सोने के सामने लाकर चोटी बाँध रही हैं, दूसरे हाथ से इशारे से मुझे बुला रही है । मैं जा रहा हूँ । बुलाया क्यों है ? तू कौन है ? वहाँ क्यों खड़ा है ? सुधीर मामा घर पर नहीं हैं ? वे मेरे मामा हैं । तरे मामा ? यान तेरी माँ उनकी बहन है ? बहन या दोदी ? बेसी बहन लगती है रे ? यह तो मालूम नहीं । वे भरे मामा हैं, सुधीर मामा ।

आपको तो पढ़ने कभी नहीं देखा। मैं ? मैं आयी हूँ, यही रहती हूँ। रह रही हूँ। पर कालीदासी ? हटा दिया उसे कब का। दो जन तो कुल प्राणी हैं। ऐसा भी क्या काम रहता है ? मैं अकेली ही कर सकती हूँ, फु मेरी कलाई। हाथ कितने मोटे हैं। देखा है तुमने। तेरे सुधीर मामा भी मरोड़ नहीं सकते हैं, बल्कि एक दिन उनका ही हाथ पट से मुचक गया था। पर इतनी बातें क्या पूछ रहा है ? देखने में तो भीगी बिल्ली की तरह हो। पर छोकरे। तू तो बड़ा चालाक है। तेरे पेट में इतनी शैतानी है। मेरे पेट से बात निकलवाना चाहता है। भाग, अब भाग यहाँ से, नहीं ठहर। दौड़ कर उस दूकान से मेरे लिए सुर्ती ला दे। यह से दो आना। हाथ फैला, मैं यही से फेंक रही हूँ। हाथ फैला न। “हर समय कहते हैं मुह में पान का बीड़ा ठसा रहता है, पर है बिघवा।” माँ। थोड़ा रुको न रुको न। दो तरह की आवाज से मेरा दिमाग गड़गड़ा रहा है। देख नहीं रही हो, सुर्ती-पत्ता लेकर भागता हुआ आकर मैं हाँफ रहा हूँ। खिड़की ऊँची हैं, वहाँ से देगा कैसे रे ? ओ छोकरे। तू भीतर आ जा। आ न। ओ माँ। कुन इतने ही ? बुझू देखकर तुझे ठग लिया है। तुझे जसा समझा था, तू वैसा नहीं निकला। एकदम होशियार नहीं है, दूकानदार भी ठग निकला। उसे आने दो शिकायत करूँगी। “उसे-उसे कहा क्यों ?” बात सुनो, फिर भला क्या कहूँगी। क्यों सुधीर दा। दा ? दादा मेरा बच से हुआ ? वो मेरा दादा-दादा नहीं लगता है। ओ फिर ? बताने से तू समझ पायेगा ? उसका रिश्ते में एक ममेरा भाई है। वह मेरे जेठ लगते हैं। “आपकी शादी हो चुकी है ?” माँग सूती देखकर पूछा है ? इस सत्र में देख रही हूँ, तू बहुत कुछ जान चुका है। शादी ? हुई थी। यानि मैं बिघवा हूँ। ‘छी छी, इस सत्र में जिध गोबर गणेश समझती रही, वह गणेश नहीं चूहा है। गणेश का वाहन चूहा। वह भी पूस का बना हुआ’—कौन यह सब बोल रहा है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। सुनना नहीं चाह रहा हूँ। देख नहीं रही हो, उसने मेरे दोनों गाल अभी अभी दबाया है ? ताक का सिरा भी। इस्त। दबाने से अभी भी दूध निकलता है। सुर्ती-पत्ता ला दिया, तुझे क्या हूँ, बता तो। बताशा खायेगा ? बताशा ? और उसके साथ ठण्डा पानी या फिर नीबू का शरबत ? कितनी ठण्ड है। अभी थोड़ी बात मत करो। एक ठण्डी सहर, सीने के भीतर उतरती जा रही है। “आपको क्या कहकर बुलाऊँ ?” मामी। मामी बोल सकता है। नहीं मामी नहीं, फिर कोई कुछ बोल बैठेगा, बल्कि मासी बहुर बूलाया कर। और जब जब मेरा सुर्ती-पत्ता खत्म हो जाया करे, ला दिया करना, रोज आना।

तुम्हें मैंने यह सब कुछ भी नहीं बताया था। उस दिन न जाने किस तरह मुह से झूठ निकल गया। बताया नहीं भी था और एव तरह से बताया भी था। रात को सोते समय, मन ही मन में या फिर नींद में, सपना। उसे मैंने देखा है, दया है। उधरे हाथ का बना हुआ शरबत पिया है। इसके बाद भी और दो दिनों तक छागी-

मोटी फरमाइश में पूरी करता रहा। कभी सुर्ती, कभी बाल बाँधने वाला फीता। सब कुछ तुम्हें उस तरह बताकर हल्का हो गया हूँ। तुम सुन मले ही नहीं पायी हो। पर न बताता तो उस दिन सोता कैसे ?

और तुम ? पहले मेरे बाल मुट्ठी में पकड़ा, फिर ठसाठस चाँटा जड़ दिया। पर मैं रोया तो नहीं, बल्कि तुम खुद ही मुझे पूछताछ करते समय, आवाज में बड़बड़ाहट घोलते न जाने क्या-क्या कहते हुए रो पड़ी थी। तुम्हारी आँखों से ऐसा पानी बह चला कि, रुकने का नाम ही न ले। बहुत आश्चर्य हुआ मैं, मेरी आर से तुम ही रोने बैठ गयी ?

“बदमाश औरत, खराब औरत,” आँगन में ही बैठकर, मुह ढपे, तुम यह सब बोल रही हो। तुम शायद सोच रही थी कि वह सब स्वगत भाषण था, कोई मुन नहीं रहा होगा, पर मुन रहा है। उस दिन समझा नहीं था, पर बाद में एक दिन उसके सामने सब कुछ साफ हो गया था।

“इस तरह वह बदला ले रहा है, इस तरह।” सिर झुकाए, स्वर और भी मध्यम। तुम बोले जा रही थीं। “मले ही मोहल्ले के बाहर है, फिर भी इतना साहस की सबीयत खराब के वहाने किसे साया, और साकर उसे रख दिया ?” तुम फुफ्फुकार रही थीं। “रख देना” शब्द पर उतने भदे ढग से जोर देने का भी क्या मतलब हुआ ?

“हार गयी हूँ।” एकदम अठ मे तुमने बहुत आहिस्ता से कहा, “मैं हार गयी हूँ। यह सह नहीं पाया, इसलिए बदला लेने के लिए मुझे हरा दिया।”

उस दिन समझ नहीं पाया था, उस दिन अगर समझ पाता तो तुम्हें घुरस्त कह देता, “माँ ! हार तुम नहीं गयी हो, सुधीर मामा गए हैं। सुर्ती में आसक्त किसी को लाग पड़ा उसमें सोलह आने जीत तो तुम्हारी ही है।”



बड़ा है ? वही होगा, वरना धारो और से सर-सर की आवाज क्यों आ रही। एक साथ सिंगुर बोलने लगे हैं। बाहर नहीं मेरे मस्तिष्क के भीतर। नारियल के पेड़ की छाया एक बहुत बड़े कछुवे की तरह, मुह हिलाती चली आ रही है। तुम्हें ढँक देगी, उठो जल्दी उठो। नहीं तो मैं भी ठीक तुम्हारे पास ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ूँगा।

कितनी देर बाद, कितनी देर बाद देखा कि तुम आँख खोल रही हो। एक हाथ, धीरे से मेरे माथे के ऊपर आ गया। आँख के इशारे से तुम मुझे उठो के लिए कह रही हो। आँख के इशारे से ही समझ कर तुम्हें गिलास में पानी देता हूँ। तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं, पर गटागट एक ही साँस में पूरा गिलास खाली कर देती हो।

“यहाँ स्वर्ण सिंदूर है, हमाम-दिस्ता भी है। कूट कर ला सकोगे ?” जागने के बाद वही तुम्हारा पहला कठ स्वर था। नहीं सकूँगा भना। तुम लौट आयी, वरना न जाने कहाँ हूँब गयी थी। अक्सर पोखर में जिस तरह डुबकी लगा जाती हो। काफी देर तक सिर नहीं निकालती। पानी के नीचे मैं तुम्हारे गोम होकर फूँसी हुई साड़ी देखता रहता। उठ नहीं रही हो, अभी भी उठ नहीं रही हो। क्यों। डुबकी लगाकर क्या तुम नीचे से मिट्टी निकाल लाना चाहती हो ? पर नीचे तो डेर सारे सतागुल्म हैं। उनके बीच अगर कहीं फँस गयी तो तुम निकल नहीं सकोगी। हाथ में तुम्हारे ही सूखे कपड़े धामे, मैं घर घर काँप रहा हूँ।

वही डुबकी लगाकर, डराने वाला मजा पाने वाला खेल क्या आज भी तुमने खेला। येला है अगर, तो चला ठीक है। इस समय तुम थकी हुई हो। तुम्हारे मुह से आग निकल रहे हैं। घोंकनी की तरह साँस ले रही हो, पर लौट तो आयी हो न। तुम लौट आ सकती हो, और मैं थोड़ा-सा स्वर्ण सिंदूर कूट कर नहीं ला सकता। घर के काम में मैं अनाड़ी हो सही, पर मुसीबतों ने मुझे काम करना सिखा दिया है।

मैं बड़ा हो रहा हूँ। इस बार के रथ के मेले में मैं एक दिन के लिये भी नहीं गया।

पर बड़ा हो जाने के बाद भी मोड़ की तरह कभी बभार बात करने की मेरी आदत गयी नहीं। अभी उसी दिन तो खल से स्वर्णसिंदूर चाट-चाट कर खाने के बाद, मैंने फुसफुसाते हुए तुमसे पूछा था, “माँ, ये सोच तुम पर चढ़ क्यों गये थे ? पादा आ रहा है इस लिए उठे जलन हो रही है ? सह नहीं पा रहे हैं ?”

तुम हँसी थी। अभी भी याद है हँसी पीली, मधुर और मृत्यु की तरह ही थी। खल को हटाते हुए कहा था, “मैं पागल अब ज्यादा दिन जिन्दा नहीं रहूँगी, वह आयेगा नहीं, शायद मुझी को अपने साथ ले जाये।”

तुम्हारे मुह पर हाथ रखते हुए मैंने कहा है, “छुप, छुप। छुप करो।” और हाथ हटाते हुए तुमने कहा, “पर मेरा मन केवल यही कह रहा है। वरना





पर तुम मुझे ब्रमशा डराती गयी। जान लगता है, वैसा तुम जानबूझकर करती थी। कभी-कभी ऐसा समय आता है, जब जीवित रहना किसी बुदबुद की तरह लगता है। एक फूक मारो और फटास। इससे किसी का कुछ भी नहीं बनता बिगड़ता है, क्योंकि बुदबुद का कोई मतलब नहीं होता है, बल्कि उस अर्थहीनता को टिकाये रखना ही यातनादायक है। मानो मेहनत से हल किए गए किसी सवाल को मास्टर साहब ने फाटकर वहाँ एक बड़ा-सा शू य बैठा दिया हो।

तुम्हारे चेहरे पर भी एक बारीक-सी सपेद पर्त पढ़ने लगी थी। ठीक सूखे हुए घाव पर नयी त्वचा के अस्तर पढ़ने जैसा। गौर किया, तुम ठीक से जा नहीं रही हो। गागुलीबाड़ी की बुआ ने एक दिन कहा, 'तुम्हें इतनी अचंचि हुई है दवा मंगा कर लाओ।' दवा मँगवायी भी जाती, पर तुम खाती नहीं।

पड़ोस की बुआ जी की तरह मुझे इस बात का विश्वास ही नहीं हुआ था कि तुम पर भूत-प्रेत खड़ा होगा ओझा ओझा बुलाना बिल्कुल याहियात है। फिर पाठने फूकने के जो किस्से सुने हैं, वह सब तुमसे बरदाश्त नहीं होगा। फिर भी एन पिन मंत्र-पढ़ा पानी ला दिया। बुआ जी के कहे अनुसार एक दिन बड़े बाड़ी के मंदिर के पीछे जाकर एक टुकड़ा पत्थर बाँध आया। उधर के झाड़ अखाड़ में साँप-वाप, सियार, जिसकी आँखें चिक चिक करती हैं, धूत-धूसर नेबले और फिर इधर-उधर छिपे हुए कटीले पीधे। नगे पाँव जाने से पाँव खुजलाते हैं, जसते हैं। फिर भी तुम्हारे लिए मैं कहीं नहीं जा सकता हूँ। पड़ोस की बुआ जी ने सिखा दिया, मनीती मानने के लिए। किस तरह वह सब करते हैं, क्या पता? माथे पर हाथ रखकर देवता से यह कहना, 'माँ का ठीक कर दा?' यही न। शुद्ध ढग से न करने पर पाप होगा। होता है तो होने दो। होने पर तो मेरा ही होगा न। पर मा पहले जैसी ही बन जाये।

मनन मान कर लौटा हूँ। शाम अभी पूरी तरह उतरती नहीं है। कमरे में घुसते ही यह क्या? बिखरे बाल, डयोटी के ऊपर तुम बिल्कुल चित लेटी हुई। अस्त व्यस्त कपड़े। माँ! तुम्हारी छाती भी ऊपर नीचे नहीं हो रही थी।

एक पीछ के साथ मैं भी उठग-सा तुम्हारी छाती के ऊपर आ गया हूँ। फूँव मार रहा हूँ, पानी का छीटा दे रहा हूँ। यह सब करने के लिए किसने कह दिया, भालूम नहीं। शायद फिट पढ़ने पर यही सब किया जाता है। कही देखा होगा। भूत

बड़ा है ? वही होगा, वरना चारो ओर से सर-सर की आवाज क्यों आ रही। एक साथ झिगुर बोलने लगे हैं। बाहर नहीं मेरे मस्तिष्क के भीतर। नारियल के पेड़ की छाया एक बहुत बड़े कछुवे की तरह, मुह हिलाती चली आ रही है। तुम्हें ढँक देगी, उठो जल्दी उठो। नहीं तो मैं भी ठीक तुम्हारे पास ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ूंगा।

कितनी देर बाद, कितनी दूर बाद देखा कि तुम आँख खोल रही हो। एक हाथ, धीरे से मेरे माथे के ऊपर आ गया। आँख के इशारे हैं तुम मुझे उठने के लिए कह रही हो। आँख के इशारे से ही समय कर तुम्हें गिलास में पानी देता हूँ। तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं, पर गटागट एक ही साँस में पूरा गिलास खाली कर देती हो।

“यहाँ स्वर्ण सिंदूर है, हमाम-दिस्ता भी है। कूट कर ला सकोगे ?” जागने के बाद वही तुम्हारा पहला बड़ा स्वर था। नहीं सकूंगा भला। तुम सीट आयी, वरना न जाने कहाँ डूब गयी थी। अक्सर पोखर में जिस तरह डूबकी लगा जाती हो। काफी देर तक सिर नहीं निकालती। पानी के नीचे मैं तुम्हारे गोस हारर फूली हुई साड़ी देखता रहता। उठ नहीं रही हो, अभी भी उठ नहीं रही हो। क्यों। डूबकी लगाकर क्या तुम नीचे से मिट्टी निकाल लाना चाहती हो ? पर नीचे तो ढेर सारे लतागुल्म हैं। उनके बीच अगर कहीं फँस गयी तो तुम निकल नहीं सकोगी। हाथ में तुम्हारे ही सूखे कपड़े धामे, मैं घर-घर काँप रहा हूँ।

वही डूबकी लगाकर, डराने वाला मजा पाने वाला खेल क्या आज भी तुमने खेला ! खेला है अगर, तो चला ठीक है। इस समय तुम थकी हुई हो। तुम्हारे मुह से क्षाय निकल रहे हैं। धोकीनी की तरह साँस ले रही हो, पर सीट ला आयी हो न। तुम सीट आ सकती हो, और मैं थोड़ा-सा स्वर्ण सिंदूर कूट कर नहीं ला सकता। घर के काम में मैं अनाड़ी हो सही, पर सुतीबतों ने मुझे काम करना सिखा दिया है।

मैं बड़ा हो रहा हूँ। इस बार के रय के मेले में मैं एक दिन के लिये भी नहीं गया।

पर बड़ा हो जाने के बाद भी भादू की तरह कभी बभार बात करने की मेरी आवत गयी नहीं। अभी उसी दिन तो चल से स्वर्णसिंदूर चाट-चाट कर खाने के बाद, मैंने फुसफुसाते हुए तुमसे पूछा था, “माँ, वे लोग तुम पर चढ़ क्यों गये थे ?” “बड़ा आ रहा है इस लिए उ हे जलन हो रही है ? सह नहीं पा रहे हैं ?”

तुम हसी थी। अभी भी याद है हँसी पीली, मधुर और मृदु की तरह ही थी। चल को हटाते हुए कहा था, “मेरा याद अब ज्यादा दिा जिंदा नहीं रहूँगी, वह आयेगा नहीं, शायद मुझी को अपने साथ ले जाये।”

तुम्हारे मुह पर हाथ रखते हुए मैंने कहा है, “चुप, चुप। चुप करो।” और हाथ हटाते हुए तुमने कहा, “पर मेरा मन केवल यही कह रहा है। वरना

पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ है। शरीर इतना दुर्बल, इस तरह मूर्छा आ जाना, बड़े रहना।”

“तुम छुप क्यों नहीं होती हो? अगर तुम सुरत छुप नहीं होती हो, और बेकार की बदसगुनी बातें करती ही रही, तो मैं छाऊँगा नहीं, सोऊँगा नहीं। इतनी रान को भी बरगद के पेड़ के नीचे जाकर खड़ा हो जाऊँगा, उसके बाद भूत-बुढ़े सब उतर आये, आने दो न। मैं परवाह नहीं करता। तुम तो चाहता था यही हो न?”

बैठे ही हाथों के बल घिसटते हुए तुम मेरे पास सरक आयीं। “सब कह रही हैं, बिल्कुल सब। सुन न छिपकसी की आवाज। बता न क्या होगा अगर मैं मर जाऊँ।”

माने तुम दादा के पास ही जाना चाहती हो। मैं तुम्हारा कोई भी नहीं। अभिमान से फूले हुए हाठों से, भरी हुई आँखा से यह सब कहा नहीं, लिखा जा रहा था। मेरी पीठ पर तुमने हाथ रखा है, पर मुझे नहीं चाहिए, तुम्हारा यह हाथ दुन्दार। हटा लो, हटा लो सुरत।

हाथ फेरते हुए फिर भी तुम, या तो मुझे दुख देने के लिए, अथवा अपना दुख छेकने के लिए कहे जा रही थी, “अगर मर ही जाऊँ, भगवान अगर मुझे अपने पास बुला ही लें, तो उससे तेरा क्या बिगड़ेगा

(नहीं मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा),

तेरे बाबा आकर तुझे ले जायेंगे, लिखना-पढ़ना सीखोगे। बड़े होवोगे, तेरा एक प्यारी सी दुल्हन होगी।

(दुल्हन! तुम्हारे बिना। पर अपनी जैसी ही एक प्यारी-सी किसी और की तस्वीर तुम उस समय से ही बनाती जा रही थी। एक अलग किस्म की अनुभूति, उस समय तक कोई कामना नहीं, सिर्फ सुन्दर-सी एक कामना),

सब मुझे भूल जायेगा न?

“भूल गये तो भूल गये,” तब तक तुम सम्मल चुकी हो, और हल्के स्वर में हँसना शुरू कर दिया है। मजाक करके शरीर-मन की व्यथा के ऊपर बादर तान देना, “भूल गये तो भूल गये, मैं उस समय कहा रहूँगी। देखने तो आऊँगी नहीं! देखूँ, जरा चेहरा तो देखूँ। ऊँहें थोड़ी बहुत भी याद नहीं आऊँगी? कभी-कभी, बीच-बीच में। क्या याद करोगे कि, मेरी एक माँ थी। वही तेरी कहानी की किताब की दूसरी रानी, गोयठे वाली, जिसने सबको सिर्फ दुख ही दिया। सब को तग किया। तुझे, तेरे बाबा को—सुघोर मामा को और खुद भी जलती-कुदती एक दिन घम हो गयी।

(छूठ-छूठ। मुझे कुछ भी याद नहीं आयेगा।)

“याद आयेगा रे, याद आयेगा। नि तुम्हें ठीक से खाने को नहीं देती थी, क्यों ? तेरे बात भट्टी में पकड़कर तुझे मारती थी, क्यों ? जाड़े के दिनों में भी जबर-दस्ती तुझे पकड़कर नहला देती थी। मछली का काटा ठीक से निकाल नहीं देती थी। इसलिए गले में कांटे चुभ जाते थे। और भी क्या-क्या, सब इसी समय बता दे रे। पता चल जाये, उस समय तो मालूम नहीं पड़ सकेगा न। एई। आँख पोछ जल्दी। तुने देखा नहीं, तेरे बाबा किस तरह गटगट चलते-फिरते हैं और उ ही का बेटा होकर तू इस तरह की रोनी सूरत बनाये रहता है। छि देख रही हूँ, तुझे दुल्हन बनाकर तेरी शादी करनी होगी। नाक में नथ, सिर पर घूषट, देखू-देखू कैसे दीखोगे।

(खबरदार वह देता है, अपना आँचल मेरे सिर पर बाँधकर, घूषट बनाने मत आना)।

उछल कर दूर हट गया हूँ। दरवाजे पर पीठ टिकाये। उँगली उठाकर तुम्हें धमका रहा हूँ रो कहाँ रहा हूँ। झूठी कही की। तुम्हारी आँखों की शरारत का अपनी आँखों में थोड़ा-सा भर कर मैं भी दखा हँस पड़ा हूँ। दख नहीं रही हो ?

सुर्ती का पत्ता हाथ में लेकर वह बोली, “यही आखिरी बार है। तुझे अब शायद मेरे लिए दुकानों में आना-जाना न पड़े।”

“छोड़ देंगी ?”

खिलपिला कर हँसती हुई वह बोली, “इस जगह का ही छोड़ जाऊँगी। यहाँ टिपना डूबर हो रहा है।”

इसका मतलब वह कह रही है, वह चली जायेगी। इसका मतलब यह कि फिर से सब कुछ पहले जैसा हो जायेगा ? मेरे अन्दर कुछ घुमबने लगा था। थोड़े आल्लाह से, तो थोड़ी उदासी से भी। तुम्हें ठीक-ठीक समझा नहीं सकूँगा। पर अब बहुत अच्छी तरह समझता हूँ। मैं खुश जरूर हुआ था कि, मन ही मन जो मैं चाहता था कि, ‘चली जाये वह चली जाये।’ तुम्हारी वह आँखों की तिरछी बातों का छीटा मेरे भी मन के एक हिस्से में आ गया था। इसलिए “उसके चले जाने से सुधीर मामा फिर स हम लोग के हो जायेंगे।” इस आशा के ऊपर मन बार-बार उड़ कर जा बैठता था। कबूतर जिस तरह बार बार छप्पर और आले के तन्दर घुस कर अण्डे के ऊपर जा बैठती है।

(यह भी उसी उम्र की एक और बेवकूफी है। प्रकृति में जो कुछ देखता हूँ, जीवन में भी उसी की प्रार्थना करता, धुन्ध छंटने के बाद जिस तरह पेड़-पौधे फिर से स्पष्ट हो जाते हैं, बाद का पानी उतर जाने के बाद, खेत-मैदान-आगत फिर वैसे के वैसे ही हो उठता है। बरसात अभी नहीं कि आकाश फिर से धूप से शिसमिला उठा। उसी तरह सब कुछ उसी तरह, कोई घटना घट कर, थोड़ा-बहुत इधर-उधर

वह बोल रही थी, "उस पेड़ पर वे लोग चढ़ कर बैठे रहते हैं। नहानघर की ओर ताकझाक करते रहते हैं, सोच कर देख, उस समय मेरे बदन पर कपड़े नहीं होते हैं। परसों जाना सुनने गये थे, वे थोड़ा आगे बढ़ गये थे। पता नहीं कौन लोग मेरा पीछा करने लगे। घप्-घप्-घप् पांव की आहट। बाप रे! सोचते ही छाती घड़कने लगती है। सुना-सुना कर सीटी बजाना, और क्या चटकीले गाने! घर के पास आते न आते, जो होगा सो होगा सोचकर दौड़ने लगी। साकल चढ़ा दिया था, फिर भी घर-घर काँपती रही। वे लोग खिड़की के बाहर से जाते-जाते, सब दुरो का दल, जोर-जोर से बाल गया, "तुमने उस पर टोटका किया है। तुम्हारा हिस्सा हमें भी चाहिए। तू इन सब फूहड़ बातों का मतलब समझता है?"

हल्के से झूठे को उसने अचानक खोल दिया। घमोरी नहीं थी, फिर भी पता नहीं क्यों गले के ठीक नीचे चुजसाती रही। "तेरे सुधीर मामा को सारी बातें बतायी। वे कैसे भीगी बिल्ली सरीखे हैं, भासूम है न। एक दिन मजाक में खिजाब की भीगी छुपा कर मैंने रख दिया। बेचारे की कितनी दुदशा हुई। दूसरे दिन सारे बाल नये उग आये के पत्तों की तरह तावे की तरह दोखने लगे। जो हुसिया बना न उनका, एक बार अगर देखता न तू! घूम-घूमकर, लगभग रंगते हुए-से दू दो, दे दो, कहते हुए मुझसे चिरोरी करने लगे। उस जाना में जिस तरह कृष्ण राधा के पास घुटने मोड़कर कह रहा था ठीक वैसा ही। खैर, उस कदर जो भीगी बिल्ली सरीखे हैं, वह भी सब कुछ सुनते ही बोला, "भामती! यहाँ नहीं रहना है।"

भामती! उसका नाम भामती है। मुझे मामी मासी कहने के लिए कहती। छोटी-छोटी जुम्हाइयाँ भरती हुई वह हाथ घुमा-घुमा कर हवा कर रही थी। घाट के किनारे बैठ कर हाथ से छोटी-छोटी सहर्षें उठान की तरह। बोल रही थी, "यहाँ कचहरी का काम अच्छा ही चल रहा था। ज्यादातर तो छुट्टियाँ ही रहती हैं। फिर सुना है, पहले लड़कों को अपने यहाँ बुला-बुला कर पढ़ाया करते थे। घर में अंधेरा रखकर मस्जिद में दीया जलाने का पागलपन अब नहीं है। यह अच्छा ही हुआ। खैर कोई बात नहीं, मर्द आदमी है, पढ़ा-लिखा है। दूसरी जगह जाकर भा गुजारा कर लेगा। दो जनों का पेट सेता ही कितना है? यहाँ चला सकेगा तो मुझे क्या? जहाँ से आयी थी, वहीं चली जाऊँगी।"

'लौट जायेंगी? यहाँ सुधीर मामा के पास नहीं रहेंगी?'

"नहीं रच पायेंगे, तो क्या किया जायेगा? यहाँ के पाजी लोग हम तारों के पीछे पड़ गये हैं। सीटी मारत हैं। देला पेंकते हैं। अच्छा बता तो, वे कह रहे थे कि देला पेंकने वालों में स्कूल के भी कुछ छोकरे हैं?"

"हो सकता है।" मैं बोला।

"एक दिन घर से निकले थे। हेडमास्टर को कहने के लिए। पर सोच आये छिमिआये हुये-से। बता तो क्यों? पहले दिमाग में बात आयी नहीं थी, बा" म घ्यास धाया, जाकर कहेंगे क्या? फिर तो यह भी बताना होगा कि मैं कौन हूँ।"

और फिर केंबुवा निकालने की कोशिश में साप ही निकल आयेगा।" वह जिसका नाम भामती है और थोड़ी देर पहले जिसका आचल हाथ पड़ा था, उसी को मुँह में ठूस कर अपनी हँसी रोक रही थी। "केंबुवा निकालने जाओ तो साप निकले, ही ही," हँसी का इस्तेमाल वह कोमा-सेमी कोसोन की तरह कर रही थी।

"समझे कुछ। तेरे सुधीर मामा इसी लिए लौट आये, जाकर सिर हिला-हिलाकर बाले, "कोई उपाय नहीं है। नहीं होगा तो हम सोग यहाँ से चले ही जायेंगे।"

'खोरो की तरह' कहते समय उसका चेहरा अचानक उदास हो गया। आवाज भी बंद गयी। हालाँकि अभी भी वह हँस रही थी। पर उस समय मैं उसकी आँखों की ओर देखकर समझ नहीं पा रहा था, कि वह चिकचिक क्यों कर रही हैं? यह सब कुछ जो वह कहे जा रही है, मजाक या ठिठोसी है, यानि हँसी पेट में दबाने के कारण ऐसा हो रहा है? या फिर यह तकलीफ़ शरीर के एक अंग में, जो पेट के काफी ऊपर होता है, बहा हो रही है? और शायद इसी से उसकी आवाज बंद गयी थी?

यह सब मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा था भी, इसलिए मुझे भी बन्ट हो रहा था। वह हँसमुख भामती, जिसकी चाल ढाल एकदम तुम्हारे विपरीत थी, क्षणाश में उसे 'तुम' हो जाते देखा—तुम्हारी तरह। उसने चेहरे पर तुम्हारी छामा पड़ रही थी। कहाँ से जाकर तुम उस बँक पे रही थी, चमकते हुए चाँद के ऊपर बादलों के झीन पर्वत की तरह। तो उसकी भी आँखें छलछलाती हैं, भामती की भी? बड़ा आश्चर्य है।

बाद में सारा जीवन इस तरह के धूप-छाव बहुत देखें। किसी भी मनुष्य को लगातार किसी एक ही धारणा के संचि में फिट बैठ जात नहीं देखा। थोड़ा के पात्र का अचानक ही अधिकार पदा उजागर हो जात देखा है। देखकर सिहर उठा है। इसी तरह धूप-छाव चलता रहा है। मनुष्य कितना बहुरूपिया होता है। नहीं, नहीं बहुलता कोई नहीं होता है, हमो सोग उसे अनेक रूपा में देखने हैं। सम्पर्क का तो सिर्फ बाह्य ही स्पर्श होता है, आंतरिक सम्पर्क का कोई चिरस्थायी बन्दोबस्त नहीं है। ज्वार-भाटा, फिर ज्वार।

इस दर्शन की सूचना आयु के प्रातःकाल में ही मिल जाती है। सिर्फ उस समय खीर कर देखने की दृष्टि नहीं होती है। मुने भी मिल रही थी। कितने फकीर अपने घुँघर अलछल्ले के आदर से पक्कम करके स्फटिक निकाल कर दिखा देत हैं, और कितनी कुहकिनियाँ के अन्तर्वास की दुर्गंध भव-से नाक में सगते हो, मुँह धुमाना पड़ा।

ठीक इसी तरह, बाबा एक दिन स्टेचन के नीचे अंधेरी रोशनी में बितने

वह बोल रही थी, “उस पढ़ पर वे लोग चढ़ कर बैठे रहते हैं। महानगर की ओर ताकझाक करते रहते हैं, सोच कर देख, उस समय मेरे बदन पर पपड़े नहीं होते हैं। परसा जाना सुनने गये थे, वे थोड़ा आगे बढ़ गये थे। पता नहीं कौन लोग मेरा पीछा करने लगे। घप्-घप्-घप पाँव की आहट। बाप रे! सोचते ही छाती घड़कने लगती है। सुना-सुना कर सीटी बजाना, और क्या चटकीले गाने। घर के पास आते न आते, जो होगा सो होगा सोचकर दौड़ो लगी। साकल घड़ा दिया था, फिर भी घर-घर काँपती रही। वे लोग छिड़की के बाहर से जाते-जाते, लब-डुरा का दल, जोर-जोर से बोल गया, “तुमने उस पर टोटका किया है। तुम्हारा हिस्सा हमें भी चाहिए। तू इन सब फूहड़ बातों का मतलब समझता है?”

हल्के से फूड़े को उसने अचानक खोल दिया। पमीरी नहीं थी, फिर भी पता नहीं क्यों गले के ठीक नीचे खुजलाती रही। “तेरे मुँघीर मामा को सारी बातें बतायीं। वे वैसे भीगी बिल्सी सरीखे हैं, मालूम है न। एक दिन मजाक में खिजाब की शीशी छुपा कर मैंने रख दिया। बेचारे को कितनी दुःखता हुई। दूसरे दिन सारे बाल नये उगे आम के पत्ता की तरह तावे की तरह दीखने लगे। जो हुलिया बना न उनका, एक बार अगर देखता न तू। घूम-घूमकर, सगमग रेंगते हुए-से दू दो, दे दो, कहते हुए मुँसे चिरीरी करने लगे। उस जाना में जिस तरह कृष्ण राधा के पास घुटने मोड़कर कह रहा था ठीक वैसा ही। खैर, इस कदर जो भीगी बिल्सी सरीखे हैं, वह भी सब कुछ सुनते ही बोला, “भामती! यहाँ नहीं रहना है।”

भामती! उसका नाम भामती है। मुँसे मामी मासी कहने के लिए कहती।

छोटी-छोटी जुम्हाइया भरती हुई बड़ हाथ घुमा-घुमा कर हवा कर रही थी। घाट के किनारे बैठ कर हाथ से छाटी-छोटी सहरे उठान की तरह। बोल रही थी, “यहाँ कचहरी का काम अच्छा हो चल रहा था। ज्यादातर तो छुट्टियाँ ही रहती हैं। फिर सुना है, पहले सड़को को अपने यहाँ बुला-बुला कर पड़ावा करते थे। घर में अधेरा रखकर मस्जिद में दिया जलाने का पागलपन अब नहीं है। यह अच्छा ही हुआ। खैर कोई बात नहीं, मर्द आदमी है, पढ़ा-लिखा है। दूसरी जगह जाकर भी गुजारा कर लेगा। दो जनों का पेट सेता ही कितना है? गद्दी चला सकेगा तो मुँसे क्या? जहाँ से आयी थी, वहीं चली जाऊँगी।”

‘लौट जायेंगी? यहाँ सुधीर मामा के पास नहीं रहेगी?’

“नहीं रख पायेंगे, तो क्या बिया जायेगा? यहाँ के पाजी लोग हम लागो के पीछे पड़ गये हैं। सीटी मारते हैं, देला फेंकते हैं। अच्छा बता ता, वे कह रहे थे कि देला फेंकने वालों में स्कूल के भी कुछ छोबरे हैं?”

“हो सकता है।” मैं बोला।

“एक दिन घर से निकले थे। हेडमास्टर को कहने के लिए। पर लौट आये खिसियाये हुये-से। बता तो क्यों? पढ़ने दिमाग में बात आयी नहीं थी, बाद में ख्याल आया, जाकर बहूँगे क्या? फिर तो यह भी बताना होगा कि मैं कौन हूँ।

और फिर केंचुवा निकालने की कोशिश में साप ही निकल आयेगा।" वह जिसका नाम भामती है और थोड़ी देर पहले जिसका आँचल हाथ पखा था, उसी को मुँह में ठूस कर अपनी हँसी रोक रही थी। "केंचुवा निकालने जाओ तो साप निकले, ही ही," हँसी का इस्तेमाल वह कोमा-सेमी कोसोन की तरफ़ कर रही थी।

"समझे कुछ। तेरे सुधोर मामा इसी लिए लौट आये, आकर सिर हिला-हिलाकर बोले, "कोई उपाय नहीं है। नहीं होगा तो हम लोग यहाँ से चले ही जायेंगे।"

'बोरो की तरह' कहते समय उसका चेहरा अचानक उदास हो गया। आवाज़ भी रुक गयी। हालाँकि अभी भी वह हँस रही थी। पर उस समय मैं उसकी आवाज़ की ओर देवदर समझ नहीं पा रहा था, कि वह चिक्चिक क्यों कर रही हूँ? यह सब कुछ जो वह फहें जा रही है, मजाक या ठिठोली है, यानि हँसी पेट में दबाने के कारण ऐसा हो रहा है? या फिर यह सकतीफ़ शरीर के एक अंग में, जो पेट के काफी ऊपर होता है, बड़ा हो रहा है? और शायद इसी से उसकी आवाज़ रुक गयी थी?

यह सब मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा था मैं, इसलिए मुझे भी कष्ट हो रहा था। वह हँसमुख भामती, जिसकी बाल-बाल एकदम तुम्हारे विपरीत थी, क्षणाश में उसे 'तुम' हो जाते देखा—तुम्हारी तरह। उसने चेहरे पर तुम्हारी छाया पड़ रही थी। कहाँ से आकर तुम उस ढँक दे रही थी, चमकते हुए बाद के ऊपर बादलों के क्षीन पर्त की तरह। तो उसकी भी आँखें छलछलाती हैं, भामती की भी? बड़ा आश्चर्य है।

बाद में सारा जीवन उस तरह के धूप-छाव बहुत देखें। किसी भी मनुष्य को लगातार किसी एक ही धारणा के संचि में फिट बैठ जाते नहीं देखा। श्रद्धा के पाप का अचानक ही अघकार पक्ष उजागर हो जाते देखा है। देखकर सिहर उठा हूँ। इसी तरह धूप-छाव चलता रहा है। मनुष्य कितना बहुरूपिया होता है। नहीं, नहीं बहुरूपी कोई नहीं होता है, हमी लोग उसे अनेक रूपों में देखते हैं। सम्पर्क का तो सिर्फ़ बाह्य ही स्पर्श होता है, आंतरिक सम्पर्क का कोई निरस्पर्श द्य दोस्त नहीं है। ज्वार-भाटा, फिर ज्वार।

इस दर्शन की सूचना आशु के प्रातःकाल में ही मिल जाती है। सिर्फ़ उस समय चीर कर देखने की दृष्टि नहीं होती है। मुझे भी मिल रही थी। कितने पक्षीर अपने घूसर अलखल्ले के अंदर से खदखद करते स्फटिक विकास कर दिखा देते हैं, और कितनी कुहकिनिर्मों के अन्तर्वास की दुग ॥ भन्-से नाक में सगते हो, मुह घुमाना पड़ा।

ठीक इसी तरह, बाबा एक दिन स्टेशन के नीम अंधेरी रोशनी में कितने



अपने हो गए थे, कुछ देर के लिए। कितने सटके, कितने नखरे जानने वाली धुलधुल भामती भी कृशकृष्ण होकर, तुम्हारी ही तरह दीखकर मुझे भी अचानक विगलित कर गई। वह भी शायद क्षण भर के लिए। मन मानो, वर्ष से भरी हुई शीशे का गिलास है। ठण्डी हवा का हल्का स्पर्श पाते ही जिस पर बूंद-बूंद पानी जम उठता है। वह पानी फिर सूख भी जाता है।

फिर भी बाबा को, जिसके साथ तुम्हारी तनातनी रहती है, उसे नम आँखों से देखना, भामती के आन्तरिक कण्ट को देखकर काँप जाना, इसमें भी साफ महसूस न होने पर भी, प्रच्छन्न भाव से कोई अयायबोष रहा या क्या? तुम्हारे प्रति क्या एक प्रकार का विश्वास भग कर बैठा है? कहना मुश्किल है। जानबूझकर ऐसा नहीं किया है। विश्वास यत्र-तत्र फैला हुआ रहता है, ककड़-पत्थर की तरह। जीवन भर बिना जाने उन्हें रौंदते रहते हैं। पाँव के नीचे किचर-किचर होकर टूटते हैं। आदमी उसके लिए क्या कर सकता है। बताओ? आदमी लाचार है।

सुधीर मामा के लिए भी थोड़ा कण्ट हो रहा था। भामती के मुँह से यह सुनकर कि हेडमास्टर के पास शिकायत करने जाकर छोटा-सा मुँह लेकर वे सीट आये थे तकलीफ हुई थी। वह-चने जायेंगे, चले जा रहे हैं, यहाँ का डेरा जी उठा रहे हैं। वही सुधीर मामा। सिर पर मफलर, नीम का गिलास, साठी के सहारे झुक कर चमना, सुपारी गाछ की तरह सम्झे, पर सीधे। इस समय न जाने किस कारण बदल गए हैं। पर उनकी पहले वाली तस्वीर को ही छाँट कर रख लिया है। आँख बंद करते ही आज भी उसी तस्वीर को देखता हूँ। वे चले जायेंगे, और उन्हें अपने पास नहीं पाऊँगा। उनका पढ़ाना, भेले म ले जाना, मैजिक साइमेटेन विद्याना। श्रीम और तानाब मे मछनी पकड़ने के लिए बिताये गए वे कुछ शान्त दोपहर। सब समाप्त हो जायेगा, उखड़ जायेगा। बाबा जिस तरह एक दिन आगन के गेंदे क पीछों को उखाड़ फेंका था, उसी तरह। सुधीर मामा, उनके बाबा और तुम्हारे बाबा याने मेरे दादू वही कितने साल पहले यहाँ एक साथ आये थे। क्या तो एक छोटा-सा रिश्ता भी था, पता नहीं। उस समय धनिष्ठता के लिए रक्त-सम्पर्क का होना आवश्यक भी नहीं था। अब तो रक्त-सम्पर्क के लोग भी एक साथ या पास-पास नहीं रहते हैं। खून शायद अब पानी से ज्यादा गाढ़ा नहीं रह गया है। पर उस समय तो दूर-दराज की रिश्तेदारी को ही यथेष्ट माना जाता था। वे लोग शायद सत्तर-अस्सी वष पहले आये थे। सुना है उस समय यहाँ रेत नहीं थी। एक जन सेरेस्ता मे काम लेकर आये, याने मेरे दादू, और सुधीर मामा के बाबा चाँदसी का इलाज किया करते थे। यही मलहम-बसहम ■ ही सब से। दोनों ही उस समय युवक थे। अविवाहित। बाँवो मे डेर सारा सपना। धीरे-धीरे सब कुछ सजाया-बसाया जाने लगा। घर गृहस्थी, घेत-खलिहान।

सब कुछ उखड़ जायेगा। अंदर हाँ-हा करने लगा। भामती की ओर देखने

का साहस नहीं हो रहा था। उस समय तो वह भामती नहीं थी, सुधीर मामा की प्रतिनिधि थी। तुम्हें थोड़ी देर पहले गलत बताया था भाई! यही कि भामती के आकर्षण से यहाँ आता हूँ। पर सिर्फ उससे लिए नहीं, सुधीर मामा के आकर्षण से भी यहाँ आता हूँ। इस कमरे में उनकी उपस्थिति। इस कमरे में उनकी स्मृति फँसी हुई है। आज के सफेद चादर के पीछे, वही धूलि-मलिन मोटी-चादर। चादर ओढ़े या फिर रजाई ओढ़े रविवार की दोपहर को मुझे और साथ में कुछ और सड़को को लेकर बत्तास लेना। प्रेम की कहानी। अगले साल लेम नामक किसी लेखक का अंग्रेजी नाटक की कहानी सुनाने की बात थी। सब समाप्त हो जायेगा।

सब कुछ खत्म होता जा रहा है। उनका बुझार, सिरहाने पानी का गिलास, सब कुछ। सिर्फ भामती के आकर्षण से यहाँ नहीं आता हूँ न। मेरी बहुत इच्छा होती है कि, मुझे हम लोगो को लेकर वे क्या बातें करत हैं, अभी भी पुरानी बातें याद हैं कि नहीं सब जान लू। पर पूछ नहीं पाता हूँ, हॉटो पर आकर कुछ अटक जाता है।

भामती, अब तक खाये हुए लेमनफ्लूस की स्मृति में हॉटो का चाट रही है। बाँखों में भी वही नटखट हँसी। “बत्ती तो जाऊँगी ही। पर उन्हें भी छोड़ जा सकती हूँ। तुम्हें अभी थोड़ी देर पहले कहा था न। वह मजाक था। दुबले मरियल, एकदम दुर्बल तो हैं। मुझे उन्होंने कहा है, कभी किसी में कुछ नहीं मिला। बच्चे की तरह अब मुझे जकड़ के रखा है। मेरे बले जाने से उसका कौन रह जायेगा?”

अब तक नहीं समझा पाया, पर अब उसी क्षण समझ गया कि भामती उनकी कौन है? मन ही मन में कहता रहा, “नहीं, नहीं तुम मत जाना।”

“बहुत कमजोर है, बहुत कमजोर है।” भामती ने कई बार ज़हर कहा, पर उससे बार-बार ऐसा कहने पर आँख के सामने देख रहा था कि क्या अकेले सुधीर मामा ही दुर्बल थे?—नहीं।



आज शाम को। आज शाम को ही तो, बलास का मॉनीटर जगन्नाथ और माणिक ये लोग लिफ्ट के समय गोल होकर पता नहीं क्या आपस में बतिया रहे थे। मुझे देखते ही आँख के इशारे से चुप कर गये। मुझे वे लोग खास बुलाया नहीं करते थे। वे लोग उम्र और कद दोनों में मुझसे बड़े थे। उनमें से एकाघ जना को प्रमोशन न मिल पाने के कारण एक ही बलास में रुके हुए हैं। जगन्नाथ कहा करता, “हम लोग रेलवे के पायटसमैन हैं, एक ही केबिन में खड़े-खड़े प्लेग उठाकर गाड़ियों को पास करा देते हैं।”

वही जगन्नाथ, मुझे वहाँ से हट जाते देख, हाथ हिंसाकर अपने पास बुलाया। मुझे बिना कुछ कह, चनाचूर देते हुए मुझे मुना सुनाकर कहने लगा, “मधुमक्खी के छत्ते में देला फेंका है। आज शहद निकालूंगा। डूब-डूबकर पानी पीना निकलवाता हूँ।”

“डूब डूब कर कहा,” किसी और ने चुटकी ली, “एकदम दिन दहाड़, पाडे में बैठकर ”

“मोहल्ले में बैठकर निकामता हूँ। सिर मुड़ा दूँगा, घोल (छाछ) डाल दूँगा। गधे की टोपी पहनाऊँगा, या फिर बिल्ली-पार करूँगा। घोर में भर कर कितनी बिल्लियों को कितने दूर-दराज से आकर छोड़ आया हूँ, और एक इस बिल्ले और बिल्ली को ठिकाने पर नहीं पहुँचा सकूँगा?”

“बिल्ला कहाँ है, दोनों ही बिल्लियाँ हैं।” माणिक गीत गाने के सहजे में बोला और दूसरे सब हँसी का तास ठोकन सये।

‘बाजार के श्याम पोद्दार वही जिसके घर पर ही सभा सगती है। उसने हम लोगों को पाँच रुपया दिया है। पार सभा पाने पर और पाँच रुपया मिलेगा। इसके सिवा एक दिन वह हम लोगों को पेट भर कर बकरे का गोشت खिलायेगा।’ वे लोग मिले हुए सिक्कों को ठनाठन बजाये जा रहे थे।

तिरछी नजर से मेरी ओर देखते हुए जगन्नाथ बोला, “तू तो वहाँ का चक्कर लगाया ही भरता है। आज शाम के बाद चले जाना। बत्तीस किस्म का तमाशा देख पाओगे। खेल देखना खेल। बच्चू को जच्छी तरह से मजा चखाऊँगा।”

माँ, मुझे डर लग रहा था। बदन में सिहरन हो रही थी। टिफिन के बाद भी क्लास में गया, पर सर पीछकर दो बार बाहर आया। घड़े में पानी निकाल-निकाल कर पिया। आज शाम को, आज शाम को—क्या? एक मजेदार खेल, वे लोग कह रहे थे। सबमुच क्या वे लोग वैसा करेंगे, जैसा कि कह रहे थे? घोल, गधे की टोपी, यही सब? सीढ़ी जगनाथ करेगा। पिछली बार फैन हो जाने पर सुधीर मामा ने खुद इसे पढाया था।

वे लोग जब वैसा करेंगे, देसा, कीचड़ का सोदा, यही सब—मैं, मैं उस समय क्या कहूँगा। रोक सऊँ, इतनी ताकत शरीर में कहा है। तो क्या छुप कर देखता रहूँगा। डरपोव, डरपोव कही का। कुछ भी नहीं कर सऊँगा। इतना स्थिर जान-पर मन ही मन खुद को प्रकटा रहा।

पर उस भयंकर शाम को मैं वहाँ अटत गया ही नहीं। क्या नहीं गया माँ, यह तो तुम जानती ही हो। उस दिन शाम कुछ जल्दी ही आ गयी। देखते-देखते धूप सिमट गयी। समय से पहले ही मानो बूढ़े दरबान ने अंतिम घंटा बजा दिया। हम सब धीरे धीरे निकल आ रहे हैं। पर मैं क्यों पीछे रह गया। पाँव काँप रहे हैं। पापी-किताब दो बार हाथ से खिसक कर नीचे गिर पड़ी। गर्द, धूल कितनी धूल थी। झाड़ पोछकर किताबें उठा ली। फिर भी दाँत किरकिराते लगे, मूढ़ में नाक से बालू घुस गए थे, क्योंकि दोपहर-से ही उस दिन गद के अखड़ चल रहे थे। क्योंकि उस दिन देखते-देखते धूप गुम हो गयी थी और अगर यह कहूँ कि मेरी दाहिनी आँख भी फटकने लगी है, तो शायद उसे तुम बनावटी बात समझो। वे लोग जाने जगनाथ और माणिक का दस काफ़ी आगे निवल चुका है। दूर से उनकी 'हिप-हिप हुर्ररे' सुन पा रहा हूँ। डरा हुआ मैं किसी सर्वनाश की आशंका से बाँप सठता हूँ, पर

एक सर्वनाश हो चुका है, उसका थोड़ा भी आभास मुझे नहीं मिला।

दरवाजा खुला हुआ। आँगन में पड़ोस की मौसी-बुआ आपस में फुसफुसाकर बतिया रही थी। कमरे के अन्दर कोई-कोई ताक-झाँक कर रही हैं, मैं ठिठक गया हूँ। हाथ से किताब-पापी सरक कर नीचे गिर गयी है। मैं दौडकर कमरे में चला आता हूँ। माँ, मेरी माँ तुम बिस्तर पर उस तरह क्यों सेटी हो? चादर खून से भरा हुआ। तुम्हारी आँखें सफेद, मानो वहाँ पुतली है ही नहीं। बिस्तर खून से भरा हुआ। तुम खून से सपपथ। मुझे भय विखाने के लिए क्या यह सब हो रहा है? तुम्हें पता नहीं है, खून देखते ही मैं कितना डर जाता हूँ। जंगली कट जाने पर आँख मूँद कर उसे हाँठों के बीच दबा लेता हूँ। जिस बार गाँव की काली पूजा में रात जाग कर बलिदान देखा, उस बार कम से कम दो महीने तक मांस नहीं खा सका था।

माँ ! आँध घोनो । बताओ क्या हुआ है । तुम्हारे सिरहाने बैठकर गांगुली-बाढी की बुआ, तुम्हारा एक हाथ अपने हाथ की मुट्ठी में धामी हुई है । क्या कह रही है वे ? मुझको ही क्या ? अगर मुझे कह रही हैं तो इतनी दबी आवाज में क्यों ? बता रही हैं कि तुम तालाब के किनारे सोढ़ी पर अचानक पाँव फिसल कर इन सब का मतलब क्या हुआ । मैं सुन नहीं पा रहा हूँ, कोई सिर पाँव ही समझ में नहीं आ रहा । मैं सिफ उस बिस्तर के ऊपर ओछे होकर पढ़ जाऊँगा । तुम्हारी महक लूँगा । तुम्हारे बिछरे हुए बालों की, छाती की महक अपने अंदर भरूँगा । और फिर तुम्हारे दूसरे हाथ की अपनी मुट्ठी में दबाये, बस सो जाऊँगा ।

“कब हुआ ? मुझे स्कूल में खबर क्या नहीं किया ?” वेब्रूफ की तरह यह सब क्या कह रहा हूँ मैं ? पीशीमाँ (बुआ) की ओर धीरे धीरे तरेरते हुए । अभी, इस कमरे में इतने शोरगुल की क्या जरूरत है ?

‘यही अभी कोई घटा भर पहले की बात है । यह तो गनीमत समझो कि घाट पर उस पाठे के बड़े साग थे । दोड़कर गये, उठाकर घर से आये । तू बच्चा है, तुझे खबर करके क्या होता । पहले तो डाक्टर बुमाने की जरूरत थी । डाक्टर बाबू अभी-अभी देखकर गये हैं । काफी देर तक यही थे । दवा, इनजेक्शन सब कुछ दिया जा रहा है । होश आने के बाद ही चले गये । अब थोड़ी शांति है । सो रही है, बीच-बीच में जाग रही है । पता तो था हमें, अभी स्कूल में छुट्टी हो जायेगा । तू आ जायेगा । पहले आ जाने पर तो तुझे ही लेकर झंझट हो जाता, रो धोकर बराबर करता । जा अब यहाँ से जा । खुद ही उतार कर चिबड़ा मूँड़ी जो कुछ है खा ले । इस्त । मुह बिल्कुल सूख गया है । जा बाहर जा । यह सब देखना गही चाहिये । माँ की ऐसी हालत में सबके कमरे में नहीं रहते हैं । उसे मैं थोड़ी देर बाद उठाऊँगी, साफ करूँगी ।’

गांगुली पीशीमा आदेश करने के स्वर में बोल रही हैं पर मैं मुह फुलाये गवार की तरह खड़ा हूँ, हिल नहीं रहा हूँ ।

(आख धोसो माँ । सुनो एक बात सुना । व साग आज मुधीर मामा की भगवैने । मुधीर मामा मुधीर मामा, सुन रही हो ?)

पीशीमा तुम्हारे सिर पर हाथ फेर रही हैं । तुमने आँख के इशारे से यह किया और करने की जरूरत गही ।

(मा यह देखा वे लोग जब तक वहाँ जाकर बतारें बाधकर खड़े हो गये हैं । एवं जन पेठ पर चढ़ रहा है, डेला फेंक रहा है । किसी ओर ने भोज बजाया । यह संकेत है । मुधीर मामा नहीं, पहले मामती बाहर निकल आयी है । मामती, उसके माये पर एक डेला ला लगी है—उससे तुम्हें क्या ? बात ठीक भी है । वह तो तुम्हें फटी आँख नहीं भाती है ।)

पीशीमाँ उठी । तुम्हारे मुह की तकिये पर ही थोड़ा तिरछा कर के प्याने से पानी पिलाया । तुमने व्यष्टुट स्वर में कहा, ‘उह ?’

(उह क्यों माँ ? सुधीर मामा भी निक्कन आय हैं। उनके सिर पर भी पिशाचा लगा कर भाग गया। एक पत्थर आकर लगा। तुमने भी क्या देखा था ? पेड़ से वे लोग तड़तड़ करके उतरते जा रहे हैं। भामती घसीटते हुए सुधीर मामा को ले जा रही है। भामती इस समय आंचल कमर से सपेटे, आवाज चढ़ा कर बोल रही है, “कोन आयेगा, आओ तो। एक बार आगे आकर देख न।” अब सुधीर मामा उसे रोक रहे हैं। पर भामती भी कम नहीं। पूरी बाधिनी बन गयी है।)

तुम्हारी छाती ऊपर-नीचे हो रही है। तुम उस तरह आँ-आँ क्यों कर रही हो ? पीसीमाँ तुम्हारे हाठ के किनारे से झाग पोछ रहे हैं।

(बड़ी सड़क के किनारे एक परछाई है। बताओ तो वह कौन है ? बाजार का श्याम पोद्दार। वे सामने नहीं आये हैं। पीछे से साँप की तरह हिस्स-हिस्स कर रहे हैं। अंधरे में छुप कर ही उन लोगों को सड़ाते जा रहे हैं। माणिक की जेब में रुख खनक रहे हैं, किसके हैं ? श्याम पोद्दार के। उ होने ही दिया है। बाद में खरसी भी खिलायेंगे। उनके भी पीछे और एक जन वह कौन है ? पहचान नहीं पा रही हो ? वह तो तुम्हारा ही लड़का मैं हो हूँ। डरपोक, कँचुवा, पिद्दी-सा।)

पीसीमाँ गले से लेकर तुम्हारी छाती तक मस दे रही हैं। झुक कर पूछ रही हैं, “बहुत तकलीफ हो रही है क्या ?”

(तकलीफ नहीं होगी क्या ? सुधीर मामा आज चले जा रहे हैं। वे लोग एक अरलीस-सी कविता पढ़ रहे थे। उहाने दो। हाथ से कान ढँके। उसके बाद आतंकित भाव से सामने जो लोग थे, उनमें से चारों ओर को बुलाया, “क्या चाहते हो ? क्या चाहते हो तुम लोग ?” शांत स्वर। “छत्ते का मुँह खोल देना चाहता हूँ।” पीछे से किसी ने कहा। चिड़िये वा पासला सोडूगा। अण्डा-वण्डा सोडूगा।” किसी और का स्वर। “वैसा ही कर लो।” वे अपने सिर के बाला में चिकोटी भरते हुए कहते हैं, “पर हमारे की क्या जरूरत है। मैं तो तैयार ही हूँ।” मैं तो तैयार ही हूँ। आह ! हवा की तरह सुंदर बात है। सर्वनाश के आगने-सामने पड़े होकर कितने लोग ऐसे हैं, जो कह सकते हैं कि, “मैं तैयार ही हूँ ?” पर सुधीर मामा कह पाये हैं। वे लोग अब कमरे के अंदर हैं। गठरी बठरी तो पहले ही बँध चुकी थी। भामती बठोर मुद्रा में खड़ी है। उसके माथे पर आज टिकुली लगी है। कासे के ऊपर हुरा। आने की तैयारी, पर दृष्टि स्थिर। पर सुधीर मामा वाप रहे हैं। खिचड़ी बात, घुट खिजाव बिजाव सब उठ गया है। हाथ बढ़ाकर वे पाती पीने गये, पर हस्त, गिलास हाथ से गिर कर चूर-चूर हो गया। भामती झुक कर काच के टुकड़े बीनने लगी। यह क्या वही गिलास है जिसे एक दिन तुम चुपचाप भर कर रख बायीं थी ?)

मुझे पीसीमाँ, यहाँ और टिकने नहीं देंगी। तुम्हें पहले थोड़ा गरम दूध बाद में और एक डोज दवा पिलाने के बाद ही मुझे हटा देंगी। वही दवा, पीसीमाँ बता रही हैं, जिस खाते से दर्द कम हो जाता है, नींद आ जाती है।

“आज ही जाऊंगा,” उन लोगों से सुधीर मामा बोल रहे हैं, “आज रात को ही।” अब काँपते हुए स्वर में नहीं। शान्त कण्ठ स्वर। गठरी-बठरी इकट्ठा करके बाहर रख रहे हैं। फिर भी दूर से कौन तो अभी भी डेला फेंके जा रहे हैं। मजेदार खेल, उन लोगों को एवढम मिल गया है।

मैं क्या करूँ? आठ में छुपा जो हुआ है? मैं भी थोड़ा मचा लू क्या? एकाध डेला मैं भी फेंकू क्या? नहीं, डरपोक होने पर भी तुम्हारा लडका नीच नहीं है माँ! वह बलिव सोच रहा है कि आगे बढ़कर गठरी उठाकर, हाथ बटा दे। पर उतना साहस भी क्या उसे होगा?)

मैं अब बाहर आँगन में हूँ। पोशीमाँ ने मुझे अभी-अभी बाहर निकाल कर दरवाजा बंद कर दिया है। चादर-चादर बदल कर तुम्हें साफ करेगी। करे, मैं अभी आँगन में हूँ। पोखर के किनारे किन सौगा ने घाट भिगोया है। उसी की सड़ी-सड़ी सी गंध आ रही है। पर आकाश में अनेक तारे हैं। कोई-कोई तारा तो रात को ही इधर से उधर टहसते रहते हैं। कोई-कोई अचानक ही टूट जाते हैं। तुम अब सोवोगी, तुम्हारे सोये रहते-रहते हो—

(वह देखो, सुधीर मामा रखाना हो गये हैं। सुधीर मामा और भामती। सुधीर मामा भी तारे देख रहे हैं। तारे देख रहे हैं न, इसी से अब कुछ सुन नहीं पा रहे हैं। हम लोग जिस समय तारे देखते हैं, उस समय धीख-पुवार कुछ नहीं सुनते हैं। पेड़ की आठ में चोर हूँ मैं, डरपोक हूँ मैं। मेरी माँ उन्होंने परवाह नहीं की। इस समय उनका सिर उठा हुआ है। कहा, चाठी क ऊपर झुके हुए तो नहीं है?)

मा इस समय तुम नाद में तैर रहा हो। उसी के साथ-साथ पैदल चलत जा रहे हैं और एक जन। कल मुबह ही तुम्हारी नींद टूट जायेगी, पर व लौट कर नहीं आयेगे। तुम्हारी इस आच्छ न रात के घोर में तुम्हारे अगाध में भयकर एक घटना घट गयी, पर ईश्वर न तुम्हें बचा लिया। तुम्हें कुछ भी जानने नहीं दिया।

पर मैं जान गया हूँ। सिर्फ यही घटना ही नहीं, भयकर एक और घटना कम से कम मेरे लिए। तुम्हारे घर से निकल आया जब, न जाने क्यों वह फीका चेहरा, रक्ताक्त चादर, निर्वाक स्वर मेरे कान में अमोघ वाक्य का घोषणा करता रहा—जब दादा भी नहीं आ रहे हैं।

अर्थ ही इतने दिनों तक उसकी प्रतीक्षा करता रहा हूँ। तस्वीर की ओर देखकर एक-एक दिन गिनता रहा हूँ। डाक्टर आया, डाक्टर गया। खूनी पत्र-पकड़ कर एक दिन तुम आँगन में आकर बैठे। तब नियमित व चार चिडई माँ आयी। धूप बिखर गयी। नहाने के बाद रात सुखाना। तुम्हारा घुना हुआ चेहरा गमछे के भीतर से झाँकता है। यह धूप ठीक वैसी ही है, तुम्हारे चेहरे जैसी। मैं अकेला-अकेला फिर से निबलन लगा। वहाँ पोखर के किनारे, जहाँ दादा छ पानों व

ऊपर मुह रखते ही मुलाकात हो जाती। एक दिन दोपहर को उससे जाकर बोला, "जब आना ही नहीं था, तो क्यों उम्मीद बंधवायी थी? माँ को भी छोखा दिया मुझे भी।"

पेठ के तने के साथ सगकर, चींटियों की बातें सुनते-सुनते आँखें झिप जाती। एक कठफोड़वा ऊपर की डाल ठोकता ही रहता। और घुघू पक्षी की पुकार में आह कितनी क्लान्ति, कितनी क्लान्ति थी। पोखर के किनारे की जोती हुई धरती की ओर देखता रहता। चारों ओर सनाटा और शून्य। जो चला गया और जो आया ही नहीं, उनमें से शायद किसी एक ने या फिर दोनों ने ही, मुझे छोखा दिया। न मैं किसी का भाई रहा, न किसी का दादा ही बन पाया—अकेला ही रह गया।

अकेला, बाद में जान पाया कि, सभी मनुष्य अतन्त अकेला होता है। भीतर एक ऐसी जगह है, जहाँ आस पास कोई नहीं है। पास में खड़े होकर कोई अपनी परछाई भी नहीं फेंकता है, पर उस समय ता इन सब बातों का ज्ञान नहीं रहता है। पुराने दादा दादा तो कब के नहीं हैं। नए बनकर भी अब वह नहीं आ रहे हैं। कहा चले गये हैं सुधरी मामा। किसी दूर-दराज जगह पर बाबा घूम रहे हैं—उस समय, उन सूखे, निजन नि सग दोपहरियाँ को रह-रहकर बाबा की याद आ जाती।

इस तरह माँ, उस सुबह की मेरी पहली दोपहर समाप्त हुई।

माँ! जल्दी जल्दी, थोड़ा जल्दी-जल्दी। तुम्हें अब जल्दी नहीं है। अशेष समय की डोलची गोद में लिए बैठो हुई हा, मानो किसी चिर-समयकाल के हरसिंघार के पेठ तले की तस्वीर हो। फूल झर रहे हैं, झरत जा रहे हैं। फूल नहीं मानो समय की चिंगारी हो। उसे मन चाहे तो गूष सो, इच्छा न हो तो अपने चारा ओर फैला दो। वे सब इकट्ठा हा-होकर पहाड़ बन भी जायें तो उससे क्या फर्क पड़ता है। तुम्हें अब किस बात की जल्दी है, तुम्हारे पास तो अब अनन्त समय है।

पर जल्दी मुझे है। मैं अभी भी पड़ा हुआ हूँ। तुम्हारा लड़का अभी भी स्थान काल के गारदखाने में कैद है। बहुत शैतानी करते रहने के कारण तुमने बाहर से साकल बड़ा कर मुझे कमरे में बन्द कर दिया है। सजा, यही उसकी सजा है। माँ, साकल नहीं खालीगी?

फिर भी मुझे पता है मियाद खत्म होती आ रही है। अच्छी तरह रहने से कैदियों की सजा भी मियाद खत्म हो जाती है। मालूम है न? अतिम कुछ वर्ष अत्यन्त सद्भाव के साथ रहने के कारण, बाकी के बचे समय में भी सद्भाव के साथ रहने की सोचा है। इसलिए तुम्हारे भी जो ऊपर है वे थोड़ा जल्दी ही मियाद पूरी कर दे रहे हैं। मुझे पता चल गया है। खत्म होता जा रहा है। यहाँ का अध्याय समाप्त होने वाला है।

उसका चिह्न—मैं खत्म होने लगा हूँ। मैं, मेरे सारे स्वप्न, सारी शक्तियाँ, समस्त आसक्ति और वासना के साथ मैं समाप्त हो रहा हूँ।

एक-एक करके सब कुछ चला जायेगा मेरी आशा, मेरी साधना।



(किसकी साधना ? कुछ बनने की ? घट कभी क्या कोई कुछ हो सकता है भला ? कभी कोई कुछ बन सका है—कोई नहीं । सिर्फ होने की चाह चुपती रहती है । अधिक से अधिक इच्छा के साथ साधना जुड़ जा सकती है ।)

सब कुछ चुपचाप खत्म होता जा रहा है । सबको एक एक करके रवाना करता जा रहा हूँ । इच्छा, आशा के साथ-साथ जितना नशा, प्रेम है सबको रवाना करने के बाद सबसे अंत में उठ खड़ा होऊँगा । बाल-बच्चे बीबी का बस में चढ़ाने के बाद जिस तरह बेफिक्र हाकर गृहस्वामी पाँवदान पर पाँव रखता है उसी तरह ।

(परिजनों के प्रसंग में माँ, मेरी कब की सिखी हुई वविता की कुछ कुछ पत्नियाँ याद आ रही हैं)

“उसके मृत्युकाल में वे लोग सब

पाव पैनाकर बैठे रो रहे थे

उसके जितने परिजन,

उसकी आशा, उसका प्रेम ।

सुर में गा-गाकर

कह रहे थे, ‘हम लोगो को क्या हो गया ।

हम लोगो के लिए कुछ भी नहीं रख गया है ?”)

जाऊँगा, रख जाऊँगा । बोलकर जाना है इसीलिए ही तो जान के पहले कलम लेकर बैठा हूँ । मोड़ी दर पहले ही केदिया की मियाद पूरी होने की बात कर रहा था न मैं ? एक एक करके बहुता का पत्र देता है । जिसे जो कुछ कहना चाहा है कह नहीं सका है । मन ही मन में पाल रखे पक्षियों को उड़ाने के बाद ही हल्का हो सऊँगा । पिंजड़ा खोल कर कुछ हिस पशुओं को, जो बिपात थे, जिहोन अपनी जीभ के सार से अब तक मेर ही अदर की दीवारों को चाटा है, या फिर नाखून से खरोचा है, वे लोग अब मौला पाकर दूसरों पर झपट जाए— झपटे, झपटे न । किसी को बाट, किसी को चाटें भित्तुस पासतू बनकर । जितना हो सके ।

यह सब करने के बाद ही मुझे छुट्टी मिलनी है । कुछ हो सकना और कुछ न हो सकना, जब एकावार ही हो गया है, उस समय यह थोड़ा सा मोह, एक बूँद ठाजे गून की तरह जमा करने रख लिया हूँ ।

पर माँ ! एन प्रणाम में हो अगर इतना समय निश्चय आये तो आध उठाकर दूसरे लोग की ओर दपूगा क्या ? देखूंगा कैसे ? उन लोग का दूढ़ कर साते-सात समय धरम नहीं हा जायेगा ?

तोचा था, “आदरणीया माँ को, “निधनर एक अध्याय समाप्त कर दूँगा । और एन अध्याय होगा, “मुचरितामु मुग्ध ।” ‘मुग्ध यह एक मंत्र है, जिसमें सबका आवाहन है । प्रियतम जो हैं, जो लोग विराजित हैं, जो लोग वांछित हैं । ‘माँ को और

तुम्हें—इस सामग्रि परिकल्पना को, पाँव पडता हूँ, इधर-उधर मत कर देना। सब कुछ तुमने अकेले ही क्यों ढक रखा है, थावण के सर्वव्यापी मेघ की तरह ?

इसी से तो कहता हूँ माँ, मुझे थोड़ा जल्दी बहा होगे दो। अच्छा मैं ही थोड़ा पिछली दाता का सूत्र पकड़ा हूँ। बाबा का एक खत आया था, याद आ रहा है अब ? कितने दिन बाद, कितने दिन बाद माँ ? उस समय तुम काफी ठीक हो चुकी थीं, याने तुम्हारी तबीयत। हालांकि आख को पुतलियाँ जैसी फीकी-फीकी-सी हो गयी थी, वैसी ही रही।

(सभी फोटो को सह लिया जा सकता है। जो गया, उसके शोक को जिस तरह एक बार सम्हाल लिया था, उसी तरह जो नहीं आया, उसके शोक को भी क्या सम्हाल लिया था ?)

कितने दिन निकल गये मानूँ नहीं। इस समय ठीक याद भी नहीं आ रहा है, पर बाबा का पत्र एक दिन आया था, इतना भर याद है।

निवारण डाकिया, जिसे हम लोग निवारण दा कहा करते थे, जिसके मोटे खाकी धैले के लिए हम लोग के मन में एक सकौतुक लोभ था, जिस तरह सारे अज्ञात रहस्यों के लिए ही उस आयु में होता है। वैसा ही। एक दिन देखा, वह बड़ी सड़क छोड़कर हमारे मकान की ओर ही आ रहा है।

हाफ़ते हुए बोला था, “माँ ! निवारण दा आ रहे हैं, इधर ही।”

उत्तेजित होने वाली ही घटता थी। इधर आते थे सिर्फ सुधीर मामा। उनके चले जाने के बाद, डाकिया तो दूर रहा खास कोई भी हम लोगों के मकान की ओर नहीं आता है।

“निवारण दा आ रहे हैं माँ !”

तुमने निरस्तुक स्वर में कहा “आने दे।” तुम्हारा उमसी पर गिन गिन कर नाम जप करना चल रहा था, चसता रहा। पर मैं नहीं रुक सका। निवारण दा की ओर बेतहाशा दौड़ता रहा। बीच रास्ते में ही उसे रोककर हाथ फैलात हुए कहा, “दा !” वह हल्के-हल्के मुस्करा रहा था, “क्या दूँगा, बताओ तो जरा ?”

“चिट्ठी, ओर क्या।”

उसने कहा, “उहँ। चिट्ठी स भी भारी। इसका नाम इश्योर है। अन्दर तीस रुपये हैं। माँ के नाम से। माँ की सही लगगी।”

तब मैं निवारण दा के आगे-आगे दौड़ने लगा, तुम तो शायद ‘आने दे’ कह कर रसोई में घुस गयी होगी। तुम्हें दूब साना होगा न।

दरवाजा भिड़ा हुआ था, और क्योंकि मैं उस समय भी रुका हुआ नहीं था, दौड़ता ही रहा। इसलिए कपाट फटाक से खुल गया। वीन तो अस्फुट स्वर में बोल उठा, “उह !”





तुम्हें लिखा गया बाबा का पत्र । तुम क्या इतनी दूर तक निरासक्त हो गयी थीं माँ, कि पत्र के शुरू में ही लिखा था, “प्राणाधिकेष्टु” उसका भी खयाल नहीं रहा । पत्र मेरे हाथ में पमाते हुए थोड़ा भी सकोच नहीं हुआ ?

उस समय उतना समझ नहीं पाया था, अथवा गहराई से सोचा नहीं था, छाती घटक रही थी, मुट्ठी के अन्दर मुड़े हुए नोट—मैं टेढ़े-मेढ़े अक्षरों को जल्दी-जल्दी पढ़ने की कोशिश करता हूँ । पढ़ने के बाद भी पत्र को किसी बहुत बड़ी खबर की तरह मुट्ठी में पकड़े रहा । मेरी आँखें दप्-दप् कर रही थीं । बहुत उत्तेजित हो उठा था मैं । कापती आवाज में बोला, “मा । हम लोग यहाँ से चले जायेंगे । बाबा ने जाने के लिए लिखा है ।”

तुम निस्पृह थी, मानो उस समय भी समझ नहीं पाई हो, ऐसा भाव बना कर बोली, “कहा ?”

“कलकत्ता । वही है बाबा ने पत्र लिखा है । नौकरी मिल गयी है माने ले ली है ।”

“कहा ?”

विराट शब्द भण्डार का क्या वही एकमात्र शब्द तुम्हें पता था, “कहाँ , सिर्फ “कहा ।”

जोर देकर बोला, “वियेटर म, भून वियेटर म । भून वियेटर क्या बहुत बड़ा वियेटर है माँ ?”

“पता नहीं ।”

“पढ़ो न । अच्छा अच्छा मैं ही पढ़ता हूँ । तुम सुनो । बाबा ने लिखा है, “दक्षिण की ओर जाने के लिए निकला था, पर पुरी के बाद और आगे जाना सम्भव नहीं हो सका । बुझार हो गया । ऊपर से एक बात और हो गया । एक धर्मशाला में पठा हुआ था । एक दिन सुबह उठकर देखता हूँ, साथ में जो थोड़े बहुत पैसे थे, वह नहीं है । मेरे ज्वर-विकार के व्यवहार पर न जाने किसने हाथ साफ कर दिया था । वह तो किस्मत से मैंने फलतुए की जब में अलग से पाँच रुपये का नोट रख दिया था,

वही रह गया था। अर्धशोक नहीं था। जो कुछ गया वह तो सामान्य था। गया अच्छा हुआ। उसी दिन चरनीर्थ के सैकत पर पड़ा हाकर सूर्योदय प्रत्यक्ष करके, आनू में एक नए रूप में आविष्ट हो गया। अचानक बुझार मानो उसी दिन छूट गया। उसके साथ ही छूट गयी मेरी कुछ धारणायें और संस्कार का भूत संचय चला गया, पर एक दूसरी तरह की अनुभूति या संचय मानो शिराआ में संचारित होने लगा। आनू ! तुम्हें क्या मैं उसे समझा पाऊंगा ? तुम क्या उसे समझ पाओगी ?”

“मेरे सामने समुद्र है। अब तक समुद्र को बाधा-बधनहीन सदा हास्यमय ही देखा है—दृष्य पावडर से दाँत भाँजने पर जैसी क्षाण होती है, कुछ वैसा ही। आज देखा सफेद नहीं लाल भी है—क्षाण के साथ मानो दाँत के जड़ में छून मिला गया हो। हालाँकि असल में सुबह का सूर्य पानी के लहरों में अपनी छाया देखकर, आह्लादित होकर स्वयं को सैकड़ा टुकड़ों में बाँट दे रहा था, यह उसी का दृष्टि भ्रम था।

“दृष्टिभ्रम ? इसे भ्रम भी कैसे कहें। नयी दृष्टि ! पहले सोचता था, समुद्र मोहहीन, उदासीन होता है। पर अब वह रक्त देखकर लगा, समुद्र को भी दुःख है। पहले देखता था, वह ढेर-ढेर सारी सीपियों को तट पर फेंक जाया करता है। पीछे मुड़ कर देखता भी नहीं है, पर उस दिन देखा, ऐसी बात नहीं है। वह बार बार पागल की तरह लौट भी आता है। सिर पटकता है व्याकुल होकर। उसके निकट अक्षरिण का चंद्र-सूर्य जितना बड़ा सत्य है, स्थिर तटभूमि का आकषण भी ठीक उतना ही बड़ा सत्य है। शायद जो कुछ रख गया है, उसे फिर से बटोर लेना चाहता है। शायद स्वयं को बिल्कुल खाली करने के बाद भी कुछ और देना चाहता हो। तटभूमि उसे बाधकर नहीं रख पाती है, बल्कि चिस चिस कर स्वयं नष्ट हो जाती है। तटभूमि की यह अपनी व्यर्थता है।”

“समुद्र के वैराग्य को देखा है। उस दिन प्रभात की रक्तिमा ने उसका आसक्ति को दिखला दिया। जो मछरे लहरों के साथ बहुत दूर निकल गये थे, देखा व लोग फैलाये हुए आल समेटे लौट आ रहे हैं।”

“तब तय किया कि मैं भी लौटूंगा। मुझे भी जाल समटना है। किनारे पर लौटना ही होगा—वह दृश्य उसी का इंगित है। साथ में जो कुछ था, हिजड़ी तक आते ही समाप्त हो गया। वहाँ से ग्राम-ग्रामान्तर धूमता हुआ यहाँ नदी, वहाँ वन पार करते हुए, किसी ग्रहस्थ का आतिथ्य ग्रहण करते हुए अतंत पैदल ही कलकत्ता पहुँचा।”

“ऊपर पता देखा है न ? आनू, मैंने मून पियेटर में नौकरी कर ली है। हालाँकि बिल्कुल पियेटर नहीं है यह, पियेटर सलग छापेखाना में काम करना है। उन लोगों का अपना ही छापाखाना है। पियेटर के पोस्टर हैंडबिल, प्रोग्राम यहाँ तक कि कभी कभी नाटक-वाटक भी यहाँ छपते हैं। सो-यही है। क्योंकि, दूसरी जगहों पर भी कोशिश करके देया था, पर बात जमी नहीं थी। व सारे व्यापार

जो मेरी सहायता और श्रम से स्थापित हुए थे। जैसे इंडियन ट्रस्ट्स कम्पनी, अभी भी वे लोग स्वदेशी के नाम पर अच्छा-खासा व्यापार कर रहे हैं, देखा व लोग मुझे अब पहचान ही नहीं पा रहे हैं।”

“या फिर तुम्हें याद है, उस नेशनल सोडा—वही मिसलेनियस इंडियन मैन्युफैक्चरिंग कम्पनी—ससेप में एम० आई० एम० अर्थात् ‘मिम’, का। मेरे द्वारा ही प्रतिष्ठित हाताकि रूपया एक मित्र सजीव राय का लगा था, पर चदा उगाहने और परिश्रम मेरा ही था। उसी ‘मिम’ का प्रथम उत्पादन हुआ—“नवीन लेमानेड” और “मधु लेमनस्क्वाश।”

(बयोनि मैंने देखा था जितने भी विलायती सोडा आदि थे, सबके नाम वायरन, मिल्टन या स्पेन्सर था। इसलिए अपने उत्पादनों का नाम देशी कवियों के नाम से नामकरण किया था)

—सोचा था स्वदेशी आग्रहण के कारण खूब चलेगा। रोज मैदान में रैम्पट के आसपास भिजवाता रहा। कितने यार-दोस्त रोज आकर पी जाते, पैसा नहीं दते थे। सिर्फ हिसाब भत्ता खाते में लिखा रहता। और भी क्या कुछ बनाने की साधा था, पर जेल चला गया। बाहर आकर भारत-भ्रमण के समय देखा कहा गया वह ‘मिमको?’ कारवार पहले ही बेहात हो गया था अब ताला झूल रहा है।”

“उसके बाद वही ‘कवरी कल्याण तेल जो तुम्हें भी एक शीशी दिया था, याद है? और था ‘सौम्य मल्हम’ (अंग्रेजी में ब्यूटी बाम) खूब चल रहा है। पर जिन लोगों ने काम अच्छा सम्हाल लिया है, उन्हें मुझे काम नहीं देना चाहिए। और ज्यादा भागीदार की जरूरत उन्हें नहीं थी। गांधी-इरविन संधि के बाद फिलहाल आंदोलन बन्द है। सोचता हूँ, इससे तो बाल्क ब्रातिकारी होना अच्छा था। बहुत होता कालापानी या फिर फासी पर चढ़ जाता। पर बिश्वासी मित्रों की यह प्रशंसा।”

‘हार्मोनि यह भी हा सकता है कि मैं ही उन्हें गन्त समझ रहा हूँ। जिस अशांत प्रणव कुमार को वे लोग पहचानते थे, मैं तो अब वह नहीं हूँ। श्रांत, आश्रय प्रार्थी इस प्रणव की उन्हें अब कोई आवश्यकता नहीं है।”

“इसलिए मूनगियेटर ही। काम पराव नहीं है। मुझे इस प्रेस का मौजद ही कहा जा सकता है। बेतन फिलहाल पचास रुपये। बाहर का काम साने पर भत्ता से पंमोशन। फिर इसके रिवा, चियेटर कम्पनियों के साथ जान-पहचान। गोटा संयोग। हा सकता है कभी भविष्य में मेरा कोई काम बन जाए, कैसा काम बन सकता है, उसे पत्र में छोलकर नहीं लिख रहा हूँ। यहाँ तुम लोगों के आने पर बताऊंगा।”

“जल्दी चली आना। तीस रुपये भेज रहा हूँ। रेल का किराया पाँच रुपये के लगभग है। बाकी रूपया स जिसका जो कुछ दना है, मिटा आना। आने को सूचना पहले से दे देना, स्टेशन पर रहेगा।”

“सबसे बड़ी बात यह है कि, अब थोर अनेसे नहीं चल पा रहा हूँ। उम्र बढ़ रही है। होटल का पाना अब रुचता नहीं। फिर अब थोड़ा आराम चाहता हूँ। एक मकान देय रखा है। तुम सोनो का पत्र पाते ही उसे ले लूंगा। वानू, इतने दिन बाद अपना एक छोटा-सा नील बनाने का जो सपना है, आशा है उसे तुम निश्चय ही पूरा करोगी। क्या नहीं करोगी?”

पत्र में और भी दो-चार साइनें थी। मेरे बारे में पूछताछ, आशीर्वाद आदि। पर ज्यों ही मैं यहाँ तक पहुँचा, “करोगी नहीं?” वैसे ही मा, तुमने कागज छीन लिया और फिर उसे टुकड़े टुकड़े करते हुए तुमने कहा, “झूठी बात है।”

तुम्हारी आवाज रित्तनी खो थी। तुम्हारी आँखों में कैसी आग थी। तुमने कहा, “सब झूठ बात है। बिधाम, यानि वह सब कुछ नहीं। सिफ बातों की आत्माकी है। जिस भाषा में वह नाटक लिखता है, उसी नाटक के कुछ पन्ने फाड़ कर भेज दिया है।”

आँगन में सूखने के लिये फैलायी गयी बच्चे मूंग की दास की बडियों पर कुछ चीलों की परछाई पड़ने लगी थी। टोकरी में बडियाँ समेटत हुए तुम और भी बठोर हो गयी थी। बोल पड़ी थी, “नहीं आऊँगी। हरगिज नहीं जाऊँगी। सब कुछ उसकी मर्जी से होगा। हमेशा मुझे लेकर उसका आ मन चाहा है किया है। सब कुछ चुपचाप सहा है। समुद्र-फमुद्र सब दा दिन का खयाल है। अचानक जा मन में आया है वही लिखा है। यहाँ फिर भी एक जगह स्थिर होकर बैठी हुई हूँ। अपने घर में सिर घुसाय पड़ी हुई हूँ। यहाँ से सब कुछ उठाकर कलकत्ता ले जाऊँ, भगवान जाने फिर किस नयी मुसीबत में डाले। अगर फिर कही वह भागे? इस बार तो समुद्र ने उसे लौटा दिया, फिर कही किसी तूफान ने उसे बुला लिया तो? देखा वह सब काय करना मुझे भी जाता है। मैं उसे पहचानती हूँ। मैं नहीं आऊँगी। मुझे वह पूरी तरह अपने जगल में फसाना चाहता है, क्या मैं इतना भी नहीं समझती हूँ?”

यह सब कहते समय माँ तुमारे खत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। गनीमत थी उत्तेजित होकर तुमने नोट नहीं फाटे।

(सिफ तुम्हारी ही नहीं, सब मनुष्यों की ही बराबर एक ही रीति देखी है। उसका एक हिस्सा अघा, बेहिमाओ, आयापीछा नहीं सोचने वाला होता है—और दूसरा हिस्सा उतने में भी बहुत सतर्क और सावधानी होता है)।

“किसी हालत में नहीं आऊँगी”, यह भी तुम्हारा अन्तिम कथन नहीं था। जिस नियम के कारण पत्र फाड़ने के बावजूद नाटो को सम्हाल लिया था, उसी विचित्र नियम के हेरफेर के कारण तुमने कलकत्ता भी छोड़ जाना चाहा था। नहीं, वहाँ सिर्फ एक घर बसाने के सौम से नहीं। दरअसल में, यह जगह क्रमशः कैसा तो शूय-सा होता आ रहा था। दादा नहीं है। सुधीर मामा का प्रस्थान—अप्यस्ता म

एक ओर पटाने। किसी नयी आदत में स्वयं को ढालना या सजाना है कि नहीं। तुम मन ही मन में उसी के लिए व्याकुल हो उठी थी। उसी समय बादा की चिट्ठी आयी थी। उसनी जोर-जोर से बोल जो पड़ी थीं, “नहीं-नहीं नहीं”, वह क्या उसी व्याकुलता की ही ढँपने के लिए? हाय मन हाय उसका तत्व। मैं थोड़ा बहुत ही उसका समझ पाता हूँ। अधिवाश मेरी समझ के बाहर है।

नहीं, अनेकें मुझे लेकर तुम पूरा नहीं हो पा रही थी। दादा के लिए हताशा, मेरे लिए स्नेह, किसी आवागन्तुक की सम्भावना की समाप्ति। बाबा की अनुपस्थिति, सुधीर मामा का अर्थान यह सब मिलकर भी तुम्हें हर समय के लिए ढँक नहीं पाता, क्योंकि इतना रख ढँक कर रहने की अब क्या जरूरत है माँ! साफ बात यह कि तुम उस समय भी युवती थी।

तुम उस समय भी युवती थी, यह मैं हिसाब लगाकर देखने के बाद बता रहा हूँ। बरना, इस पत्र के प्रारम्भ में ही तो कहा है, तुम्हें किसी भी उम्र में मैंने युवती नहीं समझा है। माँ—मेरे लिए सिर्फ माँ—जा माँ है, वे स्वयं युवती हो सकती हैं, यह मैं उन समय आयु में सोच भी नहीं सकता था। हाँ! देखो, तुम्हारी उस समय का उम्र की स्त्रियों की मैंने परवर्तिताल में प्रायना, यहाँ तक कि कामना भी की है। उम्र सिर्फ दृष्टि शक्ति ही नहीं, बल्कि देखने के ढंग का भी बदल देती है। यदि यह स्वीकारोक्ति असह्य सगे तो क्षमा करना।

उस समय कितनी रातें तुमने बिना सोये गुजारी हैं, वह सिर्फ शोक अथवा वास्तव्य के कारण ही नहीं। शररीय्या की कहानों महाभारत के लेखक को कहाँ से मिली थी, मालूम नहीं। मैंने तो बाद में जाना था कि विनिद्र अन्धकार रात्रि का नाम ही शररीय्या है। प्रत्येक तारा, एक-एक चूमता हुआ तौर होता है—सिर्फ क्या पीठ पर? सीने में भी विघ्नता है।

(उस समय मालूम नहीं था। तुम्हारी उस कटकित विनिद्र रात में मैं नहीं हाता था। मैं नहीं, हम साथ कोई भी कही नहीं होते थे।)

पर माँ! तुम भी धीरे-धीरे मुझसे कुछ दूर नहीं होती आ रही थी। ठीक कय से याद नहीं। थोड़ा भटकने लग गया, पर वह तो बलकत्ता जाने के बाद से शुरू हुआ था। बारीक आवाज सुनते ही सिर चक्कराना, गाल पर मुहाड़े, आँख के नीचे बालापन, यह सब तो बहुत बाद की बात है। शाम की बत्ताये ताक रखकर घुपघुप तुमसे पूछ रहा हूँ, एक दिन सुबह विस्तर ठीक करते समय चादर में एक दाग लगा हुआ तुम्हें दीखा था, याद है? जब बहुत छोटा था, उस समय भी चादर गोली किया हूँ—वह दूसरी बात थी। उसके लिए डाँट भी छापी थी तुमसे। पर उस दिन तुमसे डाँट तो नहीं मिली। तुम न जाने किस तरह तो अपलक मेरी ओर देखती रही। मेरे बड़े हो जाने का भय था?



इन सब बातों के लिए तो अभी डेरो समय पड़ा हुआ है। पहले, उस समय का अध्याय समाप्त करूँ। हम लोगो की वहाँ की गृहस्थी उठाने की बात करूँ।

तुमने कसकता जाना नहीं चाहा था, पर वहाँ रह भी नहीं पा रहो थी। भीतर ही भीतर अस्थिर हो उठी थीं। मैं, सुधीर मामा और बाबा इन तीनों को लेकर ही तुम थी। एक से तुम प्यार करती हो, तो दूसरा तुम्हें चाहता है, और एक तुम्हें बड़ी तीव्रता से अपनी ओर खींच रहा है—इन रस्साकशी में तुम्हें अस्थायी हो जाते मैंने देखा है।

चली जाओगी। मिटा जाओगी यहाँ की सारी स्मृतियाँ—सब कुछ। हम लोग तैयार हो रहे हैं। कसकता, चिट्ठी गयी है। मेरे नाम से। बाबा को, ताकि स्टेशन पर आ सके। सामान बँध चुका है, पर दादा की तस्वीर ? माँ ! उसे उतारने में तुमने उतनी देर क्यों लगायी ? तुम्हारे हाथ काँप क्यों रहे थे ? वसो मान लेते हैं वह स्नायविक अधीरता थी, पर

तस्वीर उतारते समय शीशा कैसे छुर-छुर हो गया ? क्या असावधानी के कारण ? अचानक ही वैसा हो गया था अथवा जानबूझकर ? क्या यह यहाँ का चिह्न लोप करके अपने अज्ञात में ही नये हो जाने की इच्छा थी ? तस्वीर का शीशा मेरी आँखों को चुभ रहा था। और जब तस्वीर उठाने गया तो देखा दीमक ने उसे बिल्कुल खस्ता कर दिया है। मा ! क्या इतने दिन से तुमने इस ओर ध्यान नहीं दिया था, अथवा समय ने आगे हम सब पिछारी हो गये ? सब कुछ खस्ताहाल ! तस्वीर की बागज ने लेकर दीवार का चूना, बालू-पलस्तर सब कुछ ?

तो दादा हम लोगो के साथ नहीं गये।

वही स्टेशन, जहाँ से एक दिन लौट आया था। वही ट्रेन, जिस ट्रेन में एक दिन बाबा को चढ़ा आया था। गाड़ी चलने लगी। मैं महमूस किया, हम लोग सब कुछ छोड़ जा रहे हैं। हम लोग दो जन यहाँ की सारी चीजों को, दादा को छोड़ जा रहे हैं, अथवा रख जा रहे हैं—अपने को भी।

बरबसल हम लोग बाद में जान पाये हैं माँ कि, कुछ भी, कभी भी साथ नहीं ले जाया जा सकता। स्वयं को भी। सब कुछ छोड़-छाड़कर फेंक जाने हैं, पर सोचत हैं कुछ लिए जा रहे हैं। जो कुछ साथ लेते हैं, उसका नाम स्मृति है, विवर्ण एक तस्वीर है। दीर्घ काल के बाद जिसे पढ़ पाना भी सम्भव नहीं।

हम लोग भी उस दिन सब कुछ रख कर चले आये थे। हम लोग जा रहे हैं, पर जो हम थे, उसे ही रखे जा रहे हैं। जा लोग जा रहे हैं वे कुछ नया बनने जा रहे हैं।

पिछनी बार जब नहीं जा सका था, तो कितना रोया था। और इस बार जब अचमूच ही विदा होते लगा तो, आँख में एक बूँद पाना भी नहीं। पर इसी शाम आश्चर्य बरौ वाली बात कुछ नहीं है। अब दया न, एक बार जब तुम्हें तीन चार दिन तक नहीं दर्ज पाया था। तो कितना-कितना रोया था, और अब जब कुछ मान

पड़ने तुम्हारे न रहने का समाचार मिला था, तब ? क्या मैं पहले जैसा रो पाया था ? नहीं माँ, बिल्कुल नहीं। पर इसके लिए तुम मुझे क्षमा करना। यठ मेरा नहीं, उम्र का दोष था। उँगलियों में गाँठ पड़ने के साथ-साथ मन में भी गाँठें पड़ने लगती हैं। जल का उत्स सूख जाता है।

इसलिए माँ ! मेरे प्रगाढ़ जीवन काल में तुम्हारी मृत्यु, मुझे रूखा नहीं पायी थी।

\*

\*

\*

ट्रेन चल रही है। तुम लगातार जाप किए जा रही हो। बीच बीच में ट्रेन की डगमगाहट के कारण मेरे ऊपर जुड़क-सी जा रही हो। जप करना रोककर, मुझे उँगली के इशारे से बाहर के दृश्य देखने के लिए कहती हो। दूर उड़ते बगुने। पास के घास के खेत साइन के किनारे खिले फूल। खेत की पगड़ण्डी से होकर गुजरती पालकी ढेर सारी बीजों से हम लोगों का परिचय होता जा रहा था। मेले ट्रेन हर स्टेशन पर नहीं रुकती है। जहाँ नहीं रुकती है, वहाँ के लोग कैसी तो एक खामोश शिकायत लिए खड़े रह जाते हैं न।

इस तरह शाम हुई। किसी एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी के रुकने ही, एक आदमी एक बाल्टी और पीतल का जग लिए, हिंदू पानी, हिंदू पानी का हाँक लगा गया। चाय, सिगरेट की हाँक लगने लगी। एक आदमी एक बड़े-से पैल में कुछ लिए चढ़ा और भापण देने लगा। तुम उतनी भीड़ में घूबट निकाले बिल्कुल दूल्हन की तरह बैठी थी। तुमने मेरे कान के पास मुह लाकर फुसफुसाहट में पूछा था, “इसके थले में क्या है ? क्या बेच रहा है वह ?”

“मीठा मसाला बेच रहा है माँ।”

इस गाड़ी में मैं भी गया था, फिर भी मुझे सब पता था। तुम्हारी तुलना में मैं उस समय ही बड़ा हो गया था क्योंकि तुमन मेरा गाल दबाते हुए कहा था, “मरद है न !”

वह आदमी इधर ही देख रहा था, भरोसा पाकर भागे बढ़ आया, “लोगी माँ ? लीजिए न। एक पैकेट एक पैसा। तीन एक साथ लेने पर दो पैसा।

तुमन आँचल का गाँठ खोलो। चुटकी भर मसाला मुह में डालते हुए कहा, कितना ठण्डा है रे। जितना ठण्डा है, उतना ही भीठा। हम लोग पार के साथ जायत्री, जेफन, इसायाची यह सब खाते हैं, पर इसकी तुलना में यह सब कुछ नहीं है।”

वह आदमी घुस हाकर बोला, “और दूँ माँ ?” तुमने फिर से आँचल धोल कर पूरे एक आने का खरीद लिया। सो जब थोड़ी देर बाद एक अघा लडका गाने लगा, “अधोकारेर अतोरेते ओथु वादल धारे रे—” तब तुमने आँख पोछते

भी नहीं, वही विशालकाय चनचदास विसासिनी मुझे अपने रूप रसगन्ध ने मोह जाल में आवेष्टित करेगी।

(वह रूप ! अब नहीं दिखता है। वह गन्ध ! अब नहीं मिलता है। मेरी आँख और नाक चली गयी, अथवा वह रूप और गन्ध ही उठ गयी ? पर उस समय पाता था। चूना-बालू नाली की झड़री, रोशनी में लिखे गये विज्ञापन, काले पिच पर नयने सय मुझे तद्राग्रस्त-सा कर देते थे, हालाँकि उस समय तक नगर जीवन के विस्तृत गहरे तक नहीं पैठ पाया था। वह तो आरम्भ था। स्वाद मिलना शुरू हो हुआ था।)

महकीले स्टेशन पर बाबा ही आये थे। तुम घूषट काद, सिमटी-सिकुडी-सा, वहीं पर पाव छूकर प्रणाम करने गयी।

बाबा बोले, “हैं हैं। यहाँ नहीं, यहाँ नहीं। यहाँ सबके सामने कोई पाव मे हाथ देकर प्रणाम नहीं करता है। लोग हँसेंगे, देखेंगे, और फिर चुकी नहीं कि घकियासे हुए चले जायेंगे। देख नहीं रही हो, कितनी भीड़, कितनी भीड़ है। ओ कुली ! उधर नहीं, इधर-इधर ”

बाबा थोड़ा बदल गये हैं। हम लोगों के गाँव के मकान में जैसा देखा था, उससे थोड़ा दुबले, पर और तरफ से थोड़े कम उम्र के। हूट पुट भाव कम हो जाने के कारण बाबा थोड़ा कम गुस्सेल दिख रहे थे। भीड़ों के बीच मस्ता है या नहीं, मैं देखने लगा।

बाबा एक हाथ से मुझे पकड़े हुए थे, दूसरा हाथ तुम्हारी ओर बढ़ा दिया। तुम पीछे हटन की बोशिश में ठोकर खा गयी। बाबा बोले, “पकड़ो-पकड़ो। यहाँ उतनी छुई-मुई बनो रहने से भीड़ में पिस जायेगी।”

पर मा, तुम तो छुई-मुई-सी तो थी नहीं। तुम्हारा घूषट अपने आप हो खिसक चुका था। तुम गदन उठाये इधर-उधर अवाक हाकर देखे जा रही थी।

बाबा ने टोका, “सामने देखकर चलो, वरना ठोकर खा जाओगी। यहाँ यही नियम है।”

पर मैं बाबा की कलाई बड़ी मजबूती से धामे हुए था। नियम कौन-सा है ? सामने देखकर चलना, अथवा ठोकर खाना ? ठीक समझ नहीं पा रहा था।

माँ, तुम रह-रहकर मनखी से मेरी ओर देखे जा रही थी। इशारे से अपने साथ रहने के लिए कह रही हो। बाबा ने तुम्हारा हाथ पकड़ रखा है, और मैं बाबा का हाथ पकड़ने के लिए खोज रहा हूँ। इस तरह हम तीनों का पहली बार का एक साथ मिलकर कलकत्ता में चलना शुरू हुआ।

आज पीछे मुड़कर देखते हुए सोचता हूँ, वही वह भी कोई प्रतीक तो नहीं था। सजान म मा ! पहली बार क्या तुम्हारा हाथ छाड़ दिया और किसी ओर को बढ़ लिया ?

माँ, तुमने मन्दस्वर में कहा था, “इस्स ! पहले भी तो आयी है। वही भाभियों के साथ बचपन में एकबार। उस समय भी सोग ठसे पडे थे, पर अब तो समयना ही मुश्किल है। यहाँ कितने आदमी होंगे—दस हजार ?”

“क्या कह रही हो ? सिर्फ दस हजार ? उससे कहीं सौ या दो सौ गुणा या फिर उससे भी अधिक। अन्दाज लगाओ, उस समय सोत था, अब समुद्र हा गया है।”

“तुम्हारा वही समुद्र !” तुम्हारे चेहरे पर उदास-सी हँसी। “मैं समुद्र नहीं देखा है। एक बार देखूँगी।”

“कुली ! कुली ! ओ कुली !” बाबा कुली के पीछे-पीछे चले गये। यहाँ वे अलग किस्म के बसो मग रहे हैं, वह अब समझ में आ रहा है। यह शहर सचमुच ही बहुत विराट है, पर यहाँ बाबा भी सप्रतिभ, कुर्तले, चतुर बने हुए अपना काम किये जा रहे हैं। उन पर मेरी थोड़ा बढ़ गयी।

(उस समय मुझे क्या मालूम था कि, यह सब कुछ नहीं है। चुटकी बजाकर शहरीपन के शिखर पर चढ़ा जा सक्ता है, पर चढ़ने के बाद फिर कोई मजा नहीं रहता है। मैंने भी ता चढकर देखा है। इस समय की शल्य विद्या की भाषा में कृत्रिम हृदय संयोजन करके उसका स्पन्दन सुना है, पर हृदयपिंड और प्राण एक नहीं है।)

उस दिन मैं मोटर के भोंपू, ड्राम की चुटिया पर विजली की धमक, मेवे की दूकान पर कटे हुए नासपाती के गन्ध से, पक्की सड़क पर फिटन गाड़ी की ठकठक सुनकर मस्त हो उठा था। एवं ही साथ मैं विस्मय और दीनता से आच्छन्न हो गया था। अपनी सरलता का अतिव्रम करूँगा, ग्रामीणता को थस्वीकार कर, शहरी बनूँगा—यह सत्त्व भ्रूणाकार में मन में गठित होने लगा था। और इसलिए

और शायद इसीलिए माँ कलकत्ते की मिट्टी पर—मिट्टी ही सिर्फ कैसे कहूँ, शाण, पत्थर और शाण। यहाँ तो मिट्टी की भी खरीद-बिक्री होती है—कलकत्ते में पाँच घरते ही तुम्हारा हाथ छोड़ दिया। हालाँकि तुम्हारी पतली असहाय उँगलियाँ उस समय भी मुझे दूढ़ रही थी।

(उस समय क्या पता था कि, शहरी आदतें, हाव भाव यह सब मेकअप की तरह है। इन्हें प्रलिप्त करन में समय नहीं लगेगा। एकदम दूसरा चेहरा बन जायेगा, पर मुश्किल तो उस समय आती है, जब अपने स्वरूप में लोटना चाहता हूँ।)

गाड़ी दौड़ रही थी। भीतर अँधेरा है। तुम-मैं एक तरफ, बाबा दूसरी तरफ। झाँक कर देखता हूँ। एक रोशनी बार-बार जलती है, फिर बुझ जाती है। पूछा, “बाबा, वह क्या बिजली है ?”

“बिजली ?” बाबा ने कुछ सोचा। “ठीक बिजली नहीं भैस है। नियॉन। बिजली की तरह दीखता है।”

(‘की तरह दीखता है’—उस समय अगर बाबू कान अभिज्ञ हाते ता इस

शहर के एक दूसरे चरित्र को भी देख पाता। यहाँ जो चीज जैसी दिखती है, वह वैसी होती नहीं है।)

गाड़ी चल रही थी। बाबा ने तुम्हारे पाँव के ऊपर हलके से एक हाथ रखा। बोल रहे हैं, "उसके बाद" ?

"किन्ने बाद ? बाद में जो कुछ है वह सब तुम्हारे हाथ में है। सब कुछ मिटाकर ही यहाँ आयी है।"

"वह तो ठीक बात है।" बाबा ने क्या हल्के से खाँसा ? "सब कुछ धुकाकर ही तो आयी हो। मैं कह रहा था कि आखिर तुम आ ही गयी।"

"आ गयी।"

"दोनों जन ?"

"दो जन। सिर्फ दो जनें।" ससि रोकने के लिए तुमने बाहर की ओर शायद मुँह घुमाया। मा, तुम्हें क्या लग रहा था ? धीरे-धीरे बाबा का हाथ ठेल क्यों दे रही थीं ?

"तीन जन हो सकते थे।" बाबा कुछ-कुछ स्वगत स्वर में बोले।

"वह तो चला गया है।"

"कितने जन ?"

"पता नहीं।"

"इस समय दो जन ? तीन जन क्यों नहीं हुए ?"

पाव पड़ता है, तुम लोग थोड़ी सहज भाषा में बात करो न, ताकि मुझे भी समझ में आवे।

"नहीं हुए। शायद भगवान की मर्जी नहीं थी ?"

"भगवान की या तुम्हारी ? ठीक-ठीक बताओ तो। वह आया नहीं, या तुमने जानबूझ कर ही उसे आने नहीं दिया ?"

तुमने मुँह घुमा लिया। सिर गाड़ी के बाहर निकाल दिया। सरसराती ठंडी हवा। तब मैं मा बेजार होकर बुदू को तरह बोल उठा, "क्यों हम लोग तीन जन ही तो हैं। आप मैं और माँ। आपको लेकर तीन जन।"

'हैं, मुझे लेकर तीन जन।' बाबा ने अयमनस्कभाव से कहा। फिर अचानक साथे होकर बैठते हुए कहा, 'आह ही। भूल गया था और भी तो एक जन था ?'

मा तुम चौंक गयी। बोली, "कौन ?"

बाबा ने सीधा-सा कोई उत्तर नहीं दिया। अपने घुटने पर टकोर देते हुए बोले, "या तो वही एक जन। उसने तुम्हें आने दिया ?"

तुम माँ बनायास ही इस बात को उठा सकती थी फिर भी न जाने क्यों बँटार हो उठी। उस घुघली रोशनी में भी तुम्हारे जबड़े बस जाते हुए दखा। उसके बाद ही माँ, अचानक तुम्हें नरम होकर सोट बात देखा। दोनों हाथ से मुँह ढँक लिया है। अनुत्तर यहाँ तक कि प्राथना करने का स्वर में बोल रही हो, "यही भी

उन घातों को धींच साने की क्या जरूरत है ? समुद्र फुटूँ—यही तुम्हारा नया होना है ? पत्र में फिर क्या वह सब बकवास ही लिखा गया था ? हम लोगों को यहाँ साये हो नये सिरे से सब कुछ शुरू करने के लिए । उठा चढ़ा कर पत्र में कितना कुछ तो लिखे थे । वह सब क्या झाँसा देने के लिए था ?”

बाबा चुप रहे ।

और ठीक उसी समय, मैं एक बेवकूफी कर बैठा । मैं वहाँ हो गया हूँ । मेरी भी बुद्धि है, बाबा के पास माना उसी को जाद्विर करने के लिए फटाक से घोस बैठा, “सुधीर मामा तो नहीं हैं, वे तो चले गये ।”

बाबा अपसक दृष्टि से देखे जा रहे थे । बीच के मस्ते को साक्षी रखकर क्या दोनों भी हैं फिर से खुद गयी ? इस शहर में इतनी रोशनी है, पर इस गाड़ी के अन्दर कितना अँधेरा है । खून सूख कर जिस तरह काले-काले धब्बे बन जाते हैं, उसी तरह सूखकर जमा हुआ अँधेरा, वही भयकर घघर ध्वनि के साथ घोंटा गाड़ी दौड़ रही थी ।

“क्या सोच रहे हो ?” तुमने बहुत धीरे से पूछा, मानो डरते हुए ही इस बार शायद बाबा के हाथ पर हाथ रखा ।

“सोच रहा हूँ ।”

“अपने किसी नये नाटक के बारे में ?”

स्मिर दृष्टि से देखते हुए बाबा धीरे से बोले, “हा यही हम लोगों के नये नाटक के बारे में ।”

बाफी देर बाद बाबा ने गर्दन झुकाते हुए कहा था, “ओ बीचवान ! रोक के भाई । नहीं-नहीं दाहिनी गली, दाहिनी गली । थोड़ा और अन्दर चलो । अच्छा यही, विल्कुल रोक के ।”

हम लोगों की आर देखते हुए बाबा ने कहा, “हम पहुँच गये हैं ।”

— \* \* \*

न जाने कितने वर्ष बीत चुके हैं, पर मैं अभी भी ठीक से समझ नहीं पाया हूँ कि बाबा ने उस दिन जो कुछ कहा था उसका मतलब क्या था । वहाँ पहुँच गये हैं ! कभी-कभी लगता है, असीब, अदभुत एवं धारणा थी । कभी-कभी लगता है उस दिन सचमुच क्या गाड़ी वहाँ रुकी थी, जहाँ मुझ सी आयी एक गैस यन्त्री साक्षी थी ? क्या जाने शायद सब कुछ भ्रम ही रहा हो ।

जो बीचवान, अदृश्य कोचबक्से में बैठता है, किसी की बात नहीं सुनता है । रुकता भी नहीं है, न कही किसी को पहुँचाता है सिर्फ गाड़ी हँकाये जाता है । मैं अपने प्रथम दिन की स्मृति से उसके अस्तित्व के सबंध में अस्वस्थि ग्रस्त रहा हूँ उसके तीर-तरीके के प्रति सकातुर रहा हूँ । रह-रह कर उसके चाबुक की साँप-साँप की घमकी सुनता हूँ । शायद मेरी भ्रांति हो, पर मैंने अभी तक उसे पाल रखा है ।

\* \* \*

“यही मकान है ?”

“हाँ, यही है।”

पैसेज में रोशनी नहीं थी। उसी समय क्या महसूस हो गया था कि यह शहर एक ही साथ उघड़ा हुआ और गोपन है। अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग तरह का। यहाँ प्रकाश, वहाँ अँधेरा। बहुतों के साथ उसकी कई तरह की छुटाछिपी।

“यही मकान।” बाबा ने कहा, माना कोई अमोघ निर्देश हो। हाथ बढ़ा कर पहले मुझे उतारा। तुम हैंडिल पकड़ कर किसी तरह अपने को सम्हालती हुई उतरो।

रोशनी नहीं थी, इसलिए बाबा को माचिस जलानी पड़ी, सामान उतार कर ह्यूडी पर रखा गया। पूरा एक खपा पाकर कौचवान खुश होकर सीटी बजाता हुआ चला गया। उसके पाँव के दबाव से घटी टन टन बज रही थी। गली की मोड़ पर जब गाड़ी मुड़ गयी, उस समय भी वह हिन्दी गाना गा रहा था—काहे बचाके हमसे प्रियतम, छिपाके जाती हो। पर अब हजारों बार माइक पर सुनने पर भी शब्दों को ठीक से पकड़ नहीं पाता हैं, पर उस उम्र में एक बार सुनते ही हिन्दी गाने की एक कड़ी मन में गूँथ गयी।

“सामान मैं बाद में ले आऊँगा, पहले तुम सोग आओ।” माचिस जलाकर बाबा आगे-आगे चले रहे हैं, हम सोग उनके पीछे। पास-पास जालीबंद कुछ जिड़कियाँ, पर कमरों में अँधेरा था। थोड़ा और आगे बढ़ने पर एक सीपनदार आगन। मध्यम रोशनी में भी कोई दीख गयी। लगा बहुत किसलन है यहाँ। एक नस ठीक से बन्द नहीं हुआ है, इसलिये पानी लगातार टपक रहा है, टप् टप्-टप्-टप्—मैं अवाक सा खड़ा होकर देखता रहा। बाबा ने माचिस की तीली जलाकर जल्दी मेंचायी ‘देख क्या रहा है, जल्दी चम।’ माचिस बुझ गयी। तब सामने एक लकड़ी की सीढ़ी दीखी। माचिस की तीली बुझ गयी है। बहुत दूर के मास सितारे की तरह उस समय बाबा के मुँह पर जल रही थी बीड़ी, वे स्वदेशी हैं न, इसलिये सिगरेट नहीं पीते थे। बीड़ी की रोशनी होती कितनी है फिर भी आभास मिल रहा था, कि आगन के पास में ही एक शाण बघा घड़ा है। उससे सट-सट कर सीढ़ी के पास पहुँच गये।

वह सीढ़ी थर-थर काँप रही थी। आधी रात में नींद टूट जाने से खोज के बिचबिच करन की तरह। पहली बार जीना चढ़ा था। उसके बाद कितनी चमकदार सीढ़ियाँ अपनी जिंदगी में देखा हैं, यहाँ तक कि सगमरमर की भी, पर कलकत्ते की वह पहली लकड़ी की सीढ़ी आज भी रह-रह कर काँटती है, शुशलाती है, फिर भी बार-बार उसका भिन्न-भिन्न सदमों में लौट जाना जारी है।

सीढ़ी पर पाँव धरत ही उसने नीचे बैठा एक कुत्ता, पहले चौंका फिर बाद में अचानक ही रिरिया उठा। ऊपर कहीं दो बिल्लियों में झगड़ा चल रहा था। सीढ़ी के रिल्कुल ऊपर ठीक आगन के आकार का एक चौकोर आकाश फैला हुआ था, मानो

बादर का एक टुकड़ा हो। हम लोगों के पाँव की आहट से कहीं बैठे कुछ बबूतर उड़ गये। उसके बाद।

“यही कमरा है ?”

“यही है।”

“बत्ती नहीं है ?”

“जलाता हूँ। एक साइटेन है उस कोने में। देखना तो जरा।”

हम लोगो की आवाज सुनकर कौन सब तो आये थे। वे लोग भीतर नहीं आये, सिर्फ उनकी परछाइयाँ दबो आवाज में बाते करती रही, बाबा बाहर निवस कर पता नहीं क्या बोल आए। उसके बाद फिर खामोशी छा गयी। अभी थोड़ी देर पहले ही तो बड़ी सड़की पर झिलमिलाती रोशनी देख आया था। शहर सोया नहीं था, एकदम आँख फाड़कर जगा हुआ था, पर यह गली, गली का यह भूतान इतनी जल्दी सो गया।

नीचे के कमरे में कोई खासता रहा था। दूसरी ओर से एक बेसुरी सी आवाज गूँज उठी। सोझी में चरमराहट, उसके साथ ही एक मीठी-सी रिनी-रिनी ध्वनि। जो लोग आये थे, वे कौन थे ? वह मीठी आवाज क्या उनके हाथ की छूड़ियों की थी ?

कलकत्ता, कलकत्ता। कुल मिला कर यही था पहले दिन का कलकत्ता।

माँ, तुम कमर में आचल बाँध कर कमरा साफ कर रही थी। एक बार मुह उठाकर बाबा से कहा, “कैसी गंध है न ?”

‘मह। कहीं से साँझ। इस कमरे का हा किराया बीस रुपया है, पता है तुम्हें ?’

तुम एक छिड़की खोलने जा रही थी। बाबा ने हाथ के इशारे से मना किया, “उस छिड़की को मत खोलो।”

“न खोलू ! पर क्या ?”

“कारण जानकर क्या होगा ? उस तरफ, माँ उस तरफ ठीक नहीं है न। और कोई पास बात नहीं। मतलब यह कि मत जानना चाहता। परोक्या में एक कहानी नहीं थी, उत्तर दिशा की छिड़की नहीं खोलनी है। समझ सो वेता ही कुछ है। बाद में धीरे-धीरे पता चल जायेगा।”

“पर बिना छिड़की खोले घुटी हुई गंध।”

“बूँटो न गदा किया है, एक दरसे से यहाँ कोई रहा नहीं है। बाद में देखना सब ठीक हो जायेगा। जब मालूम पड जायेगा कि यहाँ आदमी आ गये हैं, तब देखना तिलचिट्टे भी भाग जायेगे।”

“तिलचिट्टे भी हैं क्या ?”

“हैं, हैं। सब कुछ हैं। इन्हें लेकर ही तो है।”

बिना पूरा मुने ही मैं मन ही मन में बोल पड़ा, कलकत्ता !”



“सब कुछ जानते-सुनते हुए भी तुम यहाँ !

“इससे बढ़िया कहाँ मिलेगा ! यह तो शुरू करो, सतीश राम ने सूचना दी थी । सतीश कौन है, मालूम है ? हमारे चियेटर मे प्रॉम्पट करता है, याने आड म खड़ा होकर सबको अपने पाट का सूत्र पकड़ा देता है, सतीश भी यही सपरिवार रहता है । बहुत बढ़िया आदमी है । कल मिल सकोगी ।

“उसकी बहू ?”

“है । एक प्यारी सी लडकी भी है । थोड़ी देर पहले वे ही लोग तो हासचाल पूछने आये थे । कल सुबह फिर आयेगे ।”

“देखो इतने तरह के काम रहते हुए तुम चियेटर मे मुझे तो सब कुछ केमा तो लग रहा है ।”

“मेरे लिए जज की नौकरी लिए भसा कौन बैठा है, बताओ तो । हाकिम बनाना है तो अपने लडके को बनाना ।”

तुम मेरे सिर पर हाथ रखकर बोली, “हाकिम बनेगा, जज बनेगा । पता है वह पढ़ने-लिखने मे कितना तेज है । इस बार वार्षिक परीक्षा मे कितना तो मिला है रे ?”

बोला, “छह सौ तीस सात सौ में ।”

“बस्स,” बाबा हँस पड़े, “फिर तो हाकिम बनने का आधा रास्ता पार ही कर गये हो । पर मेरी बात अगर मानी जाये, तो कटौगा, वह हाकिम नहीं बनेगा । हाकिमी का मतलब भी तो अग्रेजों की गुलामी है ।”

“फिर भी सम्मान, स्थायित्व, यह सब तो मिलेगा ?”

“आखें तिरछी करके बाबा ने कहा, “तुम्हारे वही एक दादा थे न, उसे जो मिला था ? सेरेस्ता था नहीं और पाम करता था न ? पर मुझे मातूम है, असल मे वह पुलिस का भेदिया था । छपवेशी उसका सब कुछ ही छपवेश था । मेरा लडका ” हाफते-हाफते बाबा बोले, थोड़े उत्तेजित से, “वह अगर मेरा ही बेटा है, तो किसी भी हानस मे किसी का गुलाम नहीं बनेगा । वह चूहा बिल्ली नहीं बनेगा । वह बनेगा बाघ ! बाघ का बच्चा बाघ !”

इतना कहकर बाबा ने मेरी पीठ थपथपायी ।

“बाप तो अब चियेटर की माँद में घुस पडा है । छि छि इतना जेल बेल जाकर अन्त मे ”

“चिट्ठी में सब कुछ तो समझा कर लिखा था । देखो, माँद मत कहो । विस्मृत में अगर होगा तो यह चियेटर ही मुने उठायेगा । शायद वही ’ बोलते-बोलते बाबा की आँखें प्रदीप्त हो उठी । नासापुट स्फीत, भाये की नसें भी फूल उठी हैं “शायद वहीं एक दिन मेरा नाटक भी खेला जाये ।”

“तुम्हारा नाटक !”

“हो तो सक्ता ही है। उसी उम्मीद से महीं घुसा हूँ। सुई बनकर। छिद्र पय से। सव्यसाची बाबू का नाम सुना है ? इस समय के सबसे विख्यात एक्टर। उन्होंने वायदा किया है ”

“नाटक खेलेंगे ?”

“नहीं, फुर्सत मिलने पर एकाघ पांडुलिपि पढ़कर देखेंगे। एक साथ वे दो बोर्ड में उतरते हैं। प्रत्येक वीरवार, शनिवार और रविवार को। इसके अलावा टांकी स्लॉटिंगो भी है। दम मारने की फुर्सत कहाँ है ?”

झाड़ू हाथ में लिए तुम चित्रवत् देखती रही। शायद आशा और अविश्वास में झूलती रही थीं।

“आज ज्यादा कुछ मत करना। मैं घट्ट से दुकान से खाना ले आ रहा हूँ। पूड़ी-तरकारी और दही या फिर दही-मीठा दही। कसकसे का दही, एकदम अलग तरह की चीज है। पता है न ?”

इतना कहकर बाबा ने मेरी ओर देखकर आख मारी और फिर सालथ दिखाने वाला इशारा करके चले गये।





वही कमरा । वही कमरा ।

कमरा वैसा है, उसका असर चेहरा, दूसरे दिन सुबह साफ हो उठा । वैरते हुए जिस तरह हम लोग गाँव के ठामाब में दुबकी लगाकर किनारे पहुँच जाया करते थे, इस कमरे में भी सुबह होत न होत हो एर एव चीज अचकार से निकल कर किनारे चली आ रही थी—नानछा परती दीवार ऊपर दीमक छापी बल्लियाँ, जग लगी खिड़कियों की सनापें । छोटी-सी छत पर जलर आयी थी, पर बयोत्रि कमरा बहुत गर्मावा था, किसी को अपना चेहरा दिखाना ही नहीं चाहता था । सो अलग-अलग कमरे में जलते बूँदों को धुएँ में अपने को छुपाता रहा । आखें जलने लगी थी, मैं सठ पडा । देखा, तुम मुझसे पहले ही उठ गयी हो । दीवार के एक ओर, काम या फिर कुछ ओर ठोककर गडना चाह रहा हो ।

बाबा, थोड़ी देर बाद ही धँले में भरकर हरी सन्त्रियाँ ले आये, 'बया कर रही हो तुम ? ऐसे ही दीवार का पलस्तर उखडा हुआ है, ऊपर से अगर चूना बाध सब शरसरा कर गिरने लगे, तो क्या मकान मालिक नाराज नहीं होगा ?'

"मैं मैं एक चीज बनाना चाहती हूँ ।"

"बया बरोगो, वही तो पूछ रहा हूँ ।"

तुम्हारा चेहरा साफ हो उठा है । हवा में धूँने का चूरा उड़ रहा था, इसलिए नाक में सरसराहट होने लगी थी । साफ दर्प था रहा था, तुम कुछ छुपाने की कोशिश कर रही थी ।

"तुम जाओ तुम जाओ न । लौटकर आकर देखना ।" बिना किसी ओर दखे, तुम दसचित्त भाव से कील ठोकती रही । ठोकने का मन तो वही एक छोटा सा सरोता था । कील दुहा नहीं, पर एक बार तुम्हारी उँगली कुचल जरूर गयी । लेटे लेटे मैं सब कुछ देखे जा रहा हूँ । बाबा नाराज होकर निवृत्त गये । लौटूँ तो खाना तैयार मिले । रोज बाहर का खाना, इतनी अमीरी सही नहीं जायेगी ।"

"लौटकर दखना ।"

अतः कील गड तो गया, हामाकि बहुत मजबूती के साथ नहीं । थोड़ा टेढ़ा ही रहा ।

मैं देख आ रहा हूँ । तुमने पहले राधावृष्ण की तस्वीर निवाली । उसे गोद

में रखकर देखा। फिर उसे बगल में रखकर, एक और तस्वीर निकली—हर गौरी की। नहीं, वह भी पसंद नहीं आयी। जब तक दबे पाँव मैं उठ पड़ा हूँ। सबसे नीचे, बड़े सावधानीपूर्वक जो तस्वीर रखी थी, उसी को धींच कर निकाला। फिसफिसात हुए स्वर में बोसता हूँ। केवल एक बेटा ही अपनी माँ से उस तरह के अंतरंग स्वर में बोस सकता है, "इसे-इसे टाँगना है तो! यह सो, पर टाँगोगी किस तरह? जैसी यह दीवार है, तस्वीर की हालत भी तो वैसी ही है। टूटा हुआ शीशा, जर्जर तस्वीर।"

और उस समय जो कुछ होना था वहीं हुआ। तस्वीर मुझसे छीन कर मेरे गान पर खींच कर एक पप्पड़ मारा, क्या? तुम्हारे मन की बात कह दिया, इसलिए? पर उसके लिए माँ, उस तस्वीर को सीने से लगाकर रो पड़ने की क्या जरूरत थी?

पर आज सोच कर देखो, धाम्य में जो होता होता है, वहीं हुआ न? दादा की तस्वीर पुरानी, जर्जर, जिसे साथ साना नहीं है, नहीं है करने भी जो चली आयी तो फिर से चली गयी बगले के बिल्कुल अंदर। कसकते में हम और तुम आये थे, माने हम दोनों। रह भी गये हम दोनों ही? यहाँ पर यहाँ तक कि यहाँ की दीवार पर तस्वीर बनकर भी दादा रह नहीं सक।

क्या तुम इसीलिए तस्वीर को अपन सीने से लगाये रोती रही। दादा के लिए कलकत्ता आकर वही प्रथम और शायद वही अंतिम रुदन था तुम्हारा।

उस जमाने में व्याह करने जाने के पहले जिस तरह सबके कहा करते थे, "अनुमति दो माँ, तुम्हारे लिए नौकरागी लाने जा रहा हूँ।" ठीक उसी तरह माँ, मैं अब तक कलम बस्ता-चला कर बस्तात हो गया हूँ। समय था रही हो, अब मैं क्या कहना चाहता हूँ? "अनुमति दो माँ, उसी उम्र में प्रवेश करूँ।"

किस उम्र में? जिस उम्र में कलकत्ता मुझे जल्दी-जल्दी तैयार करता जा रहा था। रोटी को सेंकने के लिए जिस तरह उसे आग पर बार-बार उल्टा-पल्टा जाता है, ठीक उसी तरह में फूँकता जा रहा हूँ। भीतर दबा हुआ भाव, मुँह पर बातों की फूलझड़ी। मुझे देखकर कौन कह सकता है कि मैं वहीं डरपोक दुबला-पतला गाँव का सड़का हूँ?

बंद चावल की हड्डिया में जिस तरह बेला जल्दी पकड़ा है, मैं भी उसी तरह पकता जा रहा था। हानाकि स्कूल-फाइनल पास करने में अभी भी दो साल का समय बाकी था। बहुत धीरे-धीरे उस वृत्तांत का समोचन करते रहने से बात खत्म होगी नहीं। फिर उम्र की छलनी होकर बहुत-सी स्मृतियाँ बह भी गई हूँ।

मैं भी एक उठा था। तरह-तरह की पिताबें पढ़कर मजा लेता। तरह-तरह के सोपा की बातों से इशारा से, फिर विविध पारिवारिक अभिन्नता से भी मैं पकने लगा।

थोड़ा सा पाउंडर नाक के पास लाने पर कैसा-वैसा तो लगता । पता नहीं क्यों फागुन आते आते सड़क के दोनों किनारों के पेड़, उड़ते हुए धूल से मस्त हो जाते !

(हाम ! पुरुष के वय सघिकाल की बात किसी काव्य ग्रंथ में नहीं लिखी गयी है । पुरुषों को सिर्फ जान पाते हैं, उनके कठोर कष्ट में और विगलित निष्कृति में । और-और युवतियों को !)

कलकत्ता औसतन मेरे लिए क्रमशः सहज होता जा रहा था, पर तुम्हारे लिए नहीं । नये जूते का काटा मेरे लिए सहा हो गया था, पर चप्पस पहन कर चलने फिरने की आदत को तुम रफ्त नहीं कर पा रही थी ।

बाबा कहते, "तुम वही गैबार भूतनी रह गयी !"

तुम, "रातोंरात शहर की परी बन जाऊँगी, ऐसा सोचा था क्या ?"

बाबा, "तो फिर जाओ न, तिसक काट कर बूढ़ियों की तरह रोज गंगास्नान कर आया करो !"

तुम, "वह तो करूँगी ही । हमेशा के लिए एक दिन गया स्नान करूँगी । एक दिन तुम मुझे रास्ता दिखा दें न !"

बाबा, "सीधा रास्ता है । पश्चिम की ओर चलने पर, पूरा आधा मील भी नहीं है !"

इसी तरह की तू तू, मैं मैं । मैं बूला लोगों के यहा भाग जाता ।

वही, जो सोम पहले दिन रात को हम लोगों के आते ही, परछाई की तरह बाहर आकर खड़े हुए थे वही सोम, बूला ! बूला और बूला की माँ । जो सतीश बाबू पियेटर मे प्राम्पटर हैं, जिन्होंने इस मकान की सूचना बाबा को दी थी, वे ही बूला के बाबा हैं ।

माँ, शुरू शुरू में तुम सब कुछ भूल गया थी । वही घारीदार साड़ी, पूरे माँग मे सिन्दूर भरना, सब लीट आया था । बाबा भी रोज सुबह बाजार तो जाते ही थे, शाम का कोई न कोई मिठाई भी ले आते । जहाँ बैठकर मैं पढ़ता, जिसकी दीवार के ऊपर मैंने बड़े-बड़े हरफों मे लिखा था "पाठ-पोठ", कोई विशेष मतलब से नहीं, यूँ ही । तुम होठ उलट कर कहती, "सब पियेटरी नखरे हैं, नाटकीय है ।" बाबा कहते, 'क्यों न हो ! बेटा तो आखिर मेरा ही है ।' उसी पाठ-पोठ के सामने बैठा ऊँच रहा हूँ । बाबा ठेल-ठेल कर मुझे जगा देते ।

माँ, तुम आगे बढ़कर मेरे मुँह मे मिठाई ठूस देती । बाबा जब मुँह घीने के लिए बाहर गये, तब खुद भी थोड़ा-सा चख कर कहती, 'मैंने गलती की थी रे !' बहुत धीरे-धीरे कहती । कैसी गलती ? 'तेरे बाबा सचमुच पहले से बदल गये हैं पहले से अधिक परिवार के ऊपर मोह हो गया है, देख रहा है न ?'

दख नहीं रहा हूँ भला ? दखूँगा क्या ? उस समय तो हाथ मे उससे भी बर प्रमाण था, उसी भी चख रहा हूँ ।

पर वह सब कितने दिन तक भला । कैलेडर पर निशान तो लगाया नहीं था । बाबा की सुबह की खरीददारी बंद हो गयी । बैला लेकर नीचे ठीक ही उतरते, और फिर ठीक नौ बजते ही ऊपर भी उठ आते थे, पर तुम जो-जो सामान लाने के लिए कह देती, उनमें से बहुत सी चीजें नहीं होतीं । एक दिन गुस्से में तुमने सारा सामान बिखेर दिया और फिर गुस्से में फुफकारते हुए कहा था, "लाने के लिए कुछ कहती हूँ और तुम कुछ और उठा लाते हो ।"

बाबा खामोश रहे । आपो में किसी तो एक निरर्थक-सी दृष्टि । अब मैं उस दृष्टि का मतलब समझता हूँ । अपराधी की दृष्टि ।

वह अपराध कैसा था, इस बात का पता हमें बूला से मालूम हुआ । एक दिन नीचे से सामान का बैला वही ऊपर लेकर आयी ।

तुम थोड़ा अवाक हुईं । बोली, "तुम ?"

'बाबा ने भेज दिया है मासी मा ।'

"बाबा माने तेरे बाबा ? पर क्यों तेरे मेसोमोशाय "

'मेसोमोशाय गप्पें मार रहे हैं मासीमा ।'

"बाजार से लौटते ही गप्पें मारने बैठ गये ? अच्छी अक्सम-दी है भलेमानस में ?"

"मेसोमोशाय तो बाजार नहीं गये थे मासीमा ।"

"तो फिर सामान कौन लाया ?"

"क्यों बाबा । बाबा ही तो रोज जाते हैं । मेसोमोशाय तो रोज नीचे जाकर बाबा को सपया पकड़ा कर गप्पें मारने बैठ जाते हैं ।"

"गप्प ? किसके साथ ?"

"क्यों ? मेरी माँ नहीं है क्या ? मा बहुत बड़िया चाय बनाती हैं, मासीमा । एक दिन पियेगी ? फाक का एक कोना, मुह क पास लाकर बूला हूँ रही थी । मैं दूसरी तरफ देखने लगा । माँ मेरे शरीर की यंत्रणा आरम्भ हो चुकी थी । हालाँकि बूला के दोनों पाँव देखने में बिल्कुल सुंदर नहीं थे । घुटने के पास कसौट्र । ऊपर से पतली चमड़ी के ऊपर नीली उभरी नसें । मेरा बदन सरसराता ।

माँ । तुमने भी क्या गोर किया था ? बरना क्यों बोसतीं, "बूला, टुकटुके करके खड़ी हो । यह तुम्हारी कैसी बुरी आदत है ?" बरछल बसाने की आवाज में तुम्हारी नाराजगी छिपी थी ।

बूला की उम्र कितनी होगी ? मुझसे बड़ी थी, या मेरी ही बहन ? पर बूला की माँ, जिसे मैं भी मासी कहता, सोला मासी, तुमसे ज्यादा डरती ही थीं । कम से कम दीखती वह तुमसे छोटी ही थीं । ठीक निद्र टाइट टय फामता को देख कर हाँ समझ गया था कि वह बिल्कुल और तरह की है, मीठा मासा भी देती हैं थीं, क्योंकि अपने अज्ञात में ही तुम्हें मैं एक बड़े टुकटुके व्यापारिकता का नाम मानता था न इसलिए ।

भामती वाली थी, लीला मासी गोरी। शायद तुमसे भी ज्यादा। या फिर बहुत सजी-धजी रहने के कारण भी हो सकता है तुमसे ज्यादा गोरी दीखती हों। तुम्हें एक दिन यह सब कहते ही तुम नाराज हो उठी। शीशा सामने रखकर बूढ़ा ठीक कर रही थी। दात से कांसा रिवन दबाये, गर्दन घुमा कर कहा था, “मं धो कर एक दिन उस लीला को मेरी बगल में खड़ी होने के लिए कहना। पर सफेद मल्हम-फल्हम न लगा रखे। तब देखूंगी कौन ज्यादा ” आगे कुछ बोला नहीं गया। भूह से फीता खिसक पड़ा। प्रसाधन के मामले को तुम मल्हम कहती। तुम्हारे लिए तो साज-सज्जा का मतलब था, सिर्फ सिन्दूर और आसता? न-ना वह भी नहीं था।

भामती गोलमटोल थी। लीला मासी दुबली, गाल की हड्डियाँ उभरी हुई। गले की हड्डी को तो मैं हमेशा देख पाता था। फिर लीला मासी के ब्लाउज का बट भी तिकोना रहता। और तुम्हारा? तुम तो ब्लाउज ही नहीं पहनतीं। कसकते आकर भी सिर्फ समोज ही पहनती।

तुम कहती, “वह तो बेहया है। सबकी को भी वैसी ही फूहड़ बना रही है। तू उन लोगों के पास मत जाया कर।”

मा! मेरी माँ! तुम तो मा हो। तुम क्यों उन लोगों से जलोगी?

\*

\*

\*

तकरीबन रोज ही लीला मासी शाम के समय खूब सज्जज कर न जाने कहाँ तो जाती। लौटते-भीटते रात हो जाती। रिक्शे में जाया करती, कभी-कभार टैक्सी में भी। आह! वह टैक्सी का भोंपू, पीछे फैला हुआ धुआँ। मैं बीड़ा जाता। जी भरकर महक अपने सीने में भरता। कितना अरसा हो गया उस महक का पाये हुए।

लीला मासी को जा लोग छोड़ने आते उनके चेहरे कभी नहीं देख पाया। शायद उनके चेहरे ये भी नहीं। या फिर अघकार में आधा छुपा हुआ शरीर। उन लोगों के पास भूह भले ही हो, पर उन मुखों पर कोई शब्द नहीं थे। सिर्फ एक तरह की हँसी, खिसखिस करती। बोतल से कुछ दासने पर जैसी आवाज होती। लीला मासी शायद किसी संगीत के स्कूल में गाना सिखाने जाते थीं। बूला ने बताया था। सुनकर थोड़ा आश्चर्य हुआ था। लीला मासी का चेहरा जितना मुलायम दीखता, उनकी आवाज उतनी ही रुखी थी। उस आवाज के साथ गाना कैसे सिखाती होंगी?

बूला के पिता सतीश राय थे। तुम्हें ‘बोउदी’ (भाभी) कहते, पर तुम ज्यादा भूह नहीं लगातीं। तुम उन्हें ‘जल्खा’ कहती। बाबा कहते “तुमने सिर्फ उसका बारीक आवाज ही सुना है। एक बार वह बहुत बीमार पड़ गया था। लीवर की बीमारी थी। तब से उनकी आवाज उस तरह की हो गयी है।”

“लीवर की बीमारी में आवाज बिगड़ जाती है?”

"विन्दो ३ बड़े, विन्दो है। पर वह ऊपर के बहुत सारे गुण हैं। जो जान से प्रोन्नत करता है। जिस अन्तर को बेहरे के कारण ही बना कर नही बना बना कोई भी नहीं हो, उसे रखा हुआ होता है। कुछ बड़े तो एक दिन दिन विन्दो नहीं हो—कुनकर मना हो—विन्दो बने हो विन्दो मन्तर-गौर बाहो तो आत्मनो, या फिर विन्दो

"बस, बस रहने दो। वह जगत् में बकि विन्दो कोर का हो नही जमगा।"

"ऐक है वह वेना भी कर सकता है। सीता, जना, केवरी ऐसी ऐसी देकर पड़ेगा कि उस जमाने की तात्त कुन्दरी, कुन्दकुन्दरी, बासीता ही इसके हानो वही टिक पायेंगे। यह महारथ किना बडिना नयनिज बना सकता है वह तुम उसे बिना सुने सम्झ ही नहीं पाओगे।"

चिरछी नवरी से देखते हुए तुमने कहा, "बाबू इतनीए वहाँ रोख रहना मारने जाते हो?"

"बिन्दु।"

"बुन रहो।" मानो तोप दा मया। "तुम वहाँ जा महारानी के पीछे जात हो।"

"इसकी बात कर रही हो?" बाबा हकसाने सगे थे। बाबा मुझे उस समय किसी छोट जीडे के समान समे, माना चोर भी छोटे बकर अपने झूठे के अन्दर ही घुस जायेंगे।

"किसकी बात कर रही है। वह तुम अच्छी तरह समझ रहे होगे। रोख तुम्हें जो वाय पिलाती है, ज्यों मारती है। शाम को जो रोख सज्जध कर रिकसती है।"

"उस समय तो मैं रहता नहीं हूँ।"

"उसी बात का अफसोस है क्या?" गदन टेढ़ी कर, हाठ बिजबाकर, इतनी बातें इस तरह कब से करना सीख गयी माँ? या कि कसकते ने ही इतने कम समय में सिखा दिया?

"सतीश की बहू, उसे फासतू मत समझो उसमें बहुत सारे गुण हैं।"

"नहीं जानती हूँ क्या? करना तुम फंसते क्यों?"

- "बववास मत करो। वह गाना जानती है, नाच जानती है, इसके असावा अच्छा अभिनय भी करना जानती है। बहुत अल्दी ही उसे एच थियेटर में पास मिला जायेगा।"

"किस थियेटर में?"

(मेरे सामने ही आजकल यह सब चलता है। मैं जो हूँ, तुम लोगो को तरिफ भी इस बात की होश क्यों नहीं रहती है माँ। मेरो माँ! तुम इस समय एच थियेटर बिल्सा की तरह क्यों दीख रही हो। और बाबा! सिखने में भी संकोच होता है।



उस कटखने कुत्ते की तरह लग रहे हैं, जो रोज सीढ़ी के नीचे आकर सोता है, जाने जाने वाली को देखकर जो भौंकता है और जो बिल्लियों के साथ मछली के काँट और जूठन के लिए छीना-झपटी करता है।)

“बताओ किस थियेटर में ?”

इस बार बाबा अबकचा गये। “यही किसी भी एक थियेटर में। तुम्हें अब कितने नाम मालूम हैं ? रिहर्सल चल रहा है, इसलिये उसे रोज निकलना पड़ता है।”

“बास सवारकर, मुह पोतकर, झल-मल-झल-मल साड़ी, जरी महारानी का पाट है क्या ? फिर ? सुना था कि कहीं गाना सिखाने जाती है ? तो वह सब क्या झूठ था ?”

बाबा हकमाये स्वर में कहते हैं, “नहीं नहीं, गाना नहीं, याने वैसा कुछ नहीं, नाटक, हाँ, नाटक ही तो।”

“किसका नाटक तुम्हारा ?”

(बहस करते समय आँचल से कमर बस लिया जाता है। यह तुमने कहा से सीखा माँ ? कलकत्ते में ? यह शहर सिर्फ मुझे नहीं, हम सबको बदलता जा रहा था। बाबा को तुम्हें, हालाँकि पीछे के सामने खड़े होकर रोज सुबह कधी करत समय हम महसूस नहीं कर पाते कि कौन कितना बदल गया। रोज ही तो दीवारों पर थोड़ा-थोड़ा दाग लगता जाता है। कमरे के फर्श पर कोने-कोने में हमेशा ही गद जमता रहता है। पर वह सब हम बड़ा जान पाते हैं ?)

तुमने पूछा था, “किसका नाटक ? तुम्हारा ?” और बाबा अत्यंत कुण्ठित और लज्जित स्वर में बोले थे, “नहीं, माने तुरन्त अभी नहीं। इसके बाद शायद वे लोग मेरे नाटक का भी मचन करें।”

“बाह ! बूब ! वे नायिका और तुम नाट्यकार। यही तो नाटक है। मुझ भी एक रोल नहीं दोगे ? बताओ, मेरा कौन-सा पार्ट होगा, बताओ न !” अचानक हिल होकर तुमने बाबा का घाघा पकड़ लिया था, फुटुआ फटकर नाखून का खरोच उनके गले से लेकर कमर तक उभर आया था।

हाँफने-हाँपत तुमने कहा था, “कौन-सा पाट मेरा है दोगे नहीं ? कौन सा बताओ बाँदी था ?”

कहना नहीं होगा, सिधते हुए भी अपने ऊपर धुणा हो रही है। तुम्हारे ऊपर ठीक उस समय धुणा हो रही थी, शायद इसलिए अपने ऊपर भी। पर सचमुच तुम उस समय वही कुछ दीख रही थीं, जिस शब्द का उच्चारण तुमने स्वयं किया था।

बाबा कुछ बोले नहीं। अग्रहाय, पराभूत की तरह, वहाँ से धीरे धीरे हट गये।

और तुम ? समोज का कथा झूलता हुआ पीठ पर आचल नहीं । कापते-कापते फर्श पर बैठ गयी और फिर फूट-फूट कर रोती रही । मैं पीठ के पास आकर खड़ा हो गया । तुमने एक बार मुह उठाकर देखा । हाथ से मुझे पर ढकेलत हुए रंधे स्वर में कहा, "हट जा यहाँ से । चला जा ।" उसके बाद फिर से दोनों हाथों से अपना अपना मुह ढाँप लिया । उस दिन तुम पर अभिमान हुआ था, पर आज नहीं है । पता है न, ऐसे अनेक क्षण हैं जो बार बार पूरे दिनमान में न जाने कितनी बार लौट आते हैं, जब अपने ही दोनों करतल के सिवा मनुष्य स्वयं को छुपाने का कोई आश्रय नहीं पाता है । कोई विषयस्त मुहूँद नहीं मिनता है ।

फिर भी मैं नहीं गया । तुम्हारी गोद के पास छुपचाप बैठ गया, जैसे पहले बैठ जाया करता था । कितने दिन बाद वही हरसिंगार ! शिशुवास लौट आया । बन्कते में हरसिंगार के पेड नहीं हैं ?

काफ़ी देर बाद तुम्हारा काँपना बन्द हुआ । समझ गया रांना बन्द हो गया है । तब मैंने तुम्हारी पीठ पर एक हाथ रखा । तुमने मुँह उठाया । इन कुछ मिनटों में कितने भयानक रूप से तुम्हारा चेहरा विस्फारित हो गया है ।

मेरी ठुडकी उठाकर तुम मुझे देखती रही । फिर बिल्कुल स्थिर स्वर में बोली, "यहाँ नहीं रहूँगी । इस नरक में । चलो हम लोग चले जाए यहाँ से । तू मुझे लेकर जा सकेगा ।"

मैं कुछ बोल नहीं रहा था । मेरे भीतर इस बीच जो काफ़ी बुझुर्ग हो गया था, वह कट रहा था, 'छुपचाप रहो । इस समय सिर्फ़ मुनते रहो । कुछ बोलना नहीं चाहिए ।'

सिर उठाकर, उदास आँखों का तुमने कहीं दूर भेज दिया है । इस पलस्तर उखड़ी दीवार को भेद कर, टाट का पर्दा उड़ाते हुए, चौकोर कटे आकाश जोर लकड़ी की सीढ़ी से चढ़कर बरसाती पार करके कहीं दूर, बहुत दूर अथवा वही पहुँच गयी हो, बहुत दूर से बोल रही हो, अति मुदु एक-एक शब्द तरंग तुम्हारे स्वर को बहाए ला रही है, "गलत समझा था । वे बदल नहीं हैं । कलकत्ते में आकर उसे जब पाँडा अलग तरह का देखा, तो सोचा था, चिट्ठों की बात ही सही होगी । वही समुद्र-कमुद्र क्या सब लिखा था न ? अच्छी तरह समझ भी नहीं पायी थी । लगा था शायद सचमुच ही उनका मन परिवार की ओर मुड़ गया है । तेरी ओर, मेरी ओर । पर अब देख रही हूँ," थोड़ा कर बोलती रही, "अब देख रही हूँ, क्या देख रही हूँ ? कुछ नहीं । सब झूठ था । बदला नहीं है कुछ । या फिर बदला गया भी होगा, तो वह तेरे या मेरे लिए नहीं । इससे तो अच्छा सब था, जब जेलो में घूमता रहा या फिर वैरागी हाकर भटकता होता, आखिर में घोड़े में पाँव काट छाया ?"

झुंझा-भसा धीरे-धीरे धोल रही थी माँ, अचानक फिर से चबल क्या हो उठी तुम ? क्यों मेरी फलाई जोर से पकड़ ली ! थोड़ी देर पहले ही महीयसी थीं तुम, और अब मानो भिखारन बन गयी, “चलो, हम लोग चले जाएँ ।”

“कहाँ ?”

“जहाँ से आए हैं, वही । लौटा नहीं जा सकता है क्यों ? तू तो अब रास्ता पहचानने लगा है । मुझे ले नहीं जा सवेगा ?”

एक क्षण नहीं लगाया तुरन्त बोला, “सकूंगा माँ ।”

\*

\*

\*

तुम्हें नहीं मालूम, मैंने झूठ कहा था, कहीं लौटा जा सकता है कि नहीं, लौटना सम्भव है कि नहीं यह सब उस समय मेरी विचार बुद्धि में नहीं था, पर तुम्हें यह कहने का साहस भी मुझमें नहीं था कि, वहाँ लौटने का आग्रह-उत्साह मेरे अंदर भी नहीं था । मेरा भी मन बदल गया था । गाड़ी चीनी आशानी में जिस तरह मक्खी लिपट जाती है, मैं भी उसी तरह लिपटता जा रहा था ।



बूला बोली, "आओगे ?"

सकड़ी की सीढ़ी के सामने ही उनका कमरा है। आँगन में दिन डलत न डलते ही अंधेरा उतर आता है बूला ऊपर के चौखट पर दोनों हाथ उठाये अपने कमरे के सामने खड़ी थी। मैं पाक से घूमकर लौट रहा हूँ। जेब में ढेर सारी मूँगफलियाँ। उस समय जेब में मूँगफली रहने भर से ही अपन को बहुत स्वच्छ महसूस करता। बूला, दरवाजे से थोड़ा पीछे हटते हुए बोली, "आओगे ?"

पशोपेश में पड़ गया था। जेब में तुम्हें देने के लिए था मैं। फिर सामने परीक्षा थी। सो पढ़ने भी बैठना था। बूला बोली, "आओ न ! मैं बाहर गयी हूँ। बाबा पियेटर में। अकेले में कैसा तो डर लगता है।"

और कुछ कहने की जरूरत नहीं थी। मैं गया।

उन लोगो का कमरा काफी बड़ा था। बीच में परदा डालकर हमारे को दो भागो में बाँट दिया गया था। बूला मुझे उस ओर ले गयी। बत्ती जलायी। उन लोगो का सालटेन चक्कचक्क करता हुआ, मजे हुए दाँत की तरह। काले घातु से बनी हुई चिमनी भी बढ़िया थी। बूला ने बत्ती जलायी, पर ली सेज नहीं की। पलंग पर बैठकर पाँव हिलाने लगी। एक बार कहा, "क्या देख रहा है ?" फिर हाथ बढ़ाकर अचानक। "क्या छा रहा है ?"

छिली हुई मूँगफलिया के कुछ दाने उसके हाथ में रख दिये। साया तुम्हारे लिए था।

बूला दाँत दिखा-दिखाकर बादाम खवा रही थी। एक बार शायद बालू अपनी वैसा ही कुछ उसके मुँह में सगते ही। साल सुख जीम निवात कर बोली, "यू ! दखभाल कर नहीं खरोद सकता है ! या फिर खरीदी नहीं है, यूही उठा साया है ?"

आत्मसम्मान पर चोट लगी। बोला, "मुझे कोई यूही कुछ नहीं देता है। पूरी तरह पेसा देकर "

बूला ने फिर दोबारा कहा, "यू ! मुझे तो ऐसे ही दे देते हैं। रिबन, चाकलेट यहाँ तक कि सेण्ट की छोटी सीधी भी, मैं उसम भी हिस्सा लगा दती है।

इसी से उस दिन जा मिला, उसे सीने में हो छुपा कर ले आयी। महक मिल रही है ?”

नहीं मिलने पर भी सिर चकराने लगा था।

बूला किस तरह तो हँसे जा रही थी। मुझे सब कुछ बड़ा अजीब-सा लग रहा था।

बूला बोल रहा थी, ‘सात से न’ देख ! इस तरह जो भरकर हवा लेकर उसके बाद हा आ-आ सगुना साँस छोड़। तेरे मुँह में कैसी महक है, देख !”

वह जैसा जैसा कहती जा रही थी मैं वैसा-वैसा ही करता जा रहा था।

बूला वाली, “धू बुरी महक है। तुम लोगों के याने सड़कों के मूँह में। मेरे मुँह में नहीं है। छाती पर सेट लगायी हूँ, पर मुँह में मैं हमेशा इलायची डाले रहती हूँ। थोड़ा खायेगा ?”

इलायची नहीं, मुझे उम समय सिर्फ पानी पीने का मन हो रहा था।

बूला अपने बड़ाए हुए नाखून से, गाल खुरच रही थी। मेरी ओर देखती हुई बोली, “तुझे भाँ महासे निक्कलने लगा है रे। याने तू जितना बुझू बना घूमता है, उतना है नहीं। तू भी मँजा हुआ है।

बाला, “बूला ! मैं अब जाऊँ।”

“बैठ न थोड़ी दूर। बताया न, मुझे अकेले में डर लगता है।”

“मुझे भाँ डर लग रहा है। माँ डाटेगी।”

‘नहीं डाँटेगी, भातीमाँ से कहना, तू घर लौटा ही नहीं था। अगर पता चल गया हो तो कहना मुझे पड़ा रहा था।’

‘मुझे खुद भी तो पटना है। परीक्षा है।’

बूला हँस रही थी, अब तक पाँव डुला रही थी। अब चोटी समेट सिर भाँ हिलाने लगी। हल्की हवा में जिस तरह पूँसों की डालियाँ हिलती हैं, या फिर बाँसुरा में साँप साँप का फन। पर ज्यों ही मैं उठ पड़ा, एगोही वह भी उठ कर खड़ा हो गयी, ओर फिर तपाक से मेरा हाथ कसकर पकड़ते हुए शाब्द खींचने भी लगी थी या नहीं, ठीक समझ नहीं पा रहा था। “बताया था न मैंने। मुझे अकेले में डर लगता है। बैठेगा नहीं ? थोड़ा सा बैठेगा नहीं ?” उबलते हुए पानी की केतली के ढक्कन की तरह वह काँप रहा थी। उसकी हुई कढाही से जिस तरह ज्वाग उफन-रुन बहता रहता है, ठीक उसी तरह उसके दोनों गाल के किनारों से लार बहने लगा। गरम साँस, मेरे गाल पर उसकी नाक छूआ गयी क्या ? न जाने कैसी महक होगी उसकी ? छाती पर लगाये हुए सेट के साथ धूल मिल गया है। माँ तुम कहाँ हो ? सकड़ी की सीढ़ी से उतरते हुए आकर मुझे इसके चपुल से निकाल क्यों नहीं रही हो ?

हालांकि, निजता इस सत्य का भी सुन रखी कि तुम्हारा उत्तर आना भी मुझे अच्छा नहीं लगता ।

“अगर बूला,” मैं रुकी रुकी आवाज में कहता हूँ, “अगर कोई आ जाए सतीश मौसा या मासीमा ”

मुझे छोड़कर बूला थोड़ा हटकर खड़ा हो गया । सिर के पीछे ले जाते हुए शरीर को घुनुप की तरह बनाकर, बूला खिलखिला कर हँसने लगी ।

“मौसा जी ? मासी माँ ? याने बाबा और माँ ?” अँगूठे को घुमा-घुमा कर वह बोल रही थी, “उहँ, इस समय कोई नहीं आने वाला । बताया न माँ गयी है कहाँ बताओ तो ? अरे नहीं, जाने जाने के स्कूल नहीं । फटे बाँस जैसी आवाज में वह गाना क्या गायेंगी ? ही ही, माँ गंगा के किनारे अनिरुद्ध राय लोगो के साथ हवा खाने गयी है । वे लोग भी शायद जोई नाटक खेमने वाले हैं । माँ से कहा है, उह हिरोइन बनाएंगे वे लोग । ही ही, ऐसा सूझा चेहरा और हिरोइन ? फिर तो हो चुका । न सात मन तेल होगा न राघा नाचेगी । नाचूंगी बल्कि मैं । देखना थोड़ा और बड़ी होने पर मैं स्टेज पर उतरूँगी । अनिरुद्ध राय ने आठ में मुझसे वादा किया है । माँ को मैंने बताया नहीं । बेकार उहँ जानकर तकलीफ होगी । राय ने कहा है, वह माँ को यूही नचा रहा है । उन लोगो की असली नजर मेरी ओर है । मैं नाच सीख रही हूँ, तिरछी नजर है एक गाना है न ? उसी गाने पर ।”

बोलते समय बूला की नजर तिरछी हो उठी । या फिर पतली । कमर पर दोनों हाथ घरे रहने के कारण और भी पतली दीखने लगी थी । शायद वह धीरे-धीरे ताल पर ताल रख कर अपने पाँव भी गिरकाने लगी थी । मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था । मेरा सिर चकराने लगा था ।

बूला बोल रही थी, “और बाबा ! बताया तो, वह इस समय किस्म के पीछे किताब पकड़ कर सबकी पार्टी बतला रहा होगा । वह नहीं आयेगा । जाने पर भी” बूला आखें नचाते हुए बोली, “आ भी जाएँ तो बाबा कुछ बोलेंगे नहीं । साहस ही नहीं होगा । देघता नहीं है, कैसे डरपोक किस्म के हैं । बारीक आवाज मिचमिचानी आखें ? कुछ नहीं बोलेंगे, बल्कि इस तरह कमरे में घूँसेंगे जैसे सिगरेट लेने आए हो । विस्तर के नीचे से पैकेट निकाल कर चुड़चुड़-से निबल जाएँगे । माँ जिस समय दोस्तों के साथ हँसी-ठिठोली करती हैं, उस समय वे जिस तरह निबल जाते हैं । घड़े पर बैठकर सिगरेट फूँकते हैं, खाँसी आने पर भी डरते-डरते खाँसते हैं । देखा है ?”

बूला थोड़ा रुक गयी । दम लेने के लिए पथवा अपनी छाती को उसी वहाने और फुलावर दिखाने के लिये, कहना मुश्किल है । फिर से बोलना शुरू हुआ, “उहरे तो करे क्या ? टो-पों करते हो माँ तुरंत गर्दन पकड़ कर निकाल नहीं देगी ? उह यह मानूँ है न ?”

“क्यों ? वे भी तो पियेटर में ”

बूला इस बार अँगूठा दिधाने हुए बोली, "बच्चा कैसा ! तनछ्वाह नहीं मिलती है । वस खुराकी मित्रता है । बाबुओं के पाँव में तेस सगा कर और भी न जाने क्या-क्या करके दशमी में दो-चार पैसा झाड़ जरूर लेते हैं । जैसे मौला जी, याने तेरे बाबा जिस समय सुबह माँ के साथ हँसी मजाक करते हैं, उस समय भी निक्कल जाते हैं, सौदा-सुलुफ के बहाने । हम लोगों के साथ-साथ तुम लोगो का सौदा भी ले आते हैं । तू सोच रहा है, मुफ्त में हो करते होंगे ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । जरूर दो-चार पैसा रोज मारते होंगे । उनका कमीशन । माँ के साथ तेरे बाबा का अड़्डा मारने की दलासी लेते हैं । वे क्या कम धुंगू हैं ! जानता है, एक बार एव सायकिल रिक्शा में मुझे बैठाए थे । रिक्शा वाले की पीठ से मेरा घुटना टकराता रहा । इसी बात पर वे रिक्शा वाले को तम किये हुए पैसे से कम देने की जिद्द करने लगा । मैं तो शर्म के मारे मरी जा रही थी । उसे सीधा धुंगू मत समझो । धुंगू के साथ-साथ चोर भी है ।"

"छि बूला ! तुम्हारे बाबा हैं न !"

दोनों हाथ पेंनाते हुए बूला बोली, "बाबा हैं या हाथी । बाबा कहती भर हूँ । मेरे असली बाबा तो इस समय भगवान जाने कहाँ हैं ? शायद स्वर्ग में हों । मुझे बाद में मालूम पड़ा है । मैं जब बहुत छोटी थी, उस समय माँ को लेकर भाग आया था । इसी से तो कह रही हूँ, वह चोर है ।"

थोड़ा रुक कर बूला बोली, 'एक बार सोच कर देख । ऐसा चेहरा लेकर । माँ क्या उस समय अंधी हो गयी थी ? शायद हा । या फिर उस समय इससे शायद ज्यादा चिकनाई चेहरे पर हागा । उम्र भी अवान थी । बाद में पी पीकर लीवर सड़ाया । चेहरा हुआ हडगीले की तरह । अब सबका दिया जूठन खाकर जी रहा है, बेचारा ।" अंतिम शब्द को बूला ने खीच-खीच कर कहा ।

लकड़ी का सीढ़ी से होकर ऊपर उठने में उस दिन पता नहीं क्यों डर लग रहा था । ऐसा लग रहा था जैसे धूर्त, वाचास, सीढ़ी तुम्हारी खुफिया हो । तुम्हें सब कुछ बता दे रहा है । पाव का जूता उतार लिया । सामने कीचड़ होने पर जिस तरह उतार लेता है । कीचड़ ! हा कीचड़ ही तो । बदन धिनधिन कर रहा है, मानो कीचड़ सागें पाँव में निलस गया हो । पर बदन पर ? कमीज की आस्तीन सूखता है । सेट-पण्ट, महक-बहक कुछ अगर लगा हुआ हो ?

चार की तरह सीढ़ी चढ़ रहा था । पता नहीं क्या एव-एव दिन इस तरह का अधेरा छा जाता है कि ऐसा लगने लगता है जैसे सब चोर हैं, चोर । बूला ने कुछ गलत नहीं कहा है । चार सतीश राय है, जिसे बड़ बाबा कहती है । उसकी माँ को चुराकर लाया है । रोज सुबह उन लोगो ने यहाँ तक लगाये बैठे रहता है । चोर में भी है । दखो न, अल्लेखुक लगातार दोनों जैंगलियो से गाल रगड़ रहा है ।

मिटा डालना चाहता हूँ कब के सगे उस गरम साँस के स्पर्श को। इस समय चुपके-चुपके दबे पाँव चढ़ रहा हूँ अपने ही घर में भसा काई इस तरह घुसता है।

पूरी पृथ्वी ही इस तरह एक दिन सुका-छिपी के खेल का मैदान बन जाती है। पर माँ! चोर क्या तुम भी हो! नहीं तो उस दिन कमरे में बत्ती क्यों नहीं जला रही थी। चूल्हा भी जलाया नहीं गया था। सब तरफ सनाटा था, बिल्कुल कहानी में पड़े किसी सूनसान राजपुरी की तरह। आश्चर्य हुआ, उम्र दिन सीढ़ी के नीचे बैठा कुत्ता भी मौन नहीं। बिल्लियाँ भी गायब थीं। शामद अँधेरे में चूहे की तान में बैठे हों। चीनोर आकाश के चंदोवे पर उस दिन एक भी तारा नहीं था। कालपुष्प और सुन्धक। तुमने जिन्हें पहचनवाया था, वे कहाँ छुप गए?

बराठे में आकर खड़ा हो गया। मन ही मन में चिन्ताया, कहाँ-कहाँ? चोर की आवाज होती है भसा। कौन हो! कहाँ! आवाज दो। सदर रास्ते में पहरेदार अगर हूँ, तो खबरदार! कहकर हाँक लगाओ एकबार। यह देखो, मैं चोर हूँ। अपना को गिरफ्तार करने आया हूँ।

पर माँ, तुम्हें तो हमेशा से स्वप्रकाशित ही जानता आया हूँ। तुमने भी भेदिए की तरह व्यवहार क्यों किया? तुम दरवाजे की छोट में क्यों छुपकर खड़ी थी? क्यों मेरे चौखट पार होते न होते चढाक से एक घण्ट गाल पर जमा दिया गया? तुम्हारे शरीर में भी इतना दम है? क्या यही तुम्हारा प्रेम था? या फिर तुम्हारा प्रेम इतना ही अधिक था?

दीवार पर तुम मेरा सिर ठोके जा रही थी। वह तो दीवार मुलायम थी, बरना मेरे दाँत टूट सकते थे, या फिर सिर ही फूट कर खून गिरने लगता तो? हालाँकि कमरे में अँधेरा होने के कारण देख नहीं पाती।

पर माँ, उस दिन तुमने मुझे झूठमूठ का ही मारा था। तुम्हें मालूम नहीं, मैं भी उस दिन मार कर आया था। हाँ, बूला का। मैं अपना होशोहवास भूल चुका था। तुम्हारे चाटे जितना वजन ही मेरे घण्ट का था। उसके मुलायम गाल पर पाँचों उँगलियों के निशान जग गए थे।

क्योंकि, बूला अचानक सीमा से बाहर हाँ गया थी। भसा-चगा, हाथ हिला-हिलाकर बातों की फुसझड़ी छोड़ रही थी, बीच-बीच में पर्लेंग पर बैठकर पाँव हिला रही थी। नाखून से अपने मुहसे बचोट रही थी, कि अचानक बतियाते-बतियाते अपने दोनों पाँव मेरी गोद पर रख दिया। फिर मेरे एक हाथ को अपनी ओर खींच कर अपने उघड़े हुए हाथ के ऊपर से सहसाते हुए से गयी।

थोड़ी-सी सरसराहट हुई। नहीं शायद थोड़ा अधिक ही महसूस हुआ। स्वीकार करने में कोई सज्जा नहीं स्पर्शमान से ऐसा लगा जैसे तब पर रखे हुए कपड़े के बर्तन धनधना कर गिर गए हों। शरीर भी कभी-कभी कासे का बतन बन जाता है।

तब एक अजीब तरह की आवाज में और अधमुदी आँखों से बूला ने एक



अजीब-सी बात कही। उसके होठ सुख नहीं थे बल्कि हवा से छिड़ गये सतरे की फाँक की तरह सूखे थे। उही होंठों को हिंसाते हुए बूला न अदसुत स्वर में कहा, 'पता है, तुझसे मुझे प्रेम हो गया है। जरूर होगा। उसका एक प्रमाण भी है।'

"कैसा प्रमाण?" सूखे स्वर में पछा।

"प्रमाण यही है कि", बूला उँगलियों के पोर गिनती हुई, मानो हिसाब मिलाती हुई कहती रही, "मान तू और मैं। क्या ठीक है तो? मेरे बाबा, माने जिसे बाबा कहती हूँ, बिल्कुल भीगी बिल्सो धन छुपचाप बैठे रहते हैं। जितनी भर हड्डी मिग जाती है, उसे ही लेकर घूमते रहते हैं। पर मेरी माँ? इस उम्र में भी—क्या कहते हैं नाबल साबलो में? रगिनी हूँ। बाबा उन्हें बाँध नहीं पाए। और मासीमा माने तेरी माँ, देख कितनी शांत है, जिसे कहते हैं सखी। तिर हुआए, शमीली, कम बोलने वाली। पर तेरे बाबा एादम फनकड, हर समय उड़ने को तैयार। मासीमा, तेरे बाबा को बाँध नहीं सकी। हम लोगों का अनमेल ही मेल है। अब समझा? क्या मजे की बात है, भगवान न हम लोगों को मिलावाया है। सम्बन्ध बन जाने पर ही ही तू और मैं। तेरे और मेरे में खूब पटगी, भगवान ने ही तप जो कर दिया है। हम दोनों के ही दुख समान हैं न। मेरा यह बाबा एक दिन किसी और को ठगा था। उसके बाद देख कैसी सजा मिली है उसे! अब खुद ठगा जा रहा है। माँ ही अब उसे ठग रही है, सो वह दुखी है। और दूसरी तरफ दुखिनी तेरी माँ है। समझा न, या और खोल कर बोलना होगा?"

"नहीं, और बोलना नहीं होगा।" मैने जड़ित स्वर में कहा।

अब तो ठीक था, हालाँकि मेरे हाथ-पाँव ठण्डे बर्फ हो गए थे और आँखें जलने लगी थी। धूक निगल-निगल कर गला तर करना पड़ रहा था, करना आवाज ही नहीं फूटता। फिर भी बूला की वह व्याख्या, बूला का वह स्पर्श एा नयी दिशा की ओर संकेत कर रहा था। बाह! अच्छा उमाशा है तो। उन लोगों की दीवार पर दो छिपकलियाँ बार-बार पास आकर लीट जा रही थी। हम दोनों भी छिपकली हैं क्या? बूला का स्पष्ट सेते-लेते मेरा शरीर ताने लगा था। सोच रहा था, अच्छा मजा है तो, बूला की माँ/मेरे बाबा, बूला के ये बाबा मेरी माँ—स्वभाव, व्यवहार में एक जैसे, इसलिए हम दोनों ही, ही

एक छिपकली दीवार से गिर कर फर्श पर चित्त होकर छटपटाती रही।

बूला उसी समय सीधी होकर बैठ गया। एक तन्विया लेकर अपनी छाती ढकली। उसके हाथ-पाँव के रोंगटे बैठते जा रहे थे पर मेरे अन्ध तन खड़े क्यों हैं?

वह धीरे-धीरे तन्वियों के सीवन को नाखून से उधड़ रही थी। धीरे-धीरे मेरे बानों में उँगलियाँ फेरने लगा। मैं सो जाऊँगा।

('तेरे बानों का जब काफी मजबूत और रंग बाना हो, मेरी तरह नहीं। मेरे बाल भूरे हैं, और कचो करत हो बाल शरने लगत हैं। क्या बूला, तेरे बाल भी

तो बहुत खूबसूरत हैं। बेशक भूरे हो, पर लहरदार और फूले हुए हैं। आज क्या साबुन लगायी हो, या कि रोज ही बाँसो में साबुन लगाती हो ?”)

अब तक सब कुछ ठीक था। पर बूला ने एक हल्की सी जम्हाई ली। उसकी दस्तकियाँ दिखायी पड़ी और उनके बीच सुर्ख लाल नहा-सा जीभ, दोनों होठ, अलग हो गए सीपी की तरह आँखें अघमूँदी, शायद बिल्कुल ही मूढ़ ले। उस समय मैं क्या करूँगा ? मैं अरेसा पढ़ जाऊँगा। यह कमरा सीने से लगाया हुआ तकिया, फर्श पर बिस्त गिरी छिपकली। सर्वनाश ! नहीं-नहीं बूला आँख धोम रही है। मेरे जान में जान आती है।

अच्छी-भली थी। बूला तब ढोली-ढाली होकर बैठ गयी। ढोली-ढाली ही तो थी। उसका फाक हो ढोला ढाला था, अब तक इस आर ध्यान ही नहीं गया था। मेरी पेंट, उस समय तक हाफ पेंट ही पहनता था, क्योंकि रिवाज ही उस समय का वैसा था, इतनी टाइट क्यों हो रही है ? तकनीफ हो रही है।

बूला ने एक हाथ मेरे कंधे पर धरा। नहीं और कुछ नहीं। वह मेरे कान के पास मुह ले आयी है। मेरे कान की सतों में गुदगुदाहट हो रही है ?

और कुछ नहीं, बूला अब हम लोगो की बात पूछ रही है। पहले कहाँ था, कलकत्ता पहली बार आया है क्या ?

(“ओह हो ! फिर तो तू गँवार है। घुटा हुआ बदमाश है पूरा। अब तक पता ही नहीं चलने दिया ? शैतान इस तरह बातें करता है जैसे शुरू से ही इस शहर में रहता आया है।” बूला ने मुझे बिकोटी काटते हुए कहा। बिकोटी क्यों काट रही हो बूला ? मुझे दुखता है।)

“वहाँ कौन-कौन थे ?”

बताया, “मैं और मैं।”

“सिर्फ मासीमा और तू ? और कोई नहीं ?”

“था। दादा। अब नहीं है।” ऊपर की उँगली दिखा कर बोला।

बूला समझ गयी। होठ, उसके बही होठ टड़ा करके आवाज निकासी, जिसका मतलब था आहा। या फिर उहँ। बोली, “मासीमा ?”

“कहाँ रहते थे पता नहीं। बीच-बीच में आते थे।”

“इसका मतलब”, बूला ने कहा “इसका मतलब यह हुआ कि, वे फूफो पर महराया करते और मधु चखते थे”, सुनकर मैं भरी उछा। उसे क्या मालूम नहीं है कि मेरे बाबा स्वदेशी हैं, कितनी बार जेल गए हैं। इसके सिवा भारत घ्रमण, फिर मिसलेनियम इंडियन मैनुफैक्चरिंग कम्पनी आदि ?

बूला ढोली-ढाली, पाँव फैलाए, बैठी हँस रही थी, “अच्छा ! समझ गयी। इसका मतलब यह हुआ कि तुम लोग अरेसे ही रहते थे। तुम और मासीमा, दो जन ?”

“बताया तो ।”

“और कोई नहीं आता था ?”

“एक और जन आते थे ।” सोचकर बोला, “सुधीर मामा आते थे ।”

“किस तरह के मामा ?”

“पता नहीं । मामा-मामा, यही जानता हूँ ।” मैं बिड़ गया । मुझे गुस्सा पड़ने लगा था ।

“रोज आता था ?”

“रोज ही ।” बाद में हिताब लगा कर बोला, “हालाँकि बाद में आना छोड़ दिया था ।”

“छोड़ क्यों दिया ।” बूला उस समय भी नाखून से तर्क का धागा उखाड़ रही थी । शर की रुई-बुई सब निकाल लेना चाहती है ।

“छोड़ दिया । यूँ ही ।”

पर बूला ने छोड़ा नहीं । उसे सब कुछ बताना पड़ा । बताया । जितना जानता था, जितना समझता था । सब सुनकर बूला, वही बूला तर्किया सीने से लगाये, बाहर निकलती हुई रुइयों के ढेर में मह दुबोये हँसती रही ।

बाली, “समझ गयी ।”

मुझे अगर पहले पता होता मा तो नहीं बताता । नशे में सब कुछ हो जाता है, और वही मेरे जीवन का पहला नशा था । दर असल, बेकार में हूँ, शहरीपने की नकल किया है । वह सिर्फ नकल ही था । असल में मैं उस समय तक सीदा-सादा गाँव का बालक ही रह गया था, खरना बताता नहीं ।”

बूला सुनकर बोली, “समझ गयी ।” मुझसे से भरा हुआ चेहरा । बिबिचिफ़ शरती आखें फैलकर और धीमत्स दीखी । बाली, “तो फिर तो फिर सुनेगा ? फिर तो तेरी माँ भी जैसा सोचा था, वैसी नहीं है । झूब-झूब कर पानी पीती थी ?”

“इमका मतलब ?” जितना बीछ सकता था, उतना भर गया फाड़ते हुए बोला ।

“इसका मतलब यह है,” बूला मेरे गाल पर टबोरते हुए बोनी, “इसका मतलब जो है वही । मेरी माँ जो है, तेरी माँ भी वही कुछ है । याने अ-स-ती ।” बूला ने जिस तरह खींच खींच कर ‘असती अ-स-ती’ का उच्चारण किया, फिर बाली, “और इसलिए भीमा जो, याने तेरे बाबा वहाँ ज्यादा नहीं जाते थे ।”

माँ । तुरन्त मैंने बूला के गाल पर चाँटा घर दिया । एक प्रचण्ड तडाक । जितना गुस्सा, जितनी दुबलता और जितनी रुलाई थी, सबके साथ ।

तुम्हारे लिए, तुम्हारी इज्जत रखने के लिए बूला को मार कर आया हूँ माँ । जिस समय मेरी उँगलियाँ अन्तत अवश हो पड़ी थी, उसी समय तुमने मुझे मारा ।

बट्टर गूर, अच्छा मूल्या मिला । तुमने अच्छी कीमत दी ।



मुझे, तुमने उस दिन उस तरह कीमत चुका दी थी, हालांकि बाबा का व्यवहार दण्डो, हाथ उठाया क्या ? वही, उस दिन मैं जिस दिन तुमने चूड़ा-नरूप से अपमान किया था ! एकदम अंतरस्तल के मूल में आघात, फिर भी उन्होंने उसे बरदाश्त किया, चुपचाप खड़े रहकर । वृक्ष जिस तरह वज्रपात को प्राप्य जान, चुपचाप सिर झुकाकर उसे ग्रहण करता है, ठीक उसी तरह ।

उस दिन शाम से ही बारिश हो रही थी । मैं नौ बजते न बजते ही किताब बन्द कर खाना खा लिया था । सिर तक चादर खींच लेट गया था ।

मुझे पता चल रहा था । तुम एकदम दक्षिण की पिंडकी के पास जाकर खड़ी हो गयी हो । छीटे अदर आ रही थी, फिर भी तुमने कोहनी तक भिगो लिया । उस दिन तुमने बहुत मुदर झूठा बर्माया था । छत टपकन सगी थी । मेरे सिर पर भी दो-चार बूँदें पड़ी । मुझे उठाने के लिए तुम मुझे ठेले जड़ रही थी । मुझे उठते न देख, बिस्तर समेत चीचकर मुझे दूसरी ओर ले गयी, जिसपर सूखा था ।

यह सब यूना सोगो के कमरे में बितायी गयी शाम के कई दिन बाद की बात है ।

सीढ़ी पर आहुट हुई । आहुट जानी-महबानी थी । बाबा आ रहे हैं । मैं आँखें मूंदे पड़ा हूँ । बाबा आ रहे हैं ।

उस समय रात के कितने बज रहे थे ? दस तो जरूर ही । बरसात के कारण रात ज्यादा गहरी लग रही थी ।

बाबा आए । तुमने एक गमछा उनकी ओर फेंका । सत्र कुछ महसूस कर रहा है । बाबा ने कहा, “धर्मवाद,” धर्मवाद क्यों ? यह कैसे साया है ? नकली । कोई किसी से इस भाषा में बातचीत नहीं करता है । कम से कम अपनी से । पर बाबा बोलते हैं । बाबा का स्वर भी बदला हुआ लगा ।

सिर पाछ लेने के बाद बाबा ने कहा, “क्यों ?”

तुमने कहा, “इस समय ? इतनी रात को तुम्हारा चेहरा कौन देखने जा रहा है ?”

बाबा बोले, “क्यों तुम ?” तुम सतर्क-सी एक बार जँदो से मेरे बिस्तर की ओर देख लेती हो । मेरा मुह चादर से ढँका हुआ ।

चाचा पूता खोल रहे हैं। पर बपड़े नहीं उतारे हैं। इस बीच जेब में एक हाथ घाल दिया है। चाचा आगे बढ़कर दूसरा हाथ तुम्हारे गाल पर। "ठण्डा क्यों है?"

"बारिग हो रही है न।" तुम बहुत आहिता-आहिस्ता बात कर रही हो। मेरे विस्तार की ओर तुम्हारी सतर्क दृष्टि है।

"इसलिए ठण्डा है?"

"शायद। या फिर शायद मैं ही ठण्डी हूँ। शुरू से यही तो जानती आयी हूँ।"

"नहीं। तुम गरम हो। आज गरम गिबडी है तो। या फिर गरम गरम लूची?" (मेरे की पूछी)

"कहो तो तल हूँ?"

"उससे पहले," बाबा ने कहा, "उममे पहले इधर आओ। यहाँ इस तरफ खड़ी हो जाओ अच्छी रानी बनकर।"

"मैं तो शुरू से ही अच्छी हूँ।"

"कौन कहता है?"

"सब। सिर्फ मेरी किस्मत ही।"

'चाँते रहने दो। ठहरो।' इस बीच जेब में डला हुआ हाथ, बाहर निकल आया था। हाथ काँप रहा था, या फिर जुड़ा समेत सिर काँप गया? तब तक पूर्णों से तुम्हारे बाम लिपट गए हैं।

तुम ता अवाक। अचानक भानों सन्निध्य हो गयीं। कहा "मह क्या? फूल!"

"पहचानती नहीं हो? सुगन्ध नहीं मिल रही है? सुना है साँप भी फूल के सुगन्ध से सब कुछ भूल कर विभोर हो जाता है।"

"मैं साँप नहीं हूँ। होने पर शायद मैं भी विभोर हो जाती।"

"तो फिर अडर और पण बिसका है?"

तुम चुप थीं। तब बाबा ने तुम्हारे और नजदीक आकर तुम्हें सन्नोते हुए कहा, "बालो आदू? एक बार कह दो, 'तुम्हारा'। कह दो न।"

पर तुमने एकदम दूसरी बात कही। उँगलियों में माता लपेटते-लपेटते, "मा की बहू का फूलों की माता। लाग कहेंगे क्या? फिर इस उम्र में।"

(तुमने कुछ गमठ नहीं कहा था माँ। गृहस्थ घर में फूल नाने का चलन बहुत बाद में शुरू हुआ था। उस समय पूस या तो पूजा, बादी-ब्याह या फिर किसी की मृत्यु पर ही घर पर मनाया जाता। फूल उन लोगों के लिए था, जो समाज के बाहर क प्राणी थे।)

तुम < मस्तुज-से हावर बोले 'इसने मिवा बाबा उस समय तुम्हारी टुडडी ऊपर उठाए, "इस उम्र में" तुरंत बाबा तुम्हारे शरीर से और सटकर

पडे हो गये। मैं टुकुर-टुकुर देख रहा हूँ। "भित्ती उभ्र हुई तुम्हारी ? देखू। उभ्र क्या तुम्हारे गाल पर अंकित है ? देखू। आओ मैं उसे पोछ दूँ" और ठीक उसी समय ! ! !

तुम छिटक कर दूर जा पड़ी हुई हो। शर्म से नहीं, वरना तुम्हारा धूषट सिर से हट नहीं जाता। धूषट हट गया था, गुस्से में। तुम धर-धर काप रही हो। काँप बाबा भी रहे थे। साफ पता चल रहा था, दोनों पाव डगमगा रहे थे। जैसे पाव में हड्डी ही न हो।

"तुमने तुमने क्या पी रखी है ?"

"कुछ तो नहीं यही थोड़ी सी।" बाबा काँप रहे हैं। मैं पत्थर की तरह जड़। अब जाकर समझ में आया कि आज उनकी आवाज दूसरी तरह क्यों सुनायी दे रही है। "कुछ तो नहीं पी य ही थोड़ी सी।" वे बार-बार एक ही बात दोहराते रहे।

"थोड़ी-सी कितनी सी ? तुम्हारे मुँह से महक आ रही है।"

"अयाय हुआ है। महक का रहना अयाय हुआ है। मैं सी बार कबूल करूँगा। विश्वास करो। छुपा मैं सकता था। इलायची वही जो लायची न क्या कहते हैं न, खाना चाहा था। पर खाया नहीं। विश्वास करो, छुपाना मैंने नहीं चाहा।"

"इतनी रात होते देख मैं सोच-सोचकर परेशान हो रही थी। लडका जागते-जागते सो पड़ा।"

"गिर पड़ा ? आहा। गिर पड़ा ? गिर कर कहीं लगी तो नहीं आतू ? आहा। सोने दो, सोने दो। उठकर फिर गिर पड़ेगा। मुझे पता है लोग कहते हैं, जो गिर पड़ता है वही उठता है। यही नियम है। जैसे यह देखो मैं उठ रहा हूँ।" कहते-कहते बाबा चैतन्य महाप्रभु की मुद्रा में दोनों हाथ ऊपर उठा दिए।

मुझे हँसी आ रही थी किसी तरह हँसी दबाए पड़ा रहा। पर माँ, तुम तो बिल्कुल नहीं हँस रही हो ? खास कर बाबा का एक ही बात को दोहराते देख भला हँसी रुक सकती है ?

बाबा थोले रहे थे, 'यू आर राइट। अत्याय हुआ है। घर में महक लाना निश्चय ही अयाय हुआ है। उसे बाहर उतार आना चाहिए था। जिस तरह लोग झुता बाहर रखकर घर में घुसते हैं। महक भी उसी तरह कह रही हो न ? यू आर राइट। इ 'इसीलिए ही तो फून-बूल ले आया। पर वह तुम्हें पसंद ही नहीं आया। ठीक है, फून अगर पसन्द नहीं है, तो फिर जसाओ एक घूप बत्ती ! फिनायल ढाल कर धो दो धोत !" बाबा न जोर की एक हिचकी सी।

बाबा जूता खोल रहे हैं। पर कपड़े नहीं उतारे हैं। - हाथ झल दिया है। थोड़ा आगे बढ़कर दूसरा हाथ तुम्हारे क्या है ?”

“बारिश हो रही है न !” तुम बहुत आहिता-आहिस्ता विस्तर की ओर तुम्हारी सतर्क दृष्टि है।

“इसलिए ठण्डा है ?”

“शायद। या फिर शायद मैं ही ठण्डी हूँ। शुद्ध से है।”

“नहीं। तुम गरम हो। जाज गरम खिचड़ी है तो लूची ?” (भेदे की पूड़ी)

“कहो तो तम हूँ ?”

“उससे पहले,” बाबा ने कहा, “उससे पहले इधर खड़ी हो जाओ अच्छी रामी बनकर।”

“मैं तो शुरू से ही अच्छी हूँ।”

“कौन कहता है ?”

“सब। सिर्फ मेरी किस्मत ही ”

“बातें रहने दो। ठहरो।” इस बीच जेब में बला आया था। हाथ काप रहा था, या फिर जुड़ा समेत सिर। तुम्हारे बाग लिपट गए हैं।

तुम तो अवाक। अचानक मानो सविग्न हो फूस।”

“पहचानती नहीं हो ? सुगन्ध नहीं मिल रही सुगन्ध से सब कुछ भूल कर विभोर हो जाता है।”

“मैं साँप नहीं हूँ। होन पर शायद मैं भी वि-

“तो फिर जहर और फण किसका है ?”

तुम चुप थी। तब बाबा ने तुम्हारे और नज़ कहा, “बोसो आनू ? एक बार कह दो, ‘तुम्हारा’

पर तुमने एकदम दूसरी बात कही। उर्ग की बहू को फूँको की माता। मांग कहेंगे क्या ?

(तुमने कुछ गलत नहीं कहा था मा। शूद वाद में शुद्ध हुआ था। उस समय फूस या तो पू- मृत्यु पर ही घर पर साया जाता। फूस उन ल व प्राणी थे।)

तुम रस्तु-ते हवाकर बोले, “इर ठुड़ी ऊपर उठाए, “दम उन्न मे ” सुर त

“साथ में कौन जायेगा ।” बाबा मेरी ओर देख रहे थे ।

“कोई नहीं । मैं अकेली ही जाऊँगी । बेटा तुम्हारा है । वह भला मेरे साथ च्यो जाने लगा । वह यहाँ ही रहेगा । बाप और बेटा दोनों एक ही घाट पर मूह घोवोगे बहुत खूब ।”

(माँ ! तुम क्या इतनी ही नीच हो ! सकेत में तुमने क्या बूला लोगो के कमरे की ओर इशारा कर दिया ?)

बहुत गहराई में किसी बात को सोचने की हासत बाबा में उस समय नहीं थी । एक हिचकी के साथ बार-बार तुम्हारी ही बातों को बार-बार दोहराते हुए कहने लगे, “वाह खूब ! वाह खूब ही तो !”

पर तुम हँसी नहीं । कठोर कण्ठ से उस समय भी बार-बार कहे जा रही थी, “पर बताओ, मुझे यहाँ लाए च्यो ये तुम ? बताओ ? बताना ही पड़ेगा । झूठमूठ का ही मुझे क्यों बिट्टो सिखकर फुसलाया था । यहाँ आकर मुझे क्या मिना बता सकते हो ?”

“तकलीफ हो रही है ?” पिछले हुए स्वर में बाबा ने कहा, “होगी ही तो । गाँव में कितनी खुली जगह थी और यहाँ चारों ओर से बन्द और घुटा हुआ । बिस्तर पर हाथ पाँव फैला कर जिह पसरने की आदत हो, उ हैं अगर किसी छाटी कुर्सी पर गुठमुठ कर बैठना पड़े ”

“अपनी मक्कारी अपने पास रखो । बन्द जगह में भी तकलीफ महसूस नहीं होती अगर परिवेश सभ्य होता । गन्दा मकान ! उत्तर की ओर की खिड़की खोली च्यो नहीं जाती है ?” बाबा की ओर स्थिर दृष्टि रखकर तुमने कहा, “पर मैं जान चुकी हूँ ।”

“क्या जाना है ? बाबा क्या डर गए ?”

“जान चुकी हूँ कि, उस ओर के एक कमरे में न जान कौन साग किसी लडकी को पकड़ रहे हैं । वह लडकी हर समय सिसक-सिसक कर रोती रहती है । मैंने कान लगाकर सुना है । उसकी रसार्ई बहुत करुण है ।”

“तो इसमें मेरा क्या दोष है ?”

दोष तुम्हारा क्या हो सकता है ! पर इससे बेहतर जगह पर हम लोगो को साकर रख सकते थे । करना जैसे थे, ठीक ही थे । किसी तरह सुख-दुःख में समय बट सी रहा ही था । इस हुए अपमान में मुझे च्यो घसोट लाए ? बताओ ? बताओ ?”

\*

\*

\*

तुम्हारी आँखों से चिगारी छूट रही थी । दाँत बिटकटा रहे थे । इतना तेज तो तुमने पहले कभी नहीं देखा !

बाबा अब तक सिटपिटाए से थे, पर अब गरज पड़े, “वाह ! आनू दमा



“गए ये कहीं सुन्न जरा ? इतनी रात हो गयी । कहीं जाते हो रोज ! रोज इतनी रात गये क्यों सोचते हो ?”

“पता तो है । बह्मट्टर मे ।”

“वहाँ यही सब निगलते हो ?”

“वहाँ ! उह्रै, ठीक वहाँ नहाँ”, बाबा सिर हिलाए जा रहे थे, “पर आस-पास ही मे कही । मैं तुम्हें छूकर बोल रहा हूँ, आसपास मे ही कही । दूर नहीं, दूर नहीं । और और फिर तुम जो कुछ सोच रही हो, वह बात भी नहीं है, बिलायती चीज नहीं हुआ हूँ मैं । मैं स्वदेशी वाला हूँ जो कुछ पिया हूँ, स सब देशी, खाटी देशी । हूँकै जी ! चरित्रभ्रष्ट नहीं हुआ हूँ । नीति ठीक रखा हूँ ।”

‘तुम्हारा चरित्र, और तुम्हारी नीति ?’ कितनी घृणा के साथ उन शब्दों का उच्चारण किया था तुमने । घृणा ? या फिर मर्मा, तुम क्या डर गयी थी ?

नाय पर कपड़ा रख लिया है, पर आँख पर नहीं । नहीं, उस दिन तुम रो नहीं रही थी । बाबा, एक बीड़ी सुलगाना चाह रहे थे । पर नहीं सक रहे थे । हाथ काँप रहा है । तीली बार-बार बुझ जा रही है । एक बार तो उनकी उगरी किनारे तक आग सुलगती चली आयी । अब आँखों से बाबा तुम्हें अनुनय कर रहे हैं, माधिस जला देने का । तुम नहीं दे रही हो । पीछे हट जाती हो । मैं निश्चल सेटा हुआ अपसक्त दृष्टि से एक मूक अभिनय देखे जा रहा हूँ ।

“इससे तो पहले तुम जो कुछ थे, वही ठीक थे । यह सब मैं क्या देख रही । सब सीख रहे हो ”

बाबा ने महाशानी की तरह फिर सिर हिलाया । “ऊँहूँ ! सीख नहीं रहा हूँ । मुझे शिक्षार्थी मत कहो । सब कुछ सीखने-सीखने के बाद ही तो यहाँ पहुँच सका हूँ । जानू ! मुझे शिक्षार्थी मत कहो । शिक्षार्थी तुम्हारा सबका है । वह छात्र है । उसी की अभी सीखने की उम्र है । वही बन्कि अब सीखेगा ।”

“सीखेगा ही, सीख रहा है । बाप के ही रंग मे रंग रहा है ।”

“रहेगा ही । अवस्था रहेगा । बाप का बेटा होगा तो मेरी आदतों को वह जरूर लेगा ।” मानो कोई बहुत ऊँचे किस्म का भजाक कर रहे हैं, इस आत्म प्रसा-  
॥ बाबा ठहाका मार कर हसने लगे ।

(बाबा अप्रवृत्तिय ये, पर नियति की तरह उस दिन अमोघ वाक्य का उच्चारण कर गये थे ।)

तुम जोन रही थी, बिना किसी प्रार्थना अथवा आवेदन के । दृढ़ता के साथ बोल रही थी, मानो आदेश हो, “मुझे तुम वहाँ वापस भेज दो ।”

“वहाँ ?” सद्गुरु की तरह हाथ घुमाकर बाबा ने कहा, “सुना है, वहाँ बार्ड नहीं ।”

तुम धीयन्तुत नहीं हुई । “न रहे पर मैं जाऊँगी ।”

“साथ मे कौन जायगा ।” बाबा मेरी ओर देख रहे थे ।

“कोई नहीं । मैं अकेली ही जाऊँगी । बेटा तुम्हारा है । वह भला मेरे साथ क्यों जाने लगा । वह यहाँ ही रहेगा । बाप और बेटा दोनों एक ही घाट पर मूह घोबोगे बहुत खूब ।”

(माँ ! तुम क्या इतनी ही नीच हो । संकेत में तुमने क्या बूसा लोगों के कमरे की ओर इशारा कर दिया ?)

बहुत गहराई से किसी बात को सोचने की हासत बाबा ने उस समय नहीं थी । एक छिचकी के साथ बार-बार तुम्हारी ही बातों को बार-बार दोहराते हुए कहने लगे, “वाह पूब ! वाह खूब ही तो !”

पर तुम हँसी नहीं । कठोर कण्ठ से उस समय भी बार-बार कहे जा रही थी, “पर बताओ, मुझे यहाँ लाए क्यों थे तुम ? बताओ ? बताना ही पड़ेगा । झूठमूठ का ही मुझे क्यों बिट्टी लिखकर फुससाया था । यहाँ आकर मुझे क्या मिला बता सकते हो ?”

“तकलीफ हो रही है ?” पिचले हुए स्वर में बाबा ने कहा, “होगी ही तो । गाँव में कितनी खुशी जगह थी और यहाँ चारों ओर से बंद और घुटा हुआ । बिस्तर पर हाथ पाँव फैला कर जिन्हें पसरने की आदत हो, उन्हें अगर किसी छोटी कुर्सी पर गुठमुड़ा कर बैठना पड़े ।”

“अपनी मक्कारी अपने पास रखो । बंद जगह में भी तकलीफ महसूस नहीं होती अगर परिवेश सभ्य होता । गंदा मकान । चतर की ओर की छिचकी खोसी क्यों नहीं जाती है ?” बाबा की ओर स्थिर दृष्टि रखकर तुमने कहा, “पर मैं जान चुकी हूँ ।”

“क्या जाना है ? बाबा क्या डर गए ?”

“जान चुकी हूँ कि, उस ओर के एक कमरे में न जाने कौन लोग किसी लडकी को पकड़ रखे हैं । वह लडकी हर समय सिसक-सिसक कर रोती रहती है । मैंने कान लगाकर सुना है । उसकी कलाई बहुत कड़ुण है ।”

“तो इसमें मेरा क्या दोष है ?”

दोष तुम्हारा क्या हो सकता है । पर इससे बेहतर जगह पर हम लोगों को लाकर रख सकते थे । करना जैसे थे, ठीक ही थे । किसी तरह सुख-दुःख में समय कट तो रहा ही था । इस हुए अपमान में मुझे क्यों घसीट लाए ? बताओ ? बताओ ?”

\*

\*

\*

तुम्हारी आँखों से चिंगारी छूट रही थी । दाँत किटकिटा रहे थे । इतना तेज तो तुमने पहले कभी नहीं देखा ।

बाबा अब तक सितपिटाए से थे, पर अब गरज पड़े, “आह ! जानू समा

करो। अब तक थियेटर में था। डेर सारा मापण सुनकर आ रहा हूँ। घर पर आकर भी फिर से वही कुछ सुनना? एक रात में दो घों देखना? माफ करना, मुझसे नहीं होगा। इतनी बार तालियाँ नहीं पीट सकूँगा।”

“रोज थियेटर जाते ही क्यों हो। कौन कहता है जाने के लिए?” तुम्हारे होठ विद्रूप से टेढ़े हो गए हैं, मैं माना साप की फूफकार सुन रहा हूँ। तुम क्या वही हो मा, जिसे मैं पटचानता हूँ। जो शांत, स्थिर एक प्रतिमा है? प्रतिमा का रंग पानी में घुल गया है और मैं पीछे का लकड़ी-फूस भी देख पा रहा हूँ। तुम बोलती हो जा रही हो, ‘तुम थियेटर में कुछ हो नहीं। तुम तो सिर्फ उन लोगो के प्रेस के मैनेजर हो। हैंडबिल छापते हो तो फिर रोज-रोज वहाँ क्या करने जाते हो?’ एक आँख तुमने छोटी कर ली। ये सब लटके-झटके सगता है तुमने यही आकर सीखा है। पूछती रही तुम, ‘क्यों जाते हो तुम वहाँ? किसके कारण? बताओ किस थियेटर वाली के कारण? पर उसके लिए रोज रोज तकलीफ उठाने की क्या जरूरत है! एक जन तो नीचे ही हैं। शाम को वह घर नहीं रहती है इसलिए?’

“छुप करो।”

‘नहीं कहूँगी। सुबह तो रोज ही जाते हो। उसके भड्डावा पति को बाजार भेजते हो। सच सच बताओ तो, एक दिन भी क्या तुम बाजार जाते हो, गए हो?’

घरघराती आवाज में बाबा को बोलते हुए सुना, “वह सब तुम नहीं समझोगी। दुकान हाट करना मेरा काम नहीं है। मैं एक आर्टिस्ट हूँ।”

इस बार किसी मिल के भयंकर सायरन की तरह तुम्हारी आवाज गूँज उठी। चुपचाप लेटे रहने का भान किये रहना अब संभव नहीं था। मैं बिस्तर पर सीधे होकर बैठ गया। एक बार तुम्हारे तो एक बार बाबा के मुँह की ओर देख रहा हूँ

“आर्टिस्ट। तुम आर्टिस्ट हो? इस शब्द का मतलब मैं जानती हूँ। तुम किस बात के आर्टिस्ट हो गुणवान। थोड़ा समझा दो न, एक बार समझा दो। डेर के डेर नाटक लिखे हो इसलिए? तुम अगर आर्टिस्ट हो तो फिर चमगादड़ भी तितली होगा। उस तरह का कूड़ा कोई भी लिख सकता है।”

अब तक तुम फूफकार ही रही थी, अब तुम्हें काटत हुए भी देखा। बाबा डगमगा रहे हैं। बाबा का चेहरा राख की तरह सफेद होता जा रहा है। विवृत, अस्पष्ट स्वर में केवल इतना ही बोल सके, “जो कुछ लिखा है, वह सब कूड़ा है? कोई भी लिख सकता है? कोई भी? यह तुम कह रही हो?”

‘कहाँ तो। ठीक ठीक अगर सुन नहीं पाये हो तो दोबारा कह दे रही हूँ, कूड़ा कूड़ा कूड़ा।”

बाबा ने दोनों हाथों से मुँह ढँक लिया है। पहले की तरह की असहाय स्वर

मे बोल रह हैं, "पर तुम जो ध्यान से सुना करती थी। कितनी तारीफ करती रही हो।"

"सुनती थी, क्योंकि सुनना पढता था। तुम्हारी पत्नी जो हैं।"

"सिफ-सिफ मेरी पत्नी हो इसलिए, वरना।"

"वरना उन्हें फाड़कर चूल्हे में ज़ोब देती।"

शायद बहुत तकलीफ हो रही है। बाबा दीवार के सहारे टिक कर खड़े हो गये। पर तुम थकी नहीं। कटे पर नमक छिड़कती रही। बाबा ने जब पूछा, "अब तक बताया क्यों नहीं?" तुरन्त तुमने जवाब दिया, "बताया नहीं क्योंकि तुम्हें तकलीफ होती। मौज़ी आदमी, घर बाँध कर भी जो धँसा नहीं, सोचती थी यही सब सेकर बहलें रहेंगे।"

"मुझे बहलाने के लिए? सिर्फ बहलाने के लिए? इतनी दया तुम्हारी दया-मयी?"

"दया थी कि नहीं मालूम नहीं। अनपढ़ औरत हैं। ऐसे तो कुछ समझती नहीं हैं, पर आज बिना बोले रह नहीं पा रही हैं कि तुम जब पढ़ा करते थे, उस समय मैं जम्हाई भरती। मुझे नींद आती थी। सच कह रही हैं, सच, सच, सच।"

"नींद और जम्हाई?" सम्मोहित की तरह बाबा एक-एक शब्द को देबस-से होकर खींचत गए। अगर अचानक तुम छुप हो जाती तो वे घप् से बैठ जाते। "नींद आती थी, और जम्हाई?"

"हँसी भी आती थी। देखो, तुम्हारे उन सब बकवास को कोई नहीं लेगा, न प्ले होगा। और अगर कभी हुआ भी।" तुमने अंतिम पत्थर फेंक मारा, "अगर हुआ भी तो लोग देखेंगे नहीं, मजाक उढायेंगे, उठ कर भागेंगे।"

ठीक इसी समय बाबा ने शायद हाथ उठाया था, माँ, तुम्हें मारने के लिए नहीं, पत्थर रोकने के लिये। पर नहीं रोक सके। पत्थर ठीक सीने पर जाकर लगा। बाबा बाँपत-बाँपते बैठते जा रहे हैं। किसी अंधे की तरह हाथ बड़ा बड़ा कर कुछ पकड़ना चाह रहे हैं।

"माँ! पकड़ो, पकड़ो बाबा की। देख नहीं रही हो, बाबा गिर जाएंगे?" मैं चीख पड़ा था, तुम हिनोगी नहीं, पकड़ागी नहीं, इतना समझते हो तडाक से बूद पड़ा था।

पर तब तक बाबा ने गुडमुड़ा कर जमीन पर आसन से लिया था। एक पुरानी इमारत की इट-सबड़ी समेत आँख के सामन इस तरह बह जाते हुए पहले कभी नहीं देखा था, पास जान ही बाबा ने दोबारा मुझे रोकने के लिए हाथ उठाया। जोम से होठ घाटकर उसे थोड़ा गीसा करके किसी तरह बोल पाए, "रहने दे। मैं ठीक हूँ।"

वहाँ, बाबा ने मुह में गन्ध बर्हा है ? बाबा की आँखों में नशा भी नहीं है, वहाँ तो एक बूढ़, बाणविद्ध पशु की भयावह दृष्टि देख-पा रहा है !

सकड़ी-इंट गिरे ही पड़े रहे । घुटनों ने ज़दर, सिर धुसाए । यह भग्नस्तूप किसी इतिहास का साक्षी नहीं बनेगा ।

वहाँ है दयामयी ? चारा और देख कर उस समय भीषण के सिवा और कोई भूति ही मैं नहीं देख पाया । सचमुच वा नशा उस समय अचानक किसके सिर चढ़ गया था ? तुम्हारे या बाबा के ?

उस दिन बाबा की मुर्दे जैसी शबल देखकर मैं डर गया था । चोट कितना गहरा घाव कर गया था, यह उस समय समझ नहीं पाया था । आज अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि बाद में मैंने भी बलम पकड़ी थी न । पर दयामयी, तुम्हें किस तरह समझाऊँ ! उससे ज्यादा घातक प्रहार और कुछ नहीं है, यह वे लोग ही समझ सकते हैं, जिन्होंने अभी न अभी, कुछ न कुछ सिखा हो । जो लोग लिखते नहीं हैं, वे इस तकलीफ को समझ नहीं सकते ।

\*

\*

\*

उन दिना अगर सामने वार्षिक परीक्षा न होती, तो मेरा समय और भा बुरा बटता । पढाई के दबाव के कारण मैं कुछ दिनों के लिये सब कुछ भूल गया था । पढाई के कारण मैं देख नहीं पाया कि, हवा के झोंकों से उस बार कितने धूल उड़े, पाक के पीले घास किस समूह फिर से हरे हो गये । मकान का लीज जिन लोगों ने लिया है—जो लोग ऊपर बरसाती में और एक कमरा लेकर रहते हैं, उन लोगों के पालतू कबूतर कब गुटरगू करने लगते हैं, तो जब कभी त होकर चुप हो जात हैं, कुछ भी पता नहीं चला ।

और मैं, मैंने परिवार की त्रिभग मूर्ति की ओर भी ध्यान नहीं दे पाया । त्रिभग, पर तीन खंड नहीं आपस में जुड़ी हुई तो थी, पर वह झुड़ना भी कितना असंगत लिये हुए था, यह भी महसूस कर पा रहा था । फिर भी देखकर भी नहीं देखता था । देखते रहने से मेरा पास होना मुश्किल होता । पास ? गलत कह गया । पास मैं निश्चित रूप से होऊँगा, यह तो जानता था, पर बहुत रेजल्ट न होने से

हाकिमी ? धुल । हाकिम बनने की बात उस समय कौन सोच रहा है ? कालेज में कम से कम एक फ्री स्टुडे टशिप, नि शुल्क पढ़न का अधिकार । क्या बनूँगा यह मैं तब तक तय नहीं कर पाया था । केवल 'चायस आफ ए प्रोफेशन' पर अगर लेख लिखने को आ जाये, तो क्या सिखूँगा, इसे अच्छी तरह घोट लिया था । बाबा जो कुछ थे, वही स्वदेशी तो निश्चित रूप से नहीं बनना था । जेल-बल नहीं जाऊँगा । इसका मतलब यह नहीं कि, मुझमें देशप्रेम नहीं है, यथेष्ट है, क्योंकि दुनिया के तमाम पराधीन देशों के आंदोलन । अग्निपरीक्षा, आत्मत्याग के इतिहास को उस समय तक पढ़ जाता था । क्लास के जो लड़के टिफिन पीरियड में दस बनाकर बाहर नहीं

निकलते हैं, जो लोग मैदान में दोपहर की धूप में गोल होकर बैठते हैं, उन लोगों के पास से पुस्तकें लेकर पढ़ा है ।

पर दल में नाम नहीं लिखवाया है । साहस का अभाव ? शायद वही हो । जब भी उन लोगों के पास जाकर खड़ा होता, वे लोग आपस में बहस करते हुए मिलते । बलास रूम में ही टेस्क् थपथपा कर भाषण देते । मास्टर साहब के आने पर भी नहीं हन्ते । किसी किसी दिन तो जोशीले नारे लगते हुए पानी के छोट की तरह बलास से निकल भी जाते । उन लोगों के पीछे जाकर जब खड़ा होता हूँ उस समय कभी-कभी इच्छा होती थी कि अपना भी नाम लिखा दूँ । वे लोग जो कुछ कर पा रहे हैं, उसे मैं क्यों नहीं कर सकता हूँ ?

पर नहीं कर पाता हूँ । मा । मेरे हाथ कापन लगते, पसकें धरधाराने लगती, क्योंकि तुम सामने आ जाती । मैं तुम्हें देखने लगता । मैं भी अगर बाबा जो कुछ कर रहे हैं, उसी तरह धर छोड़कर निकल जाऊँ, तो तुम्हारा क्या होगा ?

एक ओर अद्वैतार्थ व्यर्थता मुझे दूसरे पथ पर लिए जा रही थी । वह पथ अन्तर्मुखी था । एक ही साथ संग लोभी भी । हालाँकि लोगों के साहचर्य से बलान्त-कुण्ठित भी । वही बहिर्मुख मन इस बीच कापी के पन्नों में कच्ची भाषा में अपने को व्यक्त करता गया था । वह सब लिखा हुआ छुपाकर रखा रहता । पितुरक्त नियति की भाँति होता है । उससे निस्तार कहाँ ?

पर उस बार परीक्षा निकट होने के कारण सब कुछ बन्द रहा । करना देख पाता, बाबा पहले की तरह ही ठीक समय पर काम पर निकलते तो हैं, पर उनके कदम कुछ और तरह के उठते-गिरते, माना कुछ अनिश्चित सा हो । सीढ़ा सुलुफ वे ही ले आते, पर क्या लाना होगा, पूछने नहीं । बहुत होता तो किसी-किसी दिन तुम किसी चिरकुट पर कुछ लिख देतीं ।

शाम को किसी उपचायक टीचर के घर से पाठ समझ कर लौटने में देर हो जाती । डाट खाने का भय नहीं था, क्योंकि अयाय तो कुछ नहीं कर रहा था । फिर बैठे भी जानता था, तुम और डाँटा नहीं करोगी ।

फिर भी आँगन पार करके सक्ड़ी के जीने के पास जब भी पहुँचा हूँ, पाँव ठिठक गये हैं तुरन्त शायद कोई बाहर निकल आए और बहे, "आओगे ! आओ न !" हाथ उठाकर चौखट पकड़ कर कौन तो परछाई की तरह खड़ा है । मेरे रोंगटे खड़े हो जाते । जीना धरमराया हुआ-सा था, फिर भी मैं कूद-कूद कर लपकता हुआ एकदम ऊपर के बरिडे में आकर दम लेता हूँ । अब कोई डर नहीं है, निरापद हूँ मैं ।

\*

\*

\*

सो व दिन पढ़ाई की री में बीत गए । क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा खयाल नहीं किया । परीक्षा जिस दिन समाप्त हुई, समय से बहुत पहले ही पेपर जमा

२०५

कर बाहर निवल आया था। आकाश की ओर मैं अपलक दृष्टता रहा था। आकाश किस तरह इतना स्थिर-निश्चित, निभय रहता है।

दरअसल, दसो दिशाएँ मेरे सामने खुल गई थी, रेलिंग के ऊपर लुकी हुई महिला को देखकर लगा था, इससे अधिक महोयसी मैंने किसी को नहीं देखा है, शाम की ठसती धूप में पान की दुकान में सटकना शोशा! आज एक पान खाऊंगा, साथ ही शोशे में अपना चेहरा भी एक बार देख लूंगा। वह केरीवाला मुर में क्या बोले जा रहा है? "ओ लोहे वही दो आना। से जाओ बाबू दो आना, से जाओ बाबू दो आना?" लूंगा, लंगा। सब कुछ लूंगा। बिल्कुल मत सोचो।

प्रथम परीक्षा समाप्त हो जाने की वही मेरी अनुभूति थी। वह स्फूर्ति, वह मुक्ति—उसका स्वाद बाद में फिर उस तरह नहीं मिला। क्या करूँ अब? कहाँ जाऊँ? अभी तो सिर्फ चार ही बजा है। घर चलूँ? पर कदम उठर पड़ ही नहीं रहे हैं। आश्चर्यपूर्वक अनुभव करता हूँ, मैं अपने वय में नहीं रह गया था। कौन तो मुझे उढाये ले जा रहा है।

माँ, इतनी बातें बना रहा हूँ सिर्फ संकोच मिटाने के लिये। अब मैं तुम्हें उस दिन की परिणति के बारे में बताऊँ।

\*

\*

\*

"इधर कहाँ?" डरते हुए पूछा था।

"डरो नहीं। विषय पर नहीं ले जाऊँगी।" मुस्करा कर किसी ने कहा था। जिसने कहा था, वह बूला थी। इधर-उधर भटकते हुए, अन्त में गंगा के किनारे पहुँच जाऊँगा, पहले नहीं समझ पाया था। इधर की सड़कें, चौड़ी साफ़ सुथरी। जोर से हान बजाकर सर्रं स गाड़ियाँ गुजर जाती। बहुत सावधानी के साथ सड़क पार कर रहा हूँ। दूर से एक फैल कर फूला हुआ फाक देखकर चौक गया था, पर तब तक समय नहीं रह गया था।

ऊँचे गुम्बद जैसी जगह से बूला उतर आयी थी। चेहरा पर लाल रिबन हँसी। मुझे देखकर पोट्टा भी अवाक नहीं हुई, न मेरे आने का कारण ही पूछा। मानो उसे पता था कि आऊँगा, सो उतारते ही मेरी ओर हाथ बढ़ाकर बोली "आओ।"

"कहाँ?"

बूला मेरा हाथ पकड़ कर सड़क पार कराते समय गर्दन घुमा कर कहा था, "डरो नहीं। विषय पर नहीं ले जाऊँगी।"

उस पार की रेल लाइन के ऊपर से किसी परी की तरह वह उड़ने लगेगी, कुछ वैसे ही भाव के साथ बोली, 'यह एक घाट है। इसका नाम आउटरम घाट है। मैं तुम्हें वेघाट पर नहीं लायी हूँ।'

बूला ने ऊँची एड़ी की सेडल पहनी सी बीच बीच में वह मुझसे ऊँची दीखने लगती। हँस कर बोली, “क्यों पकड़ नहीं पा रहे हो?”

चट से मैंने ब्रवाब दिया था, “तुम तक मैं ऐसे भी नहीं पहुँच पाऊँगा, इतनी तेज चल रही हो।”

“ठीक है, मैं ठहर जाती हूँ, वहाँ जाकर। उसे जटो कहते हैं, उसके दो तल्ले पर। ज्वार आने पर सब एक साथ होसने लगेंगे।”

विनारे पर एक कतार से बड़ी बँधे जहाज खड़े थे। विश्वास करना कठिन हो रहा था कि ये ही हमारे जहाज किसी समय असीम में ठिकाना डूढ़ने निकल जाते हैं, या फिर दूढ़-दूढ़ कर दोबारा विनारो से आ सकते हैं। देखकर विश्वास नहीं होता है।





उसकी उँगलियों के बीच से कलाई के ऊपर रस चूँ जा रहा है। बूला एक आइसक्रीम चूस रही है। बोली, “कितनी ठंडी है। ठीक मेरे गाल की तरह। बोलते बोलते वह मेरी गाल पर ही अपनी ठंडी हथेली रख देती है। सफ़ाई मेरी ओर बढ़ाते हुए कहती है, “खानोगे? खाना चाहता है तो खान।” मुझे इतना बरत दब, आँख दबाकर मटकते हुए कहा, “समझ गयी, बयो हिचकिचा रहा है। आइसक्रीम भा भसा कहीं जूठा होता है? नहीं होता है। पिघल कर खत्म हो जाता है। दब नहीं रहा है?” इतना कहकर बूला जीभ से अपनी कलाई चाट लेती है।

वह लगातार बोले आ रही थी। “तुझे पता था कि मैं यहाँ रहूँगी। पता नहीं था? तू तो इन दिनों गुस्से का फूल बना हुआ था। वही उस दिन, ही ही, अच्छा मुझे भसा उस तरह मारा बयो? तुझे थोड़ी भी तकलीफ नहीं हुई? तकलीफ जानते हो कहाँ होती है? यहाँ” कहकर उसने उँगली से तकलीफ वाली जगह दिखाई।

उसके बाद फिर से चालू हो गयी। “माँ गया का हाल देखो। सूप का माया तो बचा कर खाए जा रही हैं, हालाँकि सुनती हूँ, वह बहुत पवित्र हैं। पवित्र न और कुछ। मटमैसा पानी, इस समय लाले सास हो रहा है। मुझे ताँ बस रुपये देने पर भी इस पानी में मैं कभी भी न नहाऊँ।”

वह थोड़ा छुप कर गयी। शायद मुँह पर तरस खा गयी हो। पर नहीं। फिर से बड़बड़ शुरू हो गया है। ‘बहुत से लोग नहा रहे हैं। पर इधर आ। उधर बाबू घाट की ओर देख। बता तो, गंगा में जो लोग नित्य नहाते हैं, वे लोग पापी हैं या पुण्यवान? पाप-पाप, मिट्टी, गंदगी सब धो डालने जाते हैं। वे लोग पाप करते हैं न। इसीलिए पुण्य कमाने के लिए इतना लपकते हैं। रोज-रोज गंगा स्नान। हे राम। कितनी बेहया लड़कियाँ हैं। नंगे बदन या फिर गीले कपड़ों में सब कुछ फूटकर बाहर निकला आ रहा है। कैसी लड़कियाँ हैं। पर मुझे’ अचानक उसने आवाज़ इतनी नीची कर दी, मानो कोई बहुत गहरी बात कह रही हो, “पर मुझे सोने का कमरे में भा वह जो फाक पहने हैं, देख रहा है न, पाव के कितने ऊपर तक खुला है, देख न आजकल इतने से ही बदन सिहरने लगता है।”

इतना कहकर वह थोड़ी देर तक मेरा निरीक्षण करती रही। "तुम सड़को को ही किसी तरह का झमेला नहीं सम्भालना पड़ता है। अब यह जो शट और हाफ पैण्ट पहन हुए हो, इसी में अच्छे लग रहे हो। वैसे तू थोड़ा दुबला-पतला है। तेरी पिठलिया अगर थोड़ा और भरी होती, तो ज्यादा अच्छी दीखती। मेमसाहबें भी अच्छी दीखती हैं न।" उसने एक दीर्घ श्वास छोड़ते हुए कहा, "पर हम लोग तो मेमसाहब नहीं हैं न। इस साल के बाद ही मैं साड़ी पहनूंगी। मा से पहले ही धावा करवा लिया है, और यह भी कह दिया है कि, मुझे बाहर और भीतर दोनों के लिए कपड़ा चाहिए।"

इस बार उसने एक प्रश्न पूछा, जो मेरे लिए काफी कठिन प्रश्न था। "यहाँ मैं क्यों आयी हूँ बता तो? एक, दो-तीन। तीन कारण बता। कोई न कोई मिल जाएगा।"

"नहीं बता सकेगा? धुत्त, बुद्ध। मैं यहाँ मा को एकटन आयी हूँ।" अब तक उसकी बातें नल से गिरत पानी की तरह बह रही थी। अचानक उसकी आवाज कोई जमे पानी की तरह हो गया।

बोला, "मासीमा को! क्यों? मासीमा तो घर पर "

बीच में ही मुझे टोकते हुए कहा, "नहीं हैं। दो दिन से घर पर नहीं हैं। तुझे भला पता चलेगा भी कैसे? कोई खोज खबर रखता ही कहा है? आजकल हम लोगो के घर की ओर एक बार भी झाँककर देखा है? पता है, मैं कितने दिन दरवाजे पर "

"मेरा इन्तहान आ गया था जो। फिर इसके सिवा बूला", उस परिवेश में जितना निश्चल हुआ जा सञ्चता था, उतना होता हुआ बोला, "बूला। मुझे डर लगता था।"

"कि मैं कहीं चुडेल की तरह आकर पीछे से गर्दन न मरोड़ दूँ?" आवाज में जमे हुए भाप को उड़ाते हुए वह फिर से झरझर हँसी से मर उठी। "इसीलिए सरसराता हुआ निबल जाता था? रामनाम भी जपते थे क्या? बता न।" उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर धीरे-से ठेल दिया। उसके कान के सुमके डूबते सूरज की रोशनी में झिलमिला रह थे।

बोला, "पर बूला। लीला मासीमा के बार में अभी तुम क्या बोल रही थी?"

"रफूचकर हाँ गयी हैं। अपनी बेटा को इस तरह छोड़कर जो भाग सब्ती है, वह क्या माँ है? या उसे हम मनुष्य मान सकते हैं? तरी भी तो माँ है।"

बोला, "और मोसा जो?"

"तू उस आदमी के बारे में पूछ रहा है, जिसे मैं बाबा कहती हूँ।"

(माँ। नमस्कों के प्रति अश्रद्धा, पारिवारिक स्वतः सिद्ध की अत्यधिकार करना, उसका निर्मल-निर्मोह नमूना मैंने बूना मैं हा सर्वप्रथम पाया था। प्रवाश्य में जिसे सब

सोग मूल्यवान समझते हैं, उसे फूक मार कर मूल्यहीन बनाकर उठा देने की घृष्ट मूल्यता ? बूना का अविश्वास बूना की तितकता, नि सग, निष्प्रेम, बूना की निष्ठुरता गोपन ने किसी कलि की तरह मेरे भीतर सक्रामित हुआ था । तुम्हारे, मेरे, मेरे और बाबा के सम्पर्क के बहुत से अध्यायों को प्रमाणित किया था ।)

“जिसे बाबा कहती है ?” बूना बोल रही थी, “उसे क्या फर्क पड़ता है बेचारा ! तम्बाकू पी रहा है । अपनी चिलम खुद ही भर रहा है, और खास रहा है । ऊपर से रात भर दमा के कारण छटफटाहट, फिर भी चिलम चाहिए । ऊपर से हा-हा, हु-हु भी हा रहा है । रहना दूबर हो रहा है मेरे लिए । दरअसल उसे ऐसा कौन-सा फक पड़ रहा है । बीबी बली जाने से दूसरी बीबी मिल सकती है । पर माँ के जाने से मुझे दूसरी माँ कहाँ से मिलेगी ?”

बूना का स्वर फिर से गाढ़ा हो गया । भानो दोपहर की पोखर के ऊपर अचानक बादलों की छाया पड़ गयी । महसूस कर रहा था, उसकी शिकमिक हँसी के बानू का पाछा हटाते ही नीचे पानी है ।

“फिर तू समझेगा नहीं । उसकी उम्र हुई है । तीन काल जाकर बाकी बचा है एक काल । स्वास्थ्य खराब है । बीबी-सीबी को अब कोई खास जरूरत भी तो नहीं रह गया है । जा पत्नी कभी भी बस में नहीं रही, फिर वह तो असली नहीं, नकली पत्नी थी । असली, नकली पत्नी बली गयी, पर नकली बेटी तो रह गयी है । पता है ! दो रात से मैं सो नहीं पायी हूँ । हमेशा यही सगा है, वह आदमी उठकर मेरे पास आ गया है और एकटक मुझे घूर जा रहा है । मेरे सोने का डग भी तो बड़ा बढ़ा है न । इसीलिए नींद में भी बदन सिहरता रहता है ।”

गला सूखने लगा था । उस समय बूना से आइस क्रेण्डो ले लेता तो अच्छा होता । बोला, “पर बूना, मीसा जो तो तुम्हारे ”

‘बताया न । जैसी नकली बेटी हूँ मैं, वैसे वे मेरे नकली बाबा हूँ । बनाए गए बाबा । जो भी मन में आए कह सकते हो, कर सकते हो । वह सब कुछ कर सकता है, भले ही आँखा से ही । सब कुछ बना गया है, पर दोनों आपे तो अभा हैं न ।”

मैं सिर हिलाने लगा । जो बात कभी किसी से नहीं का थी, निरुपाय होकर उस निमृत्त अभिज्ञता का रहस्य उसने सामन खोलना पड़ा । “बेचल देखते रहने से कुछ नहीं होता है”, बूना को समझाया । उसने उसकी ओर अपलक देखते हुए कहा, ‘पता है, मेरे बाबा भी गाँव में रहते समय एक एक दिन उसी तरह देखते रहते थे ।”

‘उस तरह देखना और बात है । तुम सोग सड़के हो, समझाग नहीं । हम सोग सड़की हैं न । हमें सब पता चल जाता है । जानती हूँ । समझती हूँ ।’

प्रति शब्द के ऊपर जोर देकर कहना, उसकी धारणा की हड़ता को प्रमाणित कर रहा था ।

“वेसा नहीं होगा”, बूला ने निश्चित स्वर में कहा, “माँ को मैं दूध निकालूगी ही, चाहे जहाँ से भी हो।”

वह कहती ही गयी, “जहाँ भी रहे, वही से उसे दूध निकालूगी ही। मुझे सब कुछ मालूम जो है। अगर वही कलकत्ता से बाहर न गयी रहे, जैसे गिरडीह या फिर हजारीबाग। एक बार गयी थी—तो एक न एक दिन शाम को यहाँ जरूर आएगी ही। शाम को उनका सिर दुखने लगता है, गंगा की हवा सिर दर्द की दवा है। दोस्तों के साथ हवाखोरी करते ही देखा है, उनका सिर दर्द ठीक हो जाता है।”

एक घड़ी की ओर देखकर बूला बोस गयी, “सवा पाँच। इसका मतलब यह हुआ कि अभी और आधा घण्टा बचवा तीन ब्याटर। छह बजे आएंगी। आज न आए, तो कल ? नहीं तो परसो जरूर ही। रंगे हाथ पकड़ लूंगी। उस बरगद के पेड़ के नीचे बूढ़े पानवाले को देख रहे हो ? उसके पास से माँ जर्दावाला पान खायेंगी। खाकर पूकेंगी, फुल्लेंगी। बिल्कुल खून के फव्वारे की तरह। माँ की आदत है। बूढ़े को कह रही हूँ, देखते ही मुझे इशारे से बता देगा।”

बुद्धू की तरह बोला, “बूला ! आज अगर वे पान न खायें ?”

“तो तू यही सोच रहा है ?” बूला ने ताली बजाते हुए कहा, “तो फिर है कुल्फी भग की कुल्फी माँ का जान से भी ज्यादा प्यारी है। वहाँ जो कुल्फी वाले घूम रहे हैं न, वो गुम्बद की ओर। उन सोमा से भी कह रखा है। सब तरफ से तैयारी करके ही आयी हूँ, बुद्धू ! माँ अगर घुपूनी हूँ, ताँ मैं भी तो उन्ही की सबकी हूँ। सीसा बाहानी की बेटी मैं बूला बाहानी।”

अपनी चासाकी पर स्वयं ही मोहित बूला अजीब ढंग से हँस पड़ी। “तू सोच रहा है न, इतनी चालाकियाँ मैं कैसे जान पायी हूँ। माँ न खुद ही पहले बेवकूफी की है। मुह से बताया तो है ही, फिर बीच-बीच में मुझे साथ में भा ले आती थी। जब छोटी थी तब। अबले घर पर रहूँगी कैसे ? डरूँगी, इसलिए। पहले उनके मन में स्नेह था, ममता थी।”

“अब नहीं है ?”

“अब है डर और ईर्ष्या। उनके दोस्त खीस जात थे, नाराज भी होत, फिर भी परवाह कहाँ करती थी। उस समय माँ की उम्र भी कम थी। उन्हें पता था, वे सोग जितना भी कुत्ते की तरह गुर्राएँ, आखिर में दुम दबाए पाँव में सोटेंगे ही। माँ के पास वही ताकत थी। यह ताकत अब खत्म हो गयी है। उसकी जगह ईर्ष्या आयी है। उसकी धाती की मछली पर मैं भी कहीं हिस्सा न बैठा बैडू। इसी बात की इतनी ईर्ष्या है। ज्यादा सरिन्दम राय सोग आते हैं, त्योही मुट्-से निकल जाती है। मुझे उन सोगों के पास खाय तक देने नहीं भेत्रती है। दोस्ता पर खोदसो रखती हूँ।”

दोनो हाथ ऊपर उठाकर, हवा में घुमात हुए बूला ने कहा, “रखने दे, मेरे टोंगे से। मैं तो उसकी तरह हिरोइन बनने के लिए मरी नहीं जा रही हूँ न। बाग मिलना होगा तो खुद ही मिलेगा। उन्हें यह एक नयी बाधारी लगी है। उस बूढ़ी

को हिरोइन बनना है। हिरोइन न कच्चा। कच्चा नहीं, ठेगा। छोकरी मितने पर बूढ़ी को कौन पाट देगा ? कौन देता है बत्ता ?”

बोला, “धियेटर की बात में विशेष नहीं जानता हूँ न।”

“जानोगे, जानोगे। तू हो तो मौसा जो से अपने बाबा से पूछकर देखा। घूमते-घूमते तो वे भी हैं, क्या उन्हें हालचाल मालूम नहीं होगा ?”

बूसा न गहरी साँस ली। एक जहाज सीटी बजाकर, धुआँ उठाते हुए आ रहा था। बूसा बोली, “यहाँ दम घुटा जा रहा है। कालिख से कपड़े खराब हो जाएंगे। आओ, उधर छाया में चलो।”

बूसा मुझे घसीटती हुई एक कोने में साकर खड़ी कर दी। नाचे पानी बहर रहा था। किनारे पर कुछ छोटी नावें बँधी थीं। मत्साह खाना बना रहे थे। वहाँ भी धुआँ था।

“न ना।” बूसा बोली, “इस पृथ्वी पर सुख की कोई जगह नहीं है। उस कमरे में चलो ? देखना वहाँ कुर्सी मेज सभी होगी। बहुत बढ़िया चाय बनाते हैं। अभी भी हाथ में कुछ समय है। चाय पिलाओगे ? पैसा है ?”

जेब में जो कुछ था निकाल कर दिखाते ही बूसा खिलखिला कर हँस पड़ी।

“कुल बारह पैसा ? घुत्त। इससे तो यहाँ घुसे हुए कप में गरम पानी भी नहीं मितने वाला। यही लेकर तू गंगा के किनारे आया है ? तेरे प्रेम का मूल्य कुल तीन आने है ?”

मैं धर्म से गड गया। बूसा मुझे ठेसत हुए नदी के बिल्कुल किनारे ले गयी। पानी में फेंक देने का इरादा है क्या ? जेब में कुल तीन आने लेकर आया हूँ, इसलिए ?

पर नहीं, बूसा ने मुझे ढकेला नहीं। बल्कि अनुभव किया, उसने मानो मुझे थोड़ा और नजदीक खींच लिया था। गहरी साँस, उसके चेहरे का कोई हिस्सा, मेरे मुँह पर क्या पता। मेरी आँखें मुदी हुई थीं। सो बता नहीं सकता हूँ।

इस बार शायद बूसा ने सचमुच ही मुझे ठेस दिया था। अपनी बिकचिक करती आँखें टार्च की तरह, मेरे मुँह पर फँसते हुए एक गाँव में बह गयी, “हुआ नहीं। तूने आँखें नयो मूद ली थी ? अघा है क्या ? मुझे इसीलिए कैसा तो लगने लगा था। अचानक लगा, अघे लडके की चूमने से पता है मुझे ऐसा लगता है खुद भी अघा बन जाना पड़ता है। जिस तरह गाँवारी हो गयी थी। हालाँकि गाँवारी न विवाह किया था, चूमा तो नहीं था न।”

गोस घड़ी में उस समय पीने छह का समय हो रहा था।

मुने बूसा ने छोड़ दिया और कहा, “मा क आने का समय हो गया है। चस, अब चसते हैं।”

हम दानो ने सडक पार किया। उधर डलुवी जमीन पर हर घास उगे हुए

ये। सड़क पार होते समय बूसा ने कनछी से एक बार बूढ़े पान वाले को देख लिया। दो कुलफी घासो से भी बात हुई। पहरे वाले भी इधर-उधर घूम रहे थे।

जिले के ऊपर मुतही छूटी, साल सुर्ख आँखों से घूरे जा रहा है। गर्दन उठा कर एक बार बूसा ने उधर देखा। फिर बोली, “वह देख, ये लोग भी पहरेदार हैं। वे लोग भी खबरदारी रख रहे हैं। माँ बचकर आयेंगी कहीं?”

पड़ी की सुई घूम चुकी थी। साढ़े छह। गंगा के इस पार-उस पार न जान कौन, रोशनी के हार पहना गया था। ‘एक मोटर लच चारों ओर विस्मित प्रकाश फैक कर मानो कुछ दूढ़ रहा हो।

बूसा बोली, “वे लोग जन पुसिस हैं। हम दोनों भी ठीक जासूस जैसे बन गए हैं न रे? जासूसो कहानियो मे जिस तरह पडते हैं? खूनी को पकडने के लिए हमने जाल फैलाया है। तुम रोमांच नहीं हो रहा है?” बूसा ने मेरा हाथ धामा। “हालांकि ठीक खूनी नहीं कहा जा सकता है। पर खूनी से भी बदतर भगोड़ी। अपनी लडकी को छोड़कर फरार हो गयी।”

पड़ी की सुई घूमती जा रही थी। अचानक थोड़ा-सा झूल उठाकर सारी रोशनियों को सलछाँही बना दिया। बिजली भी चमकत देख मैं थोड़ा डर गया। गोल गप्पे वाले अपना-अपना खोंमचा समेटने लगे थे।

मैं डर गया। बासा, “सुनो। मैं अब जाऊँ। शाम हा गयी है। दापहर से घर नहो सोटा हूँ।”

बूसा ने मेरा हाथ तो पकड़ा ही पाँव को भी जूते से रगड़ते हुए कहा, “जाओ तो जरा देखू। तू न लडका है? तू पुरुष है या कापुरुष? मुझे छोडकर भाग जायेगा? यही तेरी रीति है?”

(मा, आज सब कुछ, जब सब कुछ एकदम साफ-साफ खासकर बता ही रहा है, तब यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि, बूसा, बातूनों बूसा न उस दिन अव्यर्थ ब्रह्मवाक्य का उच्चारण किया था। आज सोचने हुए भी रोगटे खड़े हो जाते हैं, माना दिव्य दृष्टिबल से उसने-मेरे भविष्य को बता दिया था। हाँ, वही मेरी आदत है। बाद मे बार-बार उस आदत का शिंवार हुआ है। कापुरुषता की पीन पुनितता मे अनेको के साथ मेरा सम्पर्क बलवित हुआ है। हमेशा ही छोड कर भागा हूँ। क्यों भला? अपने को बचाने के लिए। जा भागना है, वही बच जाता है। क्यों भला? अपने को बचाने के लिये। जो भागता है, वही बच जाता है। सच में क्या? मैं क्या बच पाया हूँ?)

पड़ी की सुई ऋषि की तरह एक हाथ ऊपर उठाकर बता रही थी—सात। पूरे सात। टिप्-टिप् बारिश शुरू हो गयी थी। अपने को समझाया, जो होना है होगा। रह जाना हैं अभी। आज तो परीक्षा खत्म हो ही गयी है। पर पर माँ आज कुछ बहेगी नहीं। अगर कहा भी तो बता दूँगा, दोस्तों के साथ फिल्म देखकर सोट रहा हूँ।”



एक के बाद एक कई गोल चक्कर लगाकर हम लोग सगमग उस पार्क के पास आ गये थे, जिससे उस ओर दूमे घूम-घूम कर इधर-उधर चली जाती हैं। उसी के आसपास सवारों बसा के कन्वक्टर पैसेंजर के लिए हॉक लगाते रहते हैं।

बूला ने कहा, "आओ दो तस्ले बस में बैठते हैं।" कहकर ही वह, सीढ़ी चढ़ कर ऊपर चली गयी। थोड़ी देर बाद सामने की सीट पर मेरे बगल में आ गयी। हवा के झोके से उसके रेशमी बास बिखरे जा रहे थे, और उन रेशमी वाली का स्पर्श। मैं भी अस्त-यस्त हो रहा था। उसके बालों के स्पर्श से मैं रोमांचित हो उठा था। एक आवेश, नया कपड़ा पहनने की तरह, नयी वित्ताय के पन्ने को नाक के पास लाकर उसकी महक पाने जैसा—पर मुझे क्या हो रहा था। इसकी खबर बूला को नहीं थी।

वह बाहर की ओर देख रही थी, पीतल के राड पर गाल रखे हुए थी। गाल पर पानी के छींटें पड़ रही थी। वहीं बूला, चालू बूला इस समय एकदम अलग तरह की हो गयी है। बहुत धीरे-धीरे घोल रही है, "पता है, मेरे बाबा कैसे नहीं थे। माँ की तरह तो बिल्कुल ही नहीं बापा, मतलब अपने असली बाबा की बात कर रही हूँ।"

"याद है तुम्हें?"

"थोड़ा बहुत। चेहरा याद नहीं है। चश्मा याद है। गोल चेहरा, जॉर्ज बडी-बडी अखबार में जिन लोगों की तस्वीर छपती है उन सीढ़ी में से किसी-किसी से चेहरा मिल जाता है। तस्वीर नहीं है न, माँ नहीं सायी, इसी से हर विख्यात व्यक्ति की तस्वीर देखते ही जॉर्ज होकर देखने लगती है—मेरे बाबा शायद ऐसे ही थे। घुघली-सी उनकी याद है। मुझे अपनी छाती पर लिटाकर सुलाया करते थे। मुझे गुदगुदा कर हँसाया करते थे। एक बार कोई मोठी-सी चोख पाने का दो थो—इसी तरह की छिटपुट बातें। कुछ मैं कहाँ से सकती हूँ? माँ तो मुझे जब समेत ही उखाड़ लायी थी। क्यों लायी? क्यों लायी थे? बाबा तो एक ही थे। उन्हें हटा दिया, पर नया तो कुछ नहीं दिया। बल्कि "

"माँ भी एक ही एक हैं। उसे भी छीन लिया। खुद को मुससे छीन लिया। मैं, मैं, मैं अब "

बूला बात पूरी नहीं कर पा रही थी। माँ, आज यह कहत हुए कोई शर्म नहीं है कि मैंने उसका हाथ अपनी हथेली में दबा लिया था। उसकी हथेली में पसीना था। मैं अपनी समस्त अनुभूति के द्वारा उस पसीने को सोख लेना, चूस लेना चाहता था।

\*

\*

\*

मैंने उन लोगो को देख लिया था। उस दिन नहीं तो फिर जब? माँ, इस चिट्ठी में दिन, तारीख महबूब मत देना। इतना याद है, जिस दिन उन लोगो को



पर बूला ने ही कहा, “चलो । और नहीं । आज नहीं आयी ।” तेज कदमों से बूला चली जा रही थी । साथ चलने में मुझे तकलीफ हो रही थी ।

आज नहीं आयी ।” बूला यह किससे कह रही थी ? शायद खुद से ही । कल आएगी । कल आऊँगी । रोज आऊँगी । जब तक मिल नहीं जाती है । इधर नहीं मिलेगी तो उधर जाऊँगी उस बुज के पास, जहाँ खुली जगह है । प्रिन्सेप घाट । वहाँ देखूँगी । एक दिन, दो दिन । नहीं मिलने पर चली जाऊँगी दक्षिण की ओर ” बूला ने थोड़ा रुक कर हाथ की उँगलियों पर कुछ हिसाब लगाया । “शनिवार कब है ? परमों या उसके बाद वाले दिन ? उस दिन और उधर की ओर जाऊँगी । सबक मुडकर जहाँ रेस का मैदान है ।”

“तुम सब पहचानती हो ?”

“तुम्हें भी सब दिखता हूँगी । मेरे साथ कुछ दिन घूमना बस । माँ के दोस्तों ने जिस तरह उन्हें सब दिखलाया है । हर शनिवार को उनको छुट्टी के मैदान में आना चाहिए ही ।”

“पर पर तुम्हें उ उतना कैसे मालूम पड़ा ?” मैं हकलाने लगा था ।

“इतना जान कैसे पायी हूँ ? बूला बालू लड़की है न । पता नहीं है ? माँ का एक दोस्त ही एक बार से आया था । वह बड़ी मजेदार घटना है । माँ तो अरिन्दम के साथ गयी हुई थी । सब देवप्रिय या पता नहीं क्या नाम है उसका, वह आया था । माँ नहीं हैं ? माँ नहीं तो बेटी ही सही । हो ही यहाँ मुझे ल आया, शबत पिलाया । रेसिंग के किनारे खड़ी करवाकर, दौड़ते हुए घोड़ों को दिखलाया ।”

घोड़ों देर बूला चुप रही फिर बोसने लगी, “खेर रेस के मैदान में ही उस दिन माँ बेटी की मुलाकात हो गयी । आपस में नज़रें टेकरायीं, जिस कहते हैं समाने-समाने की टकराहट । उसके बाद थोर एक दिन मैं खिडकी के पास खड़ी थी । अरिन्दम राय माँ की “टा टा” कहकर चला जा रहा था । खिडकी पर मुझे खड़ी देखकर एक आँख दबाकर हँसा । माँ न भी गौर किया था । वही से शुरुआत है । शायद डर गयी । मुझे रोक नहीं सकेंगी, बल्कि यूँ कहो अपने दोस्त को हाँ रोक नहीं पाएँगी । फ्राफ पहुँचा कर कब तक रोवेंगी ? उसके दोस्त सब एक से बड़ कर एक गुधिष्ठिर हैं न ? इसी तरह की दो-चार घटनाएँ ’ बूला बता रही थी, “इसी से माँ डर गयी । उसने अन्दर गुहगुहाहट पैदा हुई । बदहजमी होने से जैसा होता है ।”

“पर,” एक जगह रुक कर बूला ने घास पर पाँव रगड़ते हुए कहा, “उस तरह के जलनघोर तो सबके होते हैं । जिस तरह सुना है नि बिलाव अपने बच्चा को ही खा जाता है, पर माँ, बिल्का क्या अपने बच्चों वह माँ तो नहीं है, राक्षसी है । मेरी माँ राक्षसी है । हाँ हाँ !”



उसे पहचान नहीं पा रहा था। पहचान नहीं पा रहा था, इसीलिए मेरे जाने-पहचाने लोगों की काया के आकार-प्रकार से अनुमान करके तकलीफ पा रहा था।

माँ, तभी से मुझे किसी भी चीज़ को गलत देखने की आदत पड़ गयी थी, मालूम है तुम्हें ? तीसरी परछाईं को ठीक से समझ न पाने के कारण उस दिन बहुत ही तकलीफ हो रही थी। वे लोग एक झील के किनारे बैठे थे। पानी में लोग डूबकी लगाते हैं, पर पानी ही अंधेरे में डूबकी लगा गया था।

खिल-खिल हँसी। सुनने में इतना भद्दा लग रहा था। मूंगफली बेचने वाले एक बच्चे को उनमें से एक ने हाथ उठाकर मारने की धमकी दी। एक ठेला किसी ओर ने उठा लिया था - वह कौन था ?

मैंने पहचान लिया था। पहचानते ही मैं पसीने से नहा उठा था। ठेला उठाकर जो परछाईं उस बच्चे को खदेड़ते हुए आगे बढ़ आयी थी, उसका चेहरा देख लिया था मैंने—पहचान लिया उसे।

माँ, तुम्हें भी बहुत तकलीफ होगी। नहीं नहीं तकलीफ क्यों होगी मला ? तुम तो इस समय सारे सुख-दुःख के बाहर चली गयी हो।

\*

\*

\*

लीला मासी रह-रहकर खिलखिला कर हँस रही थी। एक बार तीसरे व्यक्ति से बोली, “जाइए न जनाब ! थोड़ी मलाई खरीद लाइए न ! देखिएगा, ज्यादा भाग बाला हुआ न हो। भाँग खाते ही मेरा सिर चकराने लगता है” इतना कहकर सिर चकराने की ज़रिया दिखाते हो, उनका चेहरा रोशनी की ओर हो गया। चेहरे पर उत्कट रंग पुता हुआ था। लीला मासी के स्टेज पर उतरने की बात थपा पक्की हो गयी है ? इसीलिए अभी से मुह रगने लगी हैं।

तीसरे आदमी के हाथ में अरिन्दम ने कुछ रख दिया। शायद रुपया-दुपया होगा। तीसरा आदमी हिलता-डुलता हुआ अंधेरे से उजाले की ओर चला गया। मैंने पहचान लिया था।

देख पाया था, उस दिन बूसा साथ में नहीं थी। शायद वह भी आयी हो, पर मुझे नहीं देखा था।

बाबू घाट में उस दिन जोरदार कीर्तन चल रहा था। ढोलक बजा कर। नहा कर दल के दल लोग लौट रहे थे। मोटे घुलघुल पुरुष और स्त्रियाँ।

(कोन-से लोग रोज गंगा स्नान करते हैं? बूसा ने उस दिन क्या तो बताया था? कहती थी, जो लोग पापी हैं वे ही। वेश्या और बदमाश। इन दो शब्दों का उच्चारण उसने किया था। मैंने विश्वास नहीं किया था। उसे प्रत्येक वस्तु को विकृत ढंग से देखने की आदत थी। इसी से विश्वास नहीं किया था।)

पर मुझे नशा-सा हो गया था। मैं रोज आता था। उन लोगों से जिन दिन मुलाकात हुई जर्दा-पान और कुल्फी के बारे में वह बहुत ज्यादा निश्चित थी, न! पता नहीं क्या सोचकर मैं उस दिन इडेन गार्डन के सामने खड़ा हो गया था। यहाँ से भी घड़ी साफ दीखती है—छह बजकर जब बीस हो गये थे कि अचानक वे लोग दीखे। मैं अपने आखिरी चीना-बादाम को तोड़कर खा नहीं सका।

देखा, टैक्सी नहीं, एक फिटन है, तुरन्त वहाँ आकर खड़ा हो गया। परछाई की तरह न जाने कौन लोग फिटन से उतरे। मैंने पहचान लिया। परछाई की तरह मैंने भी उनका पीछा किया। मैं जासूस हूँ। मैंने आसामियों को ठीक जगह पर पकड़ लिया है।

(बूसा, तुम आज कहाँ हो!)

वे लोग पैगोडा के पास से होते हुए लिसिपुल की ओर गए। झाऊ अथवा पाइन के पेड़ों की घनी छाँव में, वे परछाइयाँ भी घुलमिल गयी थी।

पहचान लिया था। एक तो सीला मासी थी और दूसरा निश्चय ही अरिंदम राय। पर तीसरा कौन था?



उसे पहचान नहीं पा रहा था। पहचान नहीं पा रहा था, इसीलिए मेरे जाने-पहचाने लोगो की काया के आकार-प्रकार से अनुमान करके तकलीफ पा रहा था।

माँ, सभी से मुझे किसी भी चीज को गमस देखने की आदत पड़ गयी थी, मालूम है तुम्हें ? तीसरी परछाई को ठीक से समझ न पाने के कारण उस दिन बहुत ही तकलीफ हो रही थी। वे लोग एक झील के किनारे बैठे थे। पानी में लोग डुबकी लगाते हैं, पर पानी ही अंधेरे में डुबकी लगा गया था।

खिल-खिल हँसी। सुनने में इतना भद्दा लग रहा था। मूँगफली बेचने वाले एक बच्चे को उनमें से एक ने हाथ उठाकर मारने की धमकी दी। एक डेला किसी ओर ने उठा लिया था - वह कौन था ?

मैंने पहचान लिया था। पहचानते ही मैं पसीन से नहा उठा था। डेला उठाकर जा परछाई उस बच्चे को खदेड़ते हुए आगे बढ़ आयी थी, उसका चेहरा देख लिया था मैंने—पहचान लिया उसे।

माँ, तुम्हें भी बहुत तकलीफ होगी। नहीं नहीं तकलीफ क्यों होगी भला ? तुम तो इस समय सारे सुख-दुःख ने बाहर चली गयी हो।

। \*

\*

\*

सीता मासी रह-रहकर छिलछिला कर हँस रही थी। एक बार तीसरे व्यक्ति से बोली, “जाइए न जनाब। थोड़ी मलाई खरीद लाइए न। देखिएगा, उशादा भाग ढाला हुआ न हो। भाँग खाते ही मेरा सिर चकराने लगता है” इतना कहकर सिर चकराने की क्रिया दिखाते हो, उनका चेहरा रोशनी की ओर हो गया। चेहरे पर उत्कट रंग पुनः हुआ था। सीता मासी के स्टेज पर उतरने की बात क्या पक्की हो गयी है ? इसीलिए अभी से मूह रगने लगी हैं।

तीसरे आदमी के हाथ में अरिंदम ने कुछ रख दिया। शायद खपा-बुपया होगा। तीसरा आदमी हिलता-डुलता हुआ अंधेरे से उजाले की ओर चला गया। मैंने पहचान लिया था।

खिलखिला कर हँसते हुए सीला मासी ने पीछे से कहा था, “जाइए जाइए दोड़कर जाइए। और फटाफट ले आइए। देर हो जाने से अरिन्दम बाबू नाराज हो जाएंगे। आपके नाटक को फिर हम सोग नहीं लेंगे।”

वह तीसरा आदमी सामने की ओर झुककर सचमुच में क्या दोड़ने लगा है? हे ईश्वर! मैं उसकी एक पूछ भी क्यों देख पा रहा हूँ। तुम्हें तो बताया है मा, मुझे इस तरह की ऊटपाग चीजें उसी समय से नज़र आने लगी थी।

सीला मासी, साड़ी को घाघरे की तरह फैला कर बैठ गयी। शायद चोर काटा देखने लगी थी।

“तुम उस बेचारे को क्यों नचा रही हो। बूढ़ा, अघपगसा कहीं का, तब से जोक की तरह चिमटा हुआ है।” अरिन्दम बोल रहा था, “पर उसने सचमुच में ही सोच लिया है कि हम सोग उसका नाटक खेलेंगे। हा। हा। हा।”

“नाटक? तुम उन्हें नाटक कहते हो? वह सब तो पालागान है, सिप जात्रा। एकदम बकवास। न जाने कितने सारे उसने सुनाए हैं उसने? एक-दो-तीन-चार। बाप रे सिर दुखने लगता है।” मुट्ठी भर घास उपाड़ते हुए सीला मासी न कहा।

“फिर भी तुम सुनती हो।”

“मजा आता है।”

“पर हम सोगों के आज के मजाक पर पानी फेर दिया। कॉमिक फीगर—यह आदमी पूरा बाफून है।”

सीला मासी ने घास चबाकर ‘धू’ किया। ठीक जिस तरह मामती करती थी।

वह तीसरा आदमी भागता चला आ रहा है। मेरी आँखें जल रही हैं। वह देखने में ठीक चाय दुकान के बेगरे की तरह लग रहा है। क्यों भला? हे भगवान! मुझे अघा कर दो। सोच रहा हूँ, साड़ी के पीछे से निकल कर उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊँ और बोलूँ, “मत जाओ, उन लोगों के पास मत जाओ। इस तरह नौकर की तरह व्यवहार क्या कर रहे हो? तुम-तुम कलाकार हो न? वे सोग तुम्हें नचा रहे हैं। वे सोग धीरे धीरे हैं, तुम मत जाओ।”

मन ही मन में ‘पिता ही परमन्तप’ के श्लोक की दोहरा रहा हूँ, और देख रहा हूँ वह तीसरा आदमी मेरे पास से गुजर कर उन लोगों के पास जाकर घुटने मोड़ कर बैठ गया। अंधेरे ने माना उसके बदन पर रोपेदार कोट पहना दिया है। अंधेरे ने उसे भातू बना दिया क्या? वह क्या अब भातू की तरह नाचने लगेगा?

भयकर दृष्टि से गुँगा बना मैं दुगडुगी की आवाज़ भी सुनने लगा हूँ।

बाफ़ी देर बाद वे सोग एक और फिटन गाड़ी पर सवार होकर चले गए, पर मैंन साफ़ साफ़ देख लिया था, उस अनुगत छाया को अपने साथ नहीं लिया। या फिर वह स्वयं नहीं गया हो।

उसके बाद वह छाया और मैं आमने-सामने । हट जाने का मोका ही नहीं मिला था । वह भयंकर रूप से चौंक गया था, जैसे भूत देख लिया हो । उसका चेहरा एकदम से सूख जाते देखा, पर कुछ कहा नहीं, भुड़की भी नहीं दी, न हाथ के इशारे से बुताया ही । पहचाने जाने का कोई भाव उसके चेहरे पर था क्या ? अचानक वह पीछे मुड़कर उल्टी दिशा की ओर जाने लगा । मैं यही से देख पा रहा हूँ ।

इस बार मैं ही उसका पीछा करता हूँ ।

इस बार हम साथ-साथ हो गए थे । ट्राम जहाँ भुड़की है, वही । हाईकोर्ट रात के समय मन्दिर की चूड़ा की तरह दिख रहा था । घाट से लेकर यहाँ तक मिथारियों की भीड़ । लोगो का आना-जाना काफी कम था, फिर भी आदत के चलते वे श्लोग, "दान कर जाइए बाबू । आपका भत्ता होगा बाबू ।" की हाक लगाए जा रहे थे ।

मुझे वे कनखी से देख रह हूँ । उस समय तक मौन थे । एक ट्राम ढग ढग आवाज के साथ से सड़क साफ करता हुआ चला आ रहा है । उन्होंने अचानक जेब में हाथ डालकर मेरी हुपेसी पर एक मोस-सी चकती रख दी । जिसे मैंने अनुभव से जाना कोई घातु था । उसी क्षण, हैंडल पकड़ कर ट्राम के पिछले दर्जे में चढ़ गए—मैं भी उनके साथ ।

मुट्टी खोलकर देखता हूँ, चबनी थी ।

हाँ ! उस समय मेरी उम्र कितनी होगी भला ! मैं बहुत परिपक्व था काइयाँ तो नहीं हो गया था तब तक । फिर भी मैंने चट्-से उस चबनी का मतलब समझ लिया था । चबनी माने मेरी जुबान बन्द रखने की मुई ।

बाबा के साथ उसी समय से ही एक समझौता हो गया । आपस की एक समझदारी । धूर्त, नि शब्द एक चुनाछिपी और भी कई बार चला । उन पर अपना एक अदृश्य अधिकार समझने लगा था । बाद में पता चला कि उसे विदेशी भाषा में ब्लैकमेल कहते हैं । मोका मिलते ही सिफ आखो-आखो मे बाते । बाद में मैं भी निर्लज्ज की तरह हाथ पैसा देता था—जिस पर कभी चबनी तो कभी अठन्नी घुपचाप घर दिया जाता ।

मिखमगे, सब मिखमगे हैं ।

उस घटना का जिऊ मैंने कभी किसी से नहीं किया । पर आज अभावस्था की रात में—कब ही तो खोदना है—ककाल अगर निकल भी आए तो क्या हज है ।

"मैं चली जाऊँगी ।" खुले आसमान के नीचे छटी बूला ने कहा ।

सकबी की जो सोढी बूढ़े की तरह हिंसती-डुसती दो सल्ले तक आयी है, वही दो सल्ले से किसी बच्चे की तरह रिडती हुई छत पर चसी गयी है । जहाँ बरखाती है और एक थोड़ा डासकर इस घर का "सेसी" सपरिवार रहता है ।

उस दिन वे लोग कोई भी नहीं थे। दरवाजे पर ताता था। कालेज के रजिस्टर में अपना नाम भी लिखवा आया। तुम्हें क्या याद है जाने के पहले और बाद में तुम्हें दो बार प्रणाम किया था ?

मन बहुत हल्का था। इसलिए सोचा थोड़ा छत पर टहल आऊँ। मुझे मालूम नहीं था कि वहाँ बूला होगी।

आज बूला का चेहरा बिल्कुल बदला हुआ था। खुले दाँत, गीले। शायद थोड़ी देर पहले नहाई हो। कार्निवस पर पीठ रखकर उसने अपने बाँसों का फैला रखा था।

पास आकर देखा, बूला की आँखें भी गीली थी। शायद तुरन्त नन्हायी हो या फिर फाक की जगह साढ़ा पहनी थी। इसलिए, बूला बेहद स्निग्ध और नम्र दीख रही थी। उसके काले पाव के छम्बे ढँके हुए थे। आँख में सुरमा-उरमा भी नहीं था। शायद उसी से उसकी आँखें गहरी और ठहरी हुई दीख रही थी। छत के तुलसी के पेड़ से कुछ ताजे पत्ते तोड़ कर मैं नाच के सामने पकड़े हुए था। शायद इसी से मुझे उस समय बूला प्रणम्य तुलसी की तरह पवित्र लगी थी।

कौल-सा कालेज। क्या पढ़ना।

(आर्ट्स पढोगे ? अरे ! सच्चा हाकर ताज्जुब है ! गणित में दिमाग नहीं चलता ? पर मुझे साइंस पढ़ने वाले सबके बहुत अच्छे लगते हैं। मर्दों के लिए वही उपयुक्त है। बाद में जा सबके मेडिकल स्टूडेंट बनते हैं, गले में बूलता आता, कितने स्माट, या फिर इंजीनियरिंग—एकदम फिटफाट !)

इस तरह की कुछ मामूली किस्म की बातों में ही घूप सिमट आयी थी। सुन्दर, क्षिरक्षिर हल्दी, बूला के चेहरे पर बिखरती जा रही है। इसे ही आभा या शोभा या फिर क्या कहते हैं ? उसके चेहरे के मुहासे सब साफ होकर, चेहरा चिकना कैसे हो गया ?

“मैं चली जाऊंगी”, बूला की छाया मेरे सीने तक फैल चुकी थी। उसने बड़े उदास भाव से घोषणा करने की मुद्रा में कहा, “मैं चली जाऊंगी ?”

कहाँ बूला ? कहाँ ? पूछने की जरूरत ही नहीं पड़ी। उसने खुद ही बताया, “कहाँ, यह अभी तक सच नहीं बिया है। पर अगर वहीं जगह नहीं मिली तो किसी अनायास में।

मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। मैं बूला की ओर देखे ही जा रहा हूँ। त्रिकुल भोदू की तरह। बूला कह रही थी, “जिसने बाबा ७ हो, माँ भाग गयी हा, व वहाँ रहते हैं ? ऑरफॉनेज में—अनाथ आश्रम में। नहीं क्या ? तुम्हीं बताओ ?”

थोड़ा आगे आकर उठने मेरे कंधे पर हाथ रखा। उस स्पर्श में मुन्नरता नहीं थी, जो अन्ध दिनों में होती थी। मेरा शरीर सिहर नहीं उठा, बल्कि एक शीतल जल की छार, कन्धों से होकर कण्ठनाली में, वहाँ से होकर सीने में, फिर वहाँ से

होकर रीढ़ की हड्डी से होकर उतरन लगी। "तुम्हीं बताओ"—बूला न पहली बार 'तुम' कहा।

मैंने उसे नहीं बताया कि, मैंने सीला मायी को देखा था। उनका पता शायद मेरे बाबा को भी मालूम हो। बताया इसलिए नहीं, क्योंकि मेरा सिर शर्म से झुक जाता।

"तुम चली क्यों जाओगी बूला?" मैंने मसले हुए पत्ते को और ज्यादा रगड़ते हुए कहा, 'चली क्यों जाओगी? यहाँ तो अभी भी तुम्हारे...' यही रुक जाना पड़ा। सतीश राम नामक नगण्य एक व्यक्ति को सब जान-सुनकर 'तुम्हारे बाबा' कहने हुए हिचकिचाहट हो रही थी।

"यहाँ अब मेरी कोई जगह नहीं है।" बूला ने बहुत शान्त सयत्त, विषाद से श्रीमण्डित होकर कहा, "नीचे हम लोगो के कमरे से लोगो की आहूट नहीं मिली?"

"मिली है। कौन आए हैं?"

"उन आदमी का पत्नी। न-न पहेली नहीं बुझा रही हूँ। उसकी बीबी है, जिसे वह छोड़कर चला आया था। वही बीबी अपने किसी वहन के लड़के के साथ यहाँ आ गयी है। या फिर वह खुद ही से आया हो।"

स्वर में थोड़ा-सा भी उत्तप नहीं है। बूला कहती जा रही है, "उसका कोई दोष नहीं है। मैं तो उसे भी छोड़ गयी है। जिस किनारे का छोड़कर वह बह गया था, बीच महाघार से तेरता हुआ वही लौट गया। इसमें उसका दोष क्या है, बरना उसे झूबना पड़ता। आदमी पहले अपने को ही बचाएगा न!"

बूला सशरीर क्षमा बन गयी है। क्रमशः विस्तीर्ण होती जा रही है। उसके अपाधिब विस्तार से मेरे सामने का आकाश ढँक जाएगा।

"मैं भी अपने को सम्हालूंगी।" बूला धीरे-धीरे उच्चारण कर रही थी। सिर झुकाकर जिस तरह लोग पोथी पढ़ते हैं, उसी तरह, "हार में मानूंगी नहीं स्कूल की रॉन दी ने मुझे सहायता करने का वादा किया है। कहा है जितना बन पड़ेगा, मेरे लिए करेगी।" इतना कहकर बूला थोड़ा-सा हँस दी। हथेली भागों आदना हो, यहाँ डलते हुए दिन की धूप को प्रतिफलित देखते हुए स्वयं ही कहा, "फिकर मत करो। शायद मुझे सचमुच ही अनायास्य में न जाना पड़े। मैं खड़ी हो सकूंगी। और उस दिन" उड़ीप्त स्वर में बूला बोल पड़ी। उसके चेहरे पर धूप छाँव की परछाईं घिरक गयी। "देखना, मेरी माँ भी शायद मेरे पास लौट आए। जिस समय मेरा बहुत नाम हो जाएगा। पूरे देश में साल भर 'शो के बाद शो' करती जा रही हूँ। उस समय मुझे देखने के लिए टिकट खिड़की के सामने लम्बी लाइन होगी। अचाखच भरा हलम असम्भव तो नहीं है न! उस समय अचानक एक दिन देखूंगा, मा अदाक होकर सामने की सीट पर बैठी हुई हूँ, और तुम हाँ तुम भी दूसरी सीट पर से बार-बार सानियाँ बजा रहे हो।"



बूसा रुक गयी। हाथ उठाकर घुले हुए बासों को सपेट भर जूड़ा बना लिया। धीरे-धीरे वह अपसृत होती जा रही है, मारों अभी से ही वह एक-एक पांव फेंक कर अपने चलने की गति से ही नाचना सीध रही हो। सीढ़ी की रेलिंग बिना पकड़े ही वह नीचे उतरती जा रही है। पहले उसके पांव फिर प्रमथ जघा, पीठ, ग्रीवा, जूड़ा समेत बूसा अस्त हो गयी।

\*

\*

\*

“कुछ कहा तो नहीं जा सकता न,”—माँ ! बहुत देर तक मेरे कानों में उसके ये वाक्य गूँजते रहे। सूर्य का तूफान उठाकर जब बसावार पर्दे के पीछे चला जाता है, उस समय भी दूर से बजती चली जाती है एक झंझुन की आवाज। “मैं हार नहीं मानूंगी। मैं अपने पाव पर खड़ी होऊँगी,” शायद बूसा की यह मर्मांतक प्रतिज्ञा ही एक मात्र सत्य थी। शायद उसने सिर्फ जिंदा रहने के लिए ही अपने मन में एक दूर त दुर्बार धाशा सेजो ली थी।

और उसी छत पर, जब एक बें बाद एक पक्षी उड़े जा रहे हैं, ठीक उसी समय मुझे उस काल्पनिक अनुभूति का बोध हुआ। सब चले जा रहे हैं, सिर्फ मैं रह गया। दिन का उजाला, शाम का पसी, सड़क पर धरमुखी सोंग, ज्यों ही आते हुए दोख जाते हैं, मैं आहत अभिमान लिए सिफ देखता रह जाता हूँ। सब चले जा रहे हैं। मुझे अतिक्रम करते जा रहे हैं, जिस तरह अभी बूसा भी मुझे अतिक्रम कर गयी।

उसके बाद, उसके बाद बनाओ तो माँ ! उसने बाद क्या ? उसके बाद तुम। थोड़ी देर में ही मैं सरतराते हुए नीचे उतर आया। जो रहता है रहे, जो जाना चाहे जाए। तुम तो हो। तुम रहना।

नीचे उतरते ही तुम जब किस तरह तो बैठी हुई थी, गला फाड़ कर चिल्लाया, “मा !”

सीना बंद कर तुमने मेरी ओर देखा। जल्दा स उठकर मरी पीठ पर हाथ रखा, “डर गए थे क्या ?”

मैंने कोई जवाब नहीं दिया, तब तुमने अपना हाथ मेरे माथे, और छाती पर करा, “बुझार-बुझार तो नहीं है न ? देखू !”

कैसे समझाऊँ मा, भय नहीं ज्वर नहीं, कुछ नहीं। कितने अरसे के बाद तुम्हारे व्याकुल सासों को अपन इतने आसपास पा रहा हूँ। बिना किसी सक्रोच के तुम्हारे कंधे पर मुह रगड़ रहा हूँ।

(“हट, हट ! कुछ भी तो नहीं हुआ है। हट जा पगला !”)

तुम शरमा रही हो। अपने का छुड़ा लेना चाहती हो।

(“तुझे आज हुआ क्या है रे ?”)

सच में कुछ नहीं हुआ था। यह तो तुम सामने हो। तुम्हे देख पा रहा हूँ। छू पा रहा हूँ। अपने पूरे घ्राण, स्नेह सब बें साथ। हमेशा की तरह वही आश्रय बनकर अभी भी हो।

उस दिन स्नायुमण्डली मे अचानक एक तूफान क्यों उठा था ? उस अस्थिरता, गडमड होते पागलपन के कारण वो आज समझ पा रहा है। समझ उसी दिन लेना चाहिए था, जब तुम्हें मैंन खीच कर फश पर बैठा कर तुम्हारी गोद मे अपना चेहरा डुबो दिया था। तुम मेरे बासो मे हाथ फेरती जा रही थी, और मैं रुधे हुए गले से बार-बार पूछे जा रहा हूँ, “मा, तुम भी लीला मासी की तरह चली तो नहीं जाओगी न !”

वह भयकर आतक, अचानक ही शायद मेरे बिल्कुल अन्दर से उठकर सचेतन मन पर छा गया होगा। मैं एकदम से किसी शिशु की तरह आकुलित हो उठा था।

पर वही, आखिरी बार के लिए। इसके बाद—बाद ही, मेरा असहाय शेष, मेरा क्षमित केशोर्य मुझे छोड़कर हमेशा के लिए चला गया।

\*

\*

\*

बहुत दूर तक लुढ़कते-लुढ़कते यहाँ आकर दम ले रहा हूँ। सोच रहा हूँ, जीवन के अनेक भय छिपा रहता है, उस “छोड़ जाना” नामक आघात दर आघात के घातु से बने एक कठोर डिब्बी में।

(प्राण कहा टिका रहता है ? परीक्षा की कहानी कहती है कि डिब्बी में। वह डिब्बी किसकी किसकी मुट्ठी मे रहती है ? वह क्या जननी, प्रणयिनी अथवा घरणी—किसी न किसी नारी की मुट्ठी मे ? एक-एक उम्र मे, एक-एक जन। एक-एक समय मे एक-एक जन के पास हम लाग स्वेच्छा से उस डिब्बी को सीप देते हैं।)

भय भी कैद है एक डिब्बी मे। जो है, वह छोड़ जाएगा, भय इसी बात का है। जो कुछ है वह चला जाएगा। कुछ भी नहीं रहेगा। विभिन्न छोड़ जाने वाले छाप पर छाप मन पर लिए, मन का चेहरा भी डेड लेटर आफिस के लिफाफे जैसा हो जाता है। एक अस्वस्थ, अनिश्चयताबाध, स्नायुकेन्द्र से निर्गत होकर उर्णाजाल में मुझे आबद्ध करता जा रहा था। दादा, सुधीर मामा यह सब ता बासी नमूना थे। साजा हड्डा त देखो, लीला मासी बूसा को छोड़ गयी। बूसा छाड़ गयी यह घर—वहाँ यह मुझे पता नहीं अभी तो और भी है, छोड़ने-छुड़ाने का सिलसिला तो अभी काफी दूर तक चलेगा। उस दिन छत पर अकेले मे इस भोयण सत्य से मैं प्रचण्ड रूप से बिंध गया था। पक्षी घर सोट रहे हैं ठोक ही। पर जितने घर सोटते हैं, उतनों का ही तो देख पात हैं। बहुत से तो सोट कर नहीं जा पाते हैं। उतना को ही तो देख पात हैं। बहुत से जा सोट कर नहा जा पाते हैं, क्या किसी ने उनका भी हिसाब रखा है ?

तुम अगर न रहो। रहोगी क्या ?

इसीलिए उस दिन अवस्मात मुझमे आतक समा गया था।

केवल मनुष्य ही छोड़ जाता है, ऐसी बात तो नहीं है। छूट जाते हैं अनेक अभ्यास, शक्ति। जैसे किसी समय सोचा था, बलम पकड़ने की शक्ति भी था चुका है।

“ईश्वर ! ईश्वर !” अन्तरात्मा सलोब पर चढ़े मानव पुत्र की तरह आर्तनाद कर रहा है। “तुम भी मेरा परित्याग क्यों कर रहे हो ? मैंने कौन-सा जुर्म किया है ?”

फिर यह भी जानता है कि, छोड़ जान की अनुभूति मात्र अर्द्धसत्य है, आशिक। हम लोग भी छोड़ देते हैं। पीछे हट जाते हैं। हालाँकि सगता ऐसा है, जेस वे लोग हटते जा रहे हैं, मैं स्थिर हूँ। पर ऐसा सम्भव है क्या ? वस्तुतः विपरीत-मुखी दो गाड़ियाँ परस्पर को अतिक्रमण करती हैं।

\*

\*

\*

सीला मासी गयीं, धूसा गयी। उसके कितने दिन बाद हम लोग भी वह मकान छोड़कर चले आए ? इतना ज्यादा, कुछ महीने बाद ही, या फिर एक साल बाद ही। उस बार क्लक्त्ते में बड़ाके की ठण्ड पड़ी थी। सुबह के समय उँगली भी नहीं मुड़ती थीं। मिस्टर पर सगता था, ओस टपक गया हो। और शाम होते-ही होते पूरा शहर धुंध और धुएँ में लिपट कर सा जाता था। चूल्हे के पास बैठकर मैं और तुम हाथ सँका करते। मुझे थोड़ा बुखार और खासी भी हो गयी थी। तुम बोल रही हो, “छाती, पीठ, हथेली और तलुवे में गरम तेल की मालिश करवा ले।” गुस्सेल, सडाकी बोना बिल्लियाँ भी ठण्ड से सिकुड़ कर चूल्हे के पास ही सोई रहती थीं। सीडी के नीचे रहने वाले कुत्ते का पता ही नहीं चलता था, पता नहीं कब सा जाता था। बाबा उस समय भी बाहर होते, लीटेंगे जब क्या जाने।

चूल्हे के सामने फैसाए हुए हाथा की समेटते हुए तुम हँस पड़ती, “अब मुझसे नहीं हो पा रहा है। जोड़ो में दब है। शायद गठिया हो गया है। तेरी उमर कितनी हुई रे ?”

“तुम्ह तो मालूम है। कितना—सत्रह ?”

तुमने आख मूद कर कुछ हिसाब लगाया। फिर कहा, “नहीं सत्तरह। ठीक सोलह इस बार पूरा होगा।”

‘उमर की बात इस समय क्यों ?’

“नहीं, शरीर अब साथ नहीं दे रहा है। साथ रही हूँ, अब रप-बल सब चला जाएगा। अथर्व हो जाऊँगी, उससे पहले ही तेरी शादो कर दूँ। बता तुझे कैसी बहू चाहिए। बड़ी बड़ी सो या एकदम न हो मुडिया सी ?”

इन सब बातों से मेरे कान लाल हो जाते, जाने होने शुरू हो गए थे। नहीं कुछ और भी हागा। गले में कुछ फसने लगता। भीतर कैसा तो होता। सा शुरू शुरू में कुछ कह नहीं पा रहा था। पर बाद में जब फिर तुमने पूछा, ‘तुझे कैसी बहू पसंद है, “तो पता था कि तुम मजाक कर रही हो। इसलिए उसी लहजे में ही पस से बोल बैठा, “तुम्हारी तरह।”’



कुछ देर बाद सदर दरवाजे की कुंडी जोड़ से वज्र उठी। चारों ओर सन्नाटा था, इसलिए हमारे कमरे तक आवाज गूँज आयी थी। मैं चौंक उठा था। तुमने कान लगाकर एक बार सुना फिर कहा, "इस मकान में नहीं। शायद बगल वाले मकान में हो।"

उस समय तक कुण्डी छटखटाने की आवाज आती जा रही थी।

घिड़की खोल देते ही, सर्द हवा का एक चोका तीर की तरह आकर कमरे की दीवार और हम लोगों के चेहरे को बँध गया। सदर में आवाज होती ही जा रही थी। गदन घुमाकर घबड़ाए हुए स्वर में मैंने कहा, "इसी मकान की कुण्डी बजी है माँ।"

"पर दरवाजा तो खुला है। कुण्डी क्यों हिला रहा है?"

"शायद नया आदमी है। मालूम नहीं होगा।"

उसी समय जो आया था उसने किसी की आहट न पाकर दरवाजा ठेलने लगा। दरवाजा खुल गया और वहीं से किसी का गम्भीर कठ स्वर हवा में गूँगा हुआ चला आया। "कोई है इस घर में?"

सड़क के गैस की राशनी तिरछी होकर बाहर के गलियारे में फैली हुई थी। सिर पर शाल लपेटे एक आदमी उसी राशनी के सहारे आगे बढ़ता आ रहा था और धोले जा रहा था, 'कोन है, कोन है यहाँ?' दाढ़ा और आगे बढ़ने पर दाढ़ा का नाम भी साफ सुन पाया। वह आदमी पूछ रहा है, यह क्या उनका मकान है? 'हाँ', कहने जा रहा था, पर गले से स्वर ही नहीं फूटा।

वह सब तक बिल्कुल हम लोगों की छिड़की के नीचे आ चुका था। तुमने मुझे पीछे से धकेलते हुए कहा, "आकर भीचे देख न।"

"मैं नहीं जाऊँगा माँ। मुझे डर लग रहा है।"

"तू इतना डरपोक है।" तुमने मुझे दबी हुई आवाज में धुड़की लगायी। अवाक होकर देख रहा था, सिर पर पल्लू चढ़ चुका था। एक अपरिचित की उपस्थिति में ही सिर पर धूँघट चढ़ गया?

धुड़की खाकर, मैंने गर्दन बढ़ाकर किसी तरह कहा "हाँ यही मकान है। पर बाबा अभी तक घर नहीं लौटे हैं।"

उसे कहते सुना, “मालूम है। कुछ जरूरी खबर है। सीढ़ी बिघर है?”

चाहता नहीं था कि वह आदमी ऊपर आए। पर यह भी मालूम था कि आएगा जरूर। एक बार जब तय कर लिया है तो जरूर आएगा।

तब साधार होकर मैंने ऊपर से लासटेन हिलाते हुए कहा, “इस आर, इस ओर।”

सकड़ी के जोने से ठक-ठक की आवाज चली आ रही है। बुत बना मैं सोच रहा हूँ कमरे का दरवाजा बन्द कर दू, या नहीं। उसे जो कुछ कहना है बाहर से ही बोले, हम सुन लेंगे।

नीचे जब था, तब सिर्फ सिर पर लिपटी चादर ही दीख रही थी। ऊपर उठ कर सामने-सामने जब खड़ा हुआ, उसके दो भौंहिन आँखें देख पाया। चेहरे का अधिकांश हिस्सा ढँका हुआ था, हालाँकि उसी क्षण भूकम्प की तरह उसके दोनों हाठ हिल उठे थे।

उसके होठ हिल रहे हैं, पर अच्छी तरह समझ में नहीं आ रहा है कि वह कह क्या रहा है, शायद उसके पूरे दाँत नहीं हैं। बूढ़ा था, इसलिए। पर तुम समझ गयी थी। पीछे मुड़कर देखा, तुम्हारा चेहरा फक्क पड़ गया था। मुझे झकझोरते हुए कहा, “तेरे बाबा को शायद कुछ हो गया है। ये समझाकर बता नहीं पा रहे हैं। बोल रहे हैं कि बेहोश हो गए हैं बताइए न, कहाँ, कहाँ हैं वे।”

उस व्यक्ति ने थोड़ा हिचकिचाते हुए कहा, “आफिस में।”

“आफिस, याने थियेटर के उसी प्रेस में?”

आग-तुक ने गद्गन हिलायी। पूछताछ करने का समय नहीं था, न सोचने का ही। तुमने अपने समस्त अस्तित्व के साथ कापते हुए कहा, “तू जा। तुरत जा।”

मैं कुछ बोलू या समझू उसके पहले ही मरे ऊपर कोई भारी-सी चीज आकर गिरी। देखता हूँ, एव मोटी-सी चादर थी। मैंने तुरत जूते पहन लिए और फिर थोड़ी देर में पाता हूँ कि वह आदमी मेरे आगे-आगे और मैं उसके पीछे-पीछे चल रहा हूँ।

\*

\*

\*

जाड़े की रात में राजपथ विल्कुल सूना हो गया था। सम्मोहित की तरह न चलते रहने से मैं डर ही गया होता। ट्राम आते ही, उसके इशारे पर चढ़ गया। काफी देर बाद ट्राम के एक जगह खते ही उतर गया।

वही से एक रिक्शा लिया। “अभी भी क्या काफी दूर है?” मेरी आवाज एवदम पेट में अंदर से पूट कर निकली। उसे सुना। पर पूछ किस रहा हूँ? वह तो सिर से पाँव तक अपने का चादर में लपेटे हुए था। बढाके की ठड में उसने पोपले मूढ़ से रह रहकर ही ही हू-हू की आवाज निकल रही है। सामने काफी मोटा परदा गिराया हुआ है। वहाँ जा रहे हैं समझ में ही नहीं आ रहा।

वह अचानक वास उठा, "रोको-रोको, यही पर," और वशीभूत रिवशा ठन् की आवाज के साथ ही सचमुच ही रुक गया। चारों ओर देखता हुआ बोला, "कहाँ, यह तो पियेटर का प्रेस नहीं है। यह तो शायद कोई दूसरी जगह है?" दृढ़ता के साथ कोई बात कहने का साहस नहीं था, इसलिए शायद शब्द जोड़ दिया था।

गर्दन घुमाकर उस व्यक्ति ने कुछ कहा। पहले की तरह अस्पष्ट स्वर, पर आश्चर्य है, इस समय मैं उसकी बात थोड़ा-बहुत समझ पा रहा हूँ। उसने कहा, "नहीं, प्रेस में नहीं। तुम्हारे बाबा इसी मकान में हैं।"

कमरे में काफी तेज रोशनी थी। कमरे की पूरी फर्श, फराम से ढँकी हुई थी और कमरे में काफी लोग थे। पर मैं आते ही तुरंत उन्हें देख नहीं पाया था, क्योंकि मेरी आँखें चौंधियायी हुई थी।

चौखट पर खड़े होकर उस व्यक्ति ने मानो घोषणा की, "प्रणव बाबू का सड़का है," और उसके साथ ही मुझे ठक से कमरे के अंदर ठेल दिया।

तब उस फ़रास पर बैठे लोगों में से एक को धीरे-धीरे आगे बढ़ आते देखा गया। "प्रणव के बेटे हो तुम? अरे, आओ आओ," पर वे क्या बोल रहे थे, मैं ठीक से सुन नहीं पाया था, हालाँकि बहुत सतज और उत्फुल्ल कण्ठ स्वर था। मैं उनके चेहरे की क्रांति की ओर अपलक दृष्टि से देखे जा रहा था। दीप सुपुत्र, स्वर्णप्रभ—किसी भी व्यक्ति के इतने अप्रतिम सौंदर्य को मैंने इतनी नजदीकी से पहले कभी नहीं देखा था। वे खड़े थे। कम ऊँचाई वाली छत का सगमग छूत हुए, साथ ही बाँतो फूल की पछुड़ियों की तरह चाँदी मुरझाई हुई भी। वे आगे जा गए और मुझे दोनों हाथों से सगमग सपेटते हुए कमरे के बीचोबीच खड़ा कर दिया।

"प्रणव का सड़का, प्रणव का सड़का आया है।" वे न जानते किसे बुलाकर बोले, "बैठने को दो, बैठने को दो। इस जाजिम पर ही जगह बना दो। ओ नलिनी, ओ नीलि," उनका कण्ठस्वर काढ़े गये दूध की तरह गाढ़ा था, जो शख की तरह ध्वनित हो रहा था, और शख की तरह ही कापे भी जा रहा था। उनके झगमगाने हुए एक पैर के घक्के से एक गिलास छुड़क गया।

जिसे नलिनी ने नाम से पुकारा गया था, वह अब सामने आयी। काले पाठ वाली साड़ी, हाथ में काँच की चूड़ियाँ, सलीके से गुथे हुए बाँत। आगे आते हुए उसने उस विशालकाय व्यक्ति को हटाते हुए कहा, "आह! क्या हो रहा है सव्य-साची बाबू? देख नहीं रहे हैं, बच्चा है, धबड़ा जाएगा!"

जिस तरह नाटकी में चलते हैं, आहिस्ता-आहिस्ता पीछे हटकर वे क्षुप से एक बड़े यंत्र के ऊपर बैठ गए, जो तुरंत ही यंत्रणा से शकृत हो उठा।

ये ही सव्यसाची हैं। विख्यात अर्जुन विख्यात कालकेतु, विख्यात जहाँगीर—नाटक सिर्फ एक ही बार देखा हूँ। बाबा ने दिखलाया था—दीवारों में न जाने कितने पोस्टर दखे हैं—मैं अपलक देखे जा रहा था। मेरी अपलक दृष्टि का अनुसरण

करके वे भी मानो थोड़ा तन गए। सीना थोड़ा फैलाते हुए बोले, "सगता है पहचान गये हो। क्यों? हाँ, मैं ही सव्यसाची हूँ। मच पर हमेशा राजा, अमीर, उमराव बनता है, पर साजधर मे? केवल भिखारी है। हजारों बार मरा हूँ, मर-मर के जिया है?"

"आह, क्या हो रहा है। आपसे कहा न सव्यसाची बाबू, एक बच्चे के सामने "

"बच्चा?" छत फाड़कर उन्होंने ठहाका लगाया। मुझे अपनी झपटी हुई आँखों से परखते हुए कहा, "बच्चा, बच्चा कहा है? मजे से भूखें भी तो खींचने लगी है। नीलि। उस उम्र में ही मैं इतना पक चुका था, कि छहर-उधर एकाग्र बच्चे पैदा हो जाना असम्भव नहीं था। (हो भी गया तो बड़ी बात नहीं) कौन जाने हो भी गया हो!"

"आ" इस बार सचमुच मे तेज आवाज में जिसने छुड़की लगाई, उसका नाम नलिनो था। मेरा हाथ पकड़ कर बाहर बरांडे में ले आयी और एक बेच पर बैठा दिया। "कुछ सोचना नहीं, वे थोड़ा ऐसे ही हैं। पेट में थोड़ा जाते ही डीवा डोल हो जाते हैं।"

बाबू वहीं जाकर मैं बोल पाया, "बाबा?"

"प्रणव बाबू बगल वाले कमरे में सो रहे हैं। इस समय थोड़ा ठीक है। अचानक बेहोश हो गए थे।"

"अचानक?"

नलिनो, याने महिला ने इस प्रश्न से मानो थोड़ा अस्वस्ति बोध किया, "अचानक याने ठीक अचानक भी नहीं, मतलब यह कि उन्हें थोड़ी चोट पहुँची थी। तुम्हें बाद में बताऊँगी। सब कुछ बताऊँगी। उसी में बेहोश हो गए। नाक से खून बहुत बहा है। मैं तो डर गयी थी। कभी पहले तो ऐसा नहीं देखा है न। पर डरने वाली कोई खास बात नहीं थी। पर तुम काँप क्या रहे हो खोका? इस्स। माया तो बर्फ हो गया है। तुम्हें यहाँ ठंड लग रही है क्या? नहीं, डर वाली कोई खास बात नहीं है। डाक्टर आये थे, दवा दे गए हैं, बोल गए हैं, स्ट्रोक है, पहला स्ट्रोक। ऐसा ही होता है। शायद तुम्हारे बाबा को अल्ट प्रेशर था। डाक्टर बाबू ने बताया, खून अपने आप निकल गया, अच्छा ही हुआ, वरना खतरे वाली बात हो जाती। अब कुछ दिन तक आराम करने की जरूरत है। फिर ठीक हो जाएंगे। पर यह क्या, तुम अभी तक कानि क्यों जा रहे हो खोका? थोड़ा गरम दूध पियोगे? सा दूँ?"

सिर्फ दूध ही नहीं, उसने मुझे प्लेट में रखकर दो स देश भी लाकर लिए। दूध के गिलास में बैसी तो एक सीधी महक थी। बाला, "दवा जैसी महक है इसमें।"

शायद थोड़ा सज्जित-सी हुई वह। बोली, "कोई खास बात नहीं, बल्कि तुम्हारे लिए अच्छा ही रहेगा। बदन में फुर्ती आएगी इस ठंड में।" उसके बाद मेरे हाँठ के

किनारे दूध लगा दे, शायद इसर-उधर उसने गमछे-वमछे की टौह में देखा, फिर अपनी साड़ी के छोर से ही मेरे होंठ साफ कर दिए।

मैं सकुचाता हुआ-सा पोछे हटने की कोशिश करता हूँ, पर वह बोली, "इसमे शरमाने की क्या बात है ? तुम तो मेरे बेटे की तरह हो। माँ क्या अपने बेटे का मुँह नहीं पोछ सकती ?"

सोच कर देखो मा ! अपने साथ उसने तुम्हारी तुलना की। स्थान-काल भूल कर धीरे से सिर हिलाया, और फिर कर्कश स्वर में बोली, "आप मेरी माँ तो नहीं हैं।"

वह प्रस्तुत नहीं थी, चायद इसलिए पहले थोड़ा सा सकपकायी, पर उसके बाद धीरे-धीरे उसका चेहरा कठार हो उठा, नयुने कड़कने लग। उसके बाद पूरे गजन की अपनी आवाज में डागते हुए कहा, "मैं तुम्हारी माँ हूँ। तुम्हें कुछ भी नहीं मालूम, कुछ भी नहीं।"

कण्ठ स्वर सुनिश्चित, दृढ़ था। थोड़ी देर पहले जिस स्वर में उसने, 'आ गया हो रहा है,' कहकर विशालकाय सव्यसाची को धुटकी लगाई थी।

"आमा, आमा ! अपने बाबा से मिल ला।" चायद उसने हम दाना के बीच फैली आसहजता का तोड़ने के लिए ही कहा, और मैं उसके पीछे-पीछे एक पासतू बोर्ड का दरह जाकर मिटाए हुए कमरे की चौखट पर जाकर खड़ा हो गया।

इस कमरे की दीवार पर नीली गान्धी केनी हुई थी। बाबा सोए हुए थे। रोहनी का नीली आमा उनके बीच माँ पर केनी हुई थी। आमा को इतना सुंदर पहले नहीं देखा था।

कुछ बोलने जा रहा था, पर उसने होंठों पर उगली रटकर कहा, "शुन।" डूबचाप उनके पैर की ओर आँख गड़ाए पास जाने कमरे में चला गया।

उस कमरे में सव्यसाची और खाली गिनास दानों आसपास, एक ही साथ आ पर सुटक पड़े थे। ऐसा लगा बहुत बाले कमरे में बाबा की तरह इस समय सव्यसाची भी नद में डूबे हुए हैं। कमर पर छोटी बाधी बीनी हा जाने के कारण तब इस समय काफी निकल आया था, आ पके हुए सत्र के कारण था। कमरबज की कुल्ल-दुरास पोशाक में अब वे राजा अयरा बोर सेनापति बनते हैं। उस सत्र का था ये सारे लक्षण उभर आते हैं ?

वहाँ केना ठीक होगा कि नहीं मैं खुद टप नहीं कर पा रहा हूँ। मैं जा रहा हूँ इसलिए नतिना के मुँह की ओर ताँके जा रहा हूँ। संकेत था कि मैं ही उधर ताँके जा रहा हूँ। तब उसने खुद ही टॉपी क हजारे से निपटते हुए कहा, "यहाँ बैठा।"

कहने के तुरन्त बाद ही वह सम्मन मनी कि सव्यसाची के सम्मन में दिवसिवा रहा हूँ। हँसते हुए कहा, "दरने के सम्मन में दिवसिवा रहा हूँ।"



देख नहीं रहे हो, वह इस समय बिल्कुल दूसरा आदमी बना हुआ है। नींद में बेसुध ? कुछ नहीं बहेगा।”

सिमटा हुआ-सा मैं बैठ गया। वह उस समय भी बेमतलब ही सव्यसाची की वकालत किए जा रही थी, “यह ऐसा ही है। इतना सम्झा-बोड़ा है, पर जब जो कुछ करेगा, हृद ही कर डालेगा। सोमा से बाहर जाने के सिवा उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं किया। दरअसल अंदर से बहुत नरमदिल है न, इसलिए अपनी उस कमजोरी को छिपाने के लिए हर काम हृद से बाहर करता है।”

सच कहें तो मुझे इन बातों का मतलब रत्तो भर भी समय में नहीं आ रहा था। कुनमुना रहा हूँ, न जाने और कितनी दूर इस तरह रहना पड़ेगा। घर पर शामद तुम अभी तक बैठी हुई होगी। इतनी कड़कती ठंड में जाऊंगा भी तो कैसे ? जो अपने साथ ले आया था, वह क्या दोबारा अपने साथ जाएगा ? तरह तरह की चिंताएँ, उसके ऊपर यह अपरिचित परिवेश, फर्श पर बिछी चादर, चादर पर गितास, बगल में सव्यसाची। हम लोग के उस आधे शहर वाले मकान में जिस तरह शाम के बाद चारा आर तरह तरह के पत्नी, बीड़े-मकौड़े और सिगुरों की आवाज से मुपूरित हो उठता, उसी तरह यहाँ इस मकान में भी उसी पास आती, दूर बसी जाती हुई हँसी, हुल्लाह, तबले के बोल, सुरीली आवाज में गीत सुन पा रहा हूँ। मेरे घने हुए स्नायु, मक्खी की तरह विभिन्न शब्दों के जाल में फँसा छटकाने लगा है।

मैं क्या जाऊँगा। बाबा को छोड़ जाऊँ या ले जाऊँ, ये सारी बिस्ताएँ तो यी ही, पर सगसे जरूरी बात अभी तक नहीं जान पाया हूँ, यादा यहाँ क्या थाय थे।

पर मेरी समस्या को नलिनी ने मिटा दिया। मानों मेरे दिल की बात उसने समझ ली थी। आँख से सिर पोंछते हुए  
कितनी बातें होती जा रही हैं। नाटक  
हुआ। एबदम पूरा नाटक। अभी भी रोंग-  
बावू, तुम्हारे बाबा।”

“यह”  
मेरे उस प्रश्न,  
वह ?  
ये कहा। देख  
“यह सच क्या  
साच रहा हूँ,  
मुनामा है तो  
गयी। पर ये उते  
शिवर्ती। उन्होंने  
सव्यसाची बावू न

क्या ?” मुह  
चाँप गयी।  
“आठ  
बैठे हुए  
मेरे  
सु

। बाज जाने  
। है, पा ही  
। पद

निकाल पा रहे हैं। आज तक वे ठीक से सुन नहीं पाए हैं। यहाँ उ हे पकड़ने के लिए ही आया है। मैंने अवाक होते हुए कहा, सुनाएंगे ? यहाँ ? सकेंगे ? प्रणव बाबू ने छोटा-सा मुह बनाते हुए कहा, कब तक इहे डोए डोए सभ्यसाची बाबू के पीछे पीछे-धूमता रहूँ ? पर अब नहीं सऊ रहा हूँ। मैं वादा करता हूँ, ज्यादा समय आप लोगों का नहीं लूंगा, बस हृद से ज्यादा दो घण्टा। थोड़ा बैठ जाऊँ ? प्रणव बाबू ने इस तरह थोड़ा बैठ जाऊँ कहा कि तुम्हीं बताओ उसके बाद क्या कोई किसी को कह सकता है कि चले जाओ ?”

नसिनी की बातें लगातार सुनता जा रहा हूँ। रात गहराती जा रही है। रात गहराने के साथ ठंडी हवा भी उसनी तेज बहने लगी है। फिर भी नींद नहीं आ रही है। उस दिन कितनी देर बाद आए थे सभ्यसाची बाबू ? शाम होने के काफी देर बाद। बाबा तब तक किसी तरह चिरीरी-बिनती करके नसिनी को ही कुछेक पृष्ठ पढ़कर सुनाने लगे थे।

(‘तुम अगर थोड़ा सिफारिश कर दो नसिनी—अचानक बाबा अल्पपरिचित उस महिला को ‘तुम’ कह बैठे थे—‘तो सभ्यसाची बाबू इसे जरूर ले लेंगे। एक बार स्टेज होने की देर है, फिर तुम देखना, लोगों को कितना पसंद आएगा।’)

पढ़ना जारी हो या कि उसी समय फड़फड़ाते हुए सभ्यसाची बाबू कमरे में घुसे। बाबा, कराश पर बैठे पने पलट रहे थे। नसिनी तख्तपाख पर बैठी गाल पर हाथ धरे सुन रही थी। ठीक उसी समय जिन्होंने अचानक प्रवेश किया, उस नायक और नटोत्तम ने गदन घुमाकर कहा था, “बाहू उत्तम ! अति उत्तम !”

“उसके बाद,” नसिनी बोलती गयी, “जो कुछ हुआ। इतनी गन्दी-गंदी बातें सभ्यसाची ने थाने यह आदमी बोलता गया कि तुम्हें वह सब नहीं कह पाऊँगी। बस इतना जान लो, तुम्हारे बाबा को बहुत ठेस लगी थी, हालाँकि सभ्यसाची ने उनके बदन पर हाथ नहीं लगाया था। समझ लो नहीं लगा पाया। मैंने ही रोका था। तब उसत मुझ पर गन्दी-गन्दी गालियाँ भी बीछार थी। पुद एक ओर लुढ़क गया और बराहने लगा। उधर तुम्हारे बाबा बेहोश हो चुके थे, और साथ ही पून की धार बह चली थी। ओह ! कितना खून ! तुम्हें क्या बताऊँ, उन्हें बहुत ठेस लगी थी। हाथ से तिखे पने इधर-उधर बिखर गए थे। बात क्या है, जानते हो ? तुम्हारे बाबा प्रणवबाबू बाहर से देखने में जिद्दी लगते हैं, पर अंदर से बहुत नरम मिलते हैं। शीत रुम में ठागे में भर-भर कर न जाने कितना खुशानियाँ हम सोगा को खिलायी है। एक बार मेरे गले में मामूली खराश आ गयी थी। वे उसी समय न जाने कहाँ से एक गिलास गरम चाड़ा से आए थे। तबरीबन रोज ही थियेटर में आते थे न ! हालाँकि वे प्रेस के मैनेजर थे, उनका काम सिर्फ प्रोग्राम के पोस्टरों से सबके नामों को बड़े-बड़े हफ्तों में छापना था, फिर भी उनकी धारणा थी, उनका असली काम यह नहीं था। वे अपने को नाटककार समझते थे। उनके नाटक का मकन होगा, उन्हें क्याति मिलगी यही सोचा करते थे।”

देख नहीं रहे हो, वह इस समय बिल्कुल दूसरा आदमी उभा हुआ है। नींद में बेसुध ? कुछ नहीं बहेगा।”

सिमटा हुआ-सा मैं बैठ गया। वह उस समय भी बेमतलब ही सव्यसाची की वकालत किए जा रही थी, “यह ऐसा ही है। इतना सम्झा-चोड़ा है, पर जब जो कुछ करेगा, हद हो कर डालेगा। सीमा से बाहर जाने के सिवा उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं किया। दरअसल अंदर से बहुत नरमदिल है न, इसलिए अपनी उस कमजोरी को छिपाने के लिए हर काम हद से बाहर करता है।”

सच कहूँ तो मुझे इन बातों का मतलब रतों भर भी समय में नहीं आ रहा था। कुनमुना रहा हूँ, न जाने और कितनी देर इस तरह रहना पड़ेगा। घर पर शायद तुम अभी तक बैठी हुई होगी। इतनी बड़कती ठंड में जाऊँगी भी तो कैसे ? जो अपने साथ ले आया था, वह क्या दोबारा अपने साथ जाएगा ? तरह तरह की चिन्ताएँ, उसके ऊपर यह अपरिचित परिवेश, फर्श पर बिछी चादर, चादर पर गिन्नास, बगल में सव्यसाची। हम भोगा के उस आधे शहर वाले मकान में जिस तरह शाम के बाद चानों ओर तरह-तरह के पत्ती, कीड़े-मकौड़े और झिगुरों की आवाज से मुखरित हो उठता, उसी तरह यहाँ इस मकान में भी उसी पास आती, दूर चली जाती हुई हँसी, हुल्लड, तबले के बोल, सुरीली आवाज में गीत सुन आ रहा हूँ। मेरे घके हुए स्नायु, मक्खी की तरह विभिन्न शब्दों के जाल में फँसा छटपटाने लगा है।

मैं बब जाऊँगी। बाबा को छोड़ जाऊँ या ले जाऊँ, ये सारी चिन्ताएँ तो भी ही, पर सबसे जरूरी बात अभी तक नहीं जान पाया हूँ, बाबा यहाँ क्यों आये थे।

पर मेरी समस्या को नलिनी ने मिटा दिया। मानो मेरे दिल की बात उसने समझ ली थी। आँचल से सिर पोछते हुए कहा, “इस्। आज शाम से न जाने कितना बातें होती जा रही हैं। नाटक थियेटर में होता है, पर आज मेरे यहाँ ही हुआ। एकदम पूरा नाटक। अभी भी रागड़े खड़े हो जात हैं। पहले तो आए प्रणव बाबू, तुम्हारे बाबा।”

“यहाँ आते रहते हैं क्या ?” मुह से बात फिसल गयी और नलिनी भी मानो मेरे उस प्रश्न में छिपे अर्थ को भाँप गयी।

वह धीरे-धीरे बोलने लगी, “आते हैं यह तो मैंने नहीं कहा, बल्कि आए थे ये कहा। दखती हैं व तख्तपाश पर बैठे हुए थे। हाथ में बागजो का पुलिन्दा। पूछा, “यह सब क्या है ? प्रणव बाबू ने कहा, मेरे लिखे नाटक हैं। आज ता स्टेज बंद है, साफ रहा हूँ, सव्यसाची बाबू को थोड़ा सुना आऊँ। मैंने कहा, सव्यसाची बाबू को सुनाना है तो यहाँ क्यों ? दरअसल मैं तुम्हारे बाबा के ऊपर थोड़ा नाराज ही हो गयी। पर वे उसे ताड नहीं पाए थे। अगर ताड जाते तो बात इतनी दूर तक नहीं बिचती। उन्होंने हँसते हुए कहा, आएंगे, जरूर आएंगे। पता करने ही आ रहा हूँ। सव्यसाची बाबू ने मुझे बचन दिया है, मेरे नाटक का मंचन करेंगे, पर समय नहीं

निकास पा रहे हैं। आज तक वे ठीक से सुन नहीं पाए हैं। यहाँ उन्हें पकड़ने के लिए ही आया है। मैंने अवाक होते हुए कहा, सुनाएँगे ? यहाँ ? सर्वे ? प्रणव बाबू ने छोटा-सा मुह बनाते हुए कहा, कब तक इधे डोए डोए सब्यसाची बाबू के पीछे पीछे-धूमता रहें ? पर अब नहीं सक रहा हूँ। मैं वादा करता हूँ, ज्यादा समय आप लोगो का नहीं लूंगा, बस हृद से ज्यादा दो घण्टा। थोड़ा बैठ जाऊँ ? प्रणव बाबू ने इस तरह थोड़ा बैठ जाऊँ कहा कि तुम्हीं बताओ उसके बाद क्या कोई किसी को कह सकता है कि चले जाओ ?”

नलिनी की बातें लगातार सुनता जा रहा हूँ। रात गहराती जा रही है। रात गहराने के साथ ठंडी हवा भी उसनी तेज बहने लगी है। फिर भी नींद नहीं आ रही है। उस दिन कितनी देर बाद आए ये सब्यसाची बाबू ? शाम होने के काफी देर बाद। बाबा तब तक किसी तरह चिरीरी-बिनती करके नलिनी को ही कुछेक पृष्ठ पढ़कर सुनाने लगे थे।

(‘तुम अगर थोड़ा सिफारिश कर दो नलिनी—अचानक बाबा अल्पपरिचित उस महिला को ‘तुम’ कह बैठे थे—‘तो सब्यसाची बाबू इसे जरूर ले लेंगे। एक बार स्टेज होने की देर है, फिर तुम देखना, लोगो को कितना पसंद आएगा।’)

पढ़ना जारी ही था कि उसी समय फड़फड़ाते हुए सब्यसाची बाबू कमरे में घुसे। बाबा, कराश पर बैठे पन्ने पलट रहे थे। नलिनी तबतपाश पर बैठी गाल पर हाथ घरे सुन रही थी। ठीक उसी समय जिन्होंने अचानक प्रवेश किया, उस नायक और नटोत्तम ने गर्दन घुमाकर कहा था, “बाह उत्तम ! अति उत्तम !”

“उसके बाद,” नलिनी बोलती गयी, “जो कुछ हुआ। इतनी गंदी-गंदी बातें सब्यसाची ने याने यह आदमी बोलता गया कि तुम्हें वह सब नहीं कह पाऊँगी। बस इतना जानो, तुम्हारे बाबा को बहुत ठेस लगी थी, हालाँकि सब्यसाची ने उनके बदन पर हाथ नहीं लगाया था। समझ लो नहीं लगा पाया। मैंने ही रोका था। तब उसने मुझ पर गंदी-गंदी गालियों की बोछार की। खुद एक ओर लुढ़क गया और कराहने लगा। उधर तुम्हारे बाबा बेहोश हो चुके थे, और साथ ही पून की धार बह बली थी। ओह ! कितना खून ! तुम्हें क्या बताऊँ, उन्हें बहुत ठेस लगी थी। हाथ से मिथे पन्ने इधर-उधर बिखर गए थे। बात क्या है, जानत हो ? तुम्हारे बाबा प्राणबाबू बाहर से देखने में जिंदो लगते हैं, पर अंदर से बहुत नरम दिल हैं। शीत कम में ठोंगे में भर-भर कर न जाने कितनी घुबानियाँ हम लोगो को खिलायी है। एक बार मरे गले में मामूली घराश आ गयी थी। वे उसी समय न जाने कहाँ से एक गिलास गरम काढ़ा ले आए थे। तकरीबन रोज ही मियेटर में ताप पतन ! हालाँकि वे प्रेस के मनेजर थे, उनका काम सिर्फ प्रोग्राम के पोस्टरों में सबके नामों को बड़े-बड़े हर्फों में छापना था, फिर भी उनकी धारणा थी, उनका असली काम वह नहीं था। वे अपने को नाटककार समझते थे। उनके नाटक का मचन होगा, उन्हें क्याति मिलगी यही सोचा करते थे।”

(माँ, यह बीमारी बाबा के अकेले की नहीं थी। हम लोग जो कुछ करते हैं, जिसमें हैं, वह हमारे लिए नहीं है। हमारी सार्यकता कहीं और है—और इसी चिन्ता में लगातार जर्जर होते रहते हैं, छटफटाते रहते हैं।)

“मैं उनकी तकलीफ को समझती थी, समझती हूँ।” नलिनी बात रही थी। बोलते-बोलते उसका स्वर कोमल हो आया था, “खैर, तुम लोग फिर करन लगोगे, इसलिए तुम्हें बुझवा भेजा था। देख तो लिए हो, माँ को बता देना। वे इस समय ठीक ही हैं। कल सुबह कम्पनी की गाड़ी से बिजवा दूंगी। तुम तुम अब जाओ।”

मुझे इतस्ततः करते देख बोली, “जाओगे ही जाओगे। जाना ही पड़ेगा। महा नहीं रहना चाहिए। समझ नहीं रहे हो क्या?” सव्यसाची की आर उगली के इशारे से दिखाती हुई बोली, “महा सारी रात कोई नहीं रहता है न। वे लोग भी नहीं। सब चले जाते हैं, सिर्फ मैं रहती हूँ। आज की रात की बात और है दो कमरों में दोनों जने सोए रहेंगे, सिर्फ मैं अकेली रहूँगी। मुझे जागे रहना पड़ेगा, और मेरी हासत देख रहे हों न।” कहकर नलिनी फीकी हँसी, हँसी। मेरे साथ नीचे उतर आई इशारे से जिम टेक्सी की बुलाई, उसने गाते ही मैं समझ गया कि उसका ड्राइवर नलिनी का जाना पहचाना था। उसने फिर स मेरी ओर देखते हुए कहा, “बचपन की बात नहीं। यह तुम्हें ठीक से पहुँचा देगा।” अंतिम बार के लिए उसने मेरा स्पर्श किया। हाथ को थोड़ा दबाया, “कल सुबह प्रणव बाबू को भेज दूंगी। और वे यहाँ पर हैं, यह अपनी माँ से मत कहना। कहना, चियेटर के एक कमरे में हैं।”

माँ, कुछ दिन तक तो तुम वैसा ही सोचती रही, क्योंकि मैंने तुमसे पूछ कहा था, जान बूझकर। बाबा दूसरे दिन ही आ गए थे। चियेटर की गाड़ी में। पकड़ कर ऊपर साए गए। लाकर सीधे बिस्तर पर लिटा दिए गए। होश आ गया था। चेहरा और सफेद पड़ चुका था। होठ रूढ़-रूढ़कर काँप जाते। बीच-बीच में जवड़ा, ठुहड़ी टेढ़ी-मेढ़ी होकर विवृत होती रही। डाक्टर आते रहे।

फिर एक दिन बाबा ने बिस्तर भी छोड़ा। इस बीच कई महीन निकल चुके थे। मुझे एक दिन कमजोर आवाज में काफी और बेन्सिस लाने के लिए कहा।

तकिए के ऊपर काफी रख बाबा गर्दन झुकाए सिंघते जा रहे थे। लगातार नहीं, एक एक बार। कमरे के इधर स देख पा रहा हूँ, उनकी उँगलियाँ बाँप रही हैं।

तुम कमरे में आती। थोड़ा झुककर लिखा हुआ शायद देखने लगी थी, पर बाबा ने जल्दी से काफी बंद कर दी। थोड़ा हँसकर तुमने कहा था “बस-बस छुपाने की जरूरत नहीं। मुझे देखने का समय कहाँ है? नाटक सिंघ रहे हो? फिर से?”

उस रक्तपात के बाद से बाबा की आँखें हमेशा सफेद बोखने लगी थी। जो हँसी वे हँसते वह भी फीकी होती।

"नाटक ? नहीं, अनु नाटक नहीं। वह सब अब और नहीं लिखूंगा। वस ऐसे ही थोड़ा झुंघर-उधर की लिख रहा हूँ।"

"बैठो। पहले तुम्हारी दवा ले आऊँ।" इतना कहकर तुम चली गयी। बाद में हाथ बैद्य की दवा ले आयी। बीमारी के बाद बाबा के साथ तुम्हारा सम्पर्क सहज ही आया था, पहले वाली जड़ता और कठोरता नहीं रही।

पर वह कॉपी ? उस कॉपी ने ही एक दिन सब कुछ गड़बड़ा दिया। बाबा, पता नहीं क्यों इतने सापरवाह थे ? रोत्र उस कॉपी को कहीं छुपाकर रखा करत थे, किसी को पता भी नहीं चलता था। एक दिन शायद भूल गए। बैद्य जी ने कहे अनुसार बाबा सुबह पार्क में टहलने गये थे।

मस पर से मुँह धोकर आने के बाद देखता हूँ झूठा उस समय तक जलाया नहीं गया था। तुम छिड़की के किनारे खड़ी-खड़ी खुली हुई कापी के प ने पठ रही हो।

मेरी साँस तुम्हारे कंधे पर पड़ते ही तुमने चौंककर फौरन आँचल से कॉपी ढँक ली। ठीक उसी तरह जिस तरह बाबा ने छिपा ली थी। तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ। उस समय तक मैं समझ नहीं पाया था कि उस कॉपी में ऐसा क्या लिखा था, जिसके लिए तुम दोनों ने ही उसे छुपाना चाहा ?



उस घाते में क्या था, यह मुझे बाद में मासूम पड़ा था। एक दिन बहुत दूढ़ने पर मुझे वह घाता मिल गया।

नहीं कोई नाटक नहीं। डायरी लिखी हुई थी। दो-चार साइन पढ़ते ही पता चल गया कि बाबा ने उस दिन की घटना लिख रखी है।

(उस समय समझ क्यों नहीं सका। बाबा को क्या अन्दर पड़ी थी, वह सब लिख रखने की। पर आज सब कुछ समझ पा रहा हूँ। अपने पास साफ रहने के लिए, हर व्यक्ति को कभी न कभी यह काम करना पड़ता है। करना ही पड़ता है, बरना मैं भी क्यों सब कुछ लिख कर मन हल्का कर सेना चाह रहा हूँ? हम लोगो के अन्दर दो अलग-अलग हिस्से के मनुष्य रहते हैं। एक ज़न धरपाय करता है, करता ही जाता है और दूसरा स्वयं को गिरफ्तार करवाने के लिए खुद ही अन्दर ही अन्दर कोशिश करता जाता है। हम लोग दो विपरीत व्यक्तित्व का साथ ही हैं।)

डायरी की भाषा कुछ इस प्रकार की थी —

सब्यसाची ने मुझे गलत समझा सोचा होगा, शायद नलिनी के यहाँ मैं भी कुर्ता करने गया हूँ। वे सड़खड़ा रहे थे। आँखें सुखी। देखते ही समझ गया कि कुछ ज्यादा ही थका पर वहाँ आए थे, मुझे देखते ही उनकी सास आँखों से माना बिगारी फूटने लगी। “स्साला!” परपराते हुए, ब्रौघ अथवा नशे में काँपते हुए उठते जिस भड़े सम्बोधन से शुरू किया, उसे कसम से उतारने में भी तबलीफ हो रही है। उन्होंने कहा, “स्साला! और की तरह यहाँ चक्कर लगाने लगा है। कृता होकर, धी के वर्तन में मूढ़ मारना चाहता है?”

न तो उस समय उनका दिमाग दुस्त था, न जुवान ही। सुरचित, कोमल छन्दों से परिपूर्ण जिन संलापो को नित्य उनके मुँह से सुनता हूँ, उससे इस भाषा का कहीं कोई मेल नहीं था। उनसे कहना चाहता, नलिनी के पास मैं नहीं आया हूँ, बल्कि उनसे ही मिलने आया हूँ। अपने खून से लिखी हुई सारी रचनाएँ उन्हें दिखाना चाहता हूँ। यही मेरी अंतिम चेष्टा होगी। भरी समस्त साधना सार्थक हो उठेगी। काँटे की तरह जा लगातार उभ रहा है, वह फूल की तरह सौरभ से परिपूर्ण हो जाएगा। जिससे

हर कोई आगोदित हो उठेगा—आगोदित होऊँगा मैं भी। अनेकों रात के सारे सपने सपन होंगे—यह मेरी अन्तिम बोधिश है।

यह सब कहना चाहा था, पर नहीं कह सका। पलभर में मेरी आँखों के सामने ही माना एक बहुत ही जाना पठाना सिंह, मानों एक क्षुद्रकाय पर निष्ठुर और फिमलने वाला साँप बनता जा रहा है। मैंने करुण दृष्टि से नलिनी की ओर देखा कि वह वृष्ट बोले। नलिनी मुन्दरी है, स्वभाव से मधुरा। धृति चाहे कुछ भी क्या न हो उसका मन बहुत ऊँचा है, ऊपर से वह दयामयी भी है। नलिनी समझ गयी। सव्यसाची से कहा, “जा कुछ सोच रहे हो, वह बात नहीं है। वे किसी दूसरे कारणों से नहीं आए हैं।” आए हैं अपने नाटकों के बारे में तुमसे बात करने। उसके बारे में तुमसे अंतिम रूप से बात करना चाहते हैं।”

सुनते ही सव्यसाची ठहाका मार कर हँसन लगा। नाक और होठा की सहायता से उसके मुँह में प्रमत्त और अदभुत एक शब्द निकल आया, फु-उ-उ-उ। अंतिम शब्द के साथ एक हिलचली भी थी। उसके बाद—अर्थहीन उस शब्द के बाद—उसने जो कुछ कहा उसका मतलब यह रहा, फु-उ-उ-उ। तेरा वह नाटक कौन भला खेलेगा? अहम्मक।

(सव्यसाची ने सचमुच में मुझे अहम्मक कहा।)

मनुष्य अपना चेहरा स्वयं नहीं देख पाता है। तुम्हारा वह कूड़ा क्या चीज बनी है, वह तुम कैसे समझोगे? मैं तो तुम्हें थोड़ा खेला रहा था। हर समय पीछे-पीछे घूमते रहते थे। अपना छोटा-मोटा काम तुमसे करवा लिया करता था। मुझमें थोड़ी दया ममता भी है, इसलिए अब तक तुमसे साफ-साफ कुछ कहा नहीं, आज इटकर शराब पी है। यह देख मेरे खट्टे इकार। तेरा असली चेहरा मेरे पास साफ हो गया है, इसलिए सुन। बिल्कुल बेघटक तुम्हें बता रहा हूँ—कोई आशा नहीं है। तेरी वह रचना, यू। आदमी तो दूर की बात रही, साब, सियारी को भी वे सब पाट जंचेगा नहीं।”

बोलते-बोलते उहान फिर से एक हिलचली ली और उसके साथ ही मेरी ओर एक गिलास फेंका। उनका ठहका, निर्मम से निर्ममतर होकर मुझे आघात करता रहा। आघात। वह तो शरीर पर लगा ही, पर उससे भी प्रचण्डतर भाव से शरीर से भी गम्भीरतर किसी स्तर पर जाकर लगा।

क्या घटित हुआ? उसके बाद से क्या घटी लगा, कुछ पता नहीं। एक बार महसूस हुआ था। मेरा सिर घूम रहा है—यह पता था कि पृथ्वी घूमती है, पर पृथ्वी को स्थिर रखकर पूरा आकाश ही घूम गया। ऊपर से सीने में बहुत तकलीफ होने लगी—और? और उसी समय एक छिलका, मोह का छिलका मानो उतर गया। ऐसा लगा मैं मुक्त हो गया हूँ। और?

सब कुछ याद नहीं है। मैं पुरुष हूँ, पर सब कुछ लिखने में हज़ार क्या है? एक



बार ऐसा लगा जैसे मैं रो रहा हूँ। आँख का पानी पोछन की गरज से हाथ उठाने गया, वह हाथ नाक से टकरा गया। गोले हाथ को सामने फैलाते ही देखता हूँ। आँख का पानी कहाँ है यह तो खून है।

खून बह रहा था। साँस छुटने लगी थी। पाव के नीचे से जमीन खिसकने लगी थी। हाथ के पास ऐसा कुछ भी नहीं था, जिसका सहारा लूँ। मैं डर गया। दोवार बगेरह सब गायब होने लगे क्या। खून झरता जा रहा था। उसने लिए कोई दुख नहीं, बल्कि हल्का हो रहा था। पर उसके बाद कुछ याद नहीं। सिर्फ गिरने के पहले ऐसा लगा, किसी ने मेरा सिर अपनी गोद में उठा लिया है।

बाद में जान पाया, नलिनो ने ही मुझे सहारा दिया था। पर आज मैं भुक्त-स्वस्थ हूँ। कम से कम एक ओर से। आज मुझमें तनिक भी मोह नहीं है, इसलिए लिख सका, खोल उतर गया है।

माँ, तुमने जल्दी से उस खाते को छुपा दिया था। मुझे आते देख तुम्हारा चेहरा भय अथवा लज्जा से विवर्ण हो गया था।

तुम्हें पता नहीं है, बाद में मैंने भी छुपा कर कुछ पस्तियाँ पढी थी। उसके बाद न जाने कैसे, किस तरह शायद मकान बदलने की हडबडी में वे सारे कागज भरी हिफाजत में ही आ गए थे। बाबा उस समय अवश से अधिकतर अपने कमरे में ही अंतरीन। उन कागजों को उहोने दूढ़ा था, मिला नहीं। नहीं मिला, यह भी किसी से बता नहीं पाए। दूढ़ना और न पाना, दानो ही गोपन रहा।

बीच-बीच में देखता, वे अपना सन्दूक अँधेरे में टटोल रहे हैं। छुटने टके, उठेंगे बैठकर छुपा कर। अपनी चीज भी कभी-कभी किसी को क्या खौर की दूढ़ना पड़ता है ?

पर बाद के दिनों में, बाबा ने दूढ़ना बदल कर दिया था। शायद उनसे बारे में सारी चिन्ताएँ मिट चुकी थी। और आज ? आज तो सब कुछ साफ है—एकदम। आज तो बाबा नहीं हैं, तुम भी नहीं हो। उनकी कीमत किससे परख सकूंगा, इसलिए कुछ मूल्यहीन दस्तावेज मेरे पास होते हुए भी वे खो चुके हैं।

पर उस दिन बात आसानी से खत्म नहीं हुई थी।

डाक्टर से अनुमति लेकर उस दिन बाबा बाहर निकले थे। पास ही किसी पाव वार्क में कही गए होंगे। मैं पढ़ रहा था। तुम एक्जम से सामने आकर खड़ी हो गयीं। इधर इस तरह काम छाड़कर, मेरे पास इस तरह नहीं आया करती थीं। थोड़ा चौंक गया था। धुशी भी हुई थी। किताब का पन्ना मोड़कर, बहुत दिनों के बाद, प्रगाढ़ स्वर में बोला, “माँ !” हाथ बढ़ा दिया।

पर देखा, तुम वापस जा रही हो। मेरा प्रत्याखात हाथ वापस आ गया। “तुन उसे देखा है ?” यह स्वर बिडकी के बाहर से नहीं आया था, इसलिए तुम्हारा ही था।

“जिसे ?” मैं सिर्फ एक बार हाथ उठाकर बोस सका।

मेरे पास, मेरे लिए तुम नहीं आयी थी। कुछ और जानने की गरज से आयी थी। मन में अभिमान हुआ, इसलिए उदास स्वर में सिर्फ पूछा था, “किसकी बात कर रही हो?”

काफी देर तक तुम खामोश रहों, सिर्फ बात करने के प्रयास में तुम्हारी आँखों और होठों के कानों पर तरह-तरह की रेखाएँ बनकर मिटती जा रही थीं। बाद में बहुत धीमे स्वर में तुमने कहा था, “तेरे बाबा, याने पहली बार जिस दिन बेहोश हो गए थे।”

“ओह ! उस दिन !” पुरानी बात थी, इसलिए मानो कोई खास बात न हो, इस सहजे में मैं हल्के स्वर में कहा, “वह तो पियेटर में हुआ। वहाँ तो बहुत से लोग थे। तुम किसकी बात कर रही हो?”

माक देखा था मा, तुम्हारी पसलें काँप रही हैं। तुम्हारा एक हाथ उठ रहा है। मुझे मारोगी ? नहीं मारा नहीं। इतने बड़े इस उम्र के लड़के पर झट से हाथ उठाया नहीं जाता क्योंकि पहले ही बताया है, माँ-बाप से विरुद्ध, उम्र ही उस समय लड़कों का दास्त, सहाय या बाँझीगाई होता है। यरना, तुम मुझे मारती। जानबूझ कर मैं बन रहा हूँ। झूठ बोला हूँ इसके लिए। पर तुम्हारी आँखों में जो भाव देखा मैं। उससे शायद मार भी कम अपमानजनक होता। अपलक मेरी ओर देखते हुए मानो आँखों के समस्त धिक्कार से मेरे झूठ को जला कर खाक कर देना चाह रही हो। ‘छि-छि’, वे आँखें कह रही थी, “छि-छि, तेरे बाबा उस दिन पियेटर में बेहोश नहीं हुए थे। “मुझे पता है।”

“मुझे पता है”, तुम्हें कहते हुए सुना। “कहाँ थे, कहाँ गए थे वे।” स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा था, “तूने उसे देखा है?”

“देखा है माँ।”

“कैसी है देखने में ? बता न। बता न नसिनी देखने में कैसी है?”

मैं निश्चर रहा।

तुम्हारा पर्येक प्रश्न मुझे बिकोटी की तरह काटे जा रहा था। मुझे चुपचाप देख तुम सगातार बोले जा रही हो। मुझ से कबुलवाना चाह रही थी, “बता न, बता न। वह देखने में कैसी है ? खूब हँसती है वह ? दाँत में मिस्सी सगाती है?”

“सगाती है।” बेघडक बोल गया।

(नसिनी ने मुझे गरम दूध पिलाया था।)

“बदन का रंग कैसा है ? मेरी तरह ?”

“तुम्हारे जैसा रंग कितनों के पास है माँ। तुम्हारे सामने तो वह कलूटी है।”

(नसिनी ने अपने आँचल से मेरा गूँह पोंछ दिया था।)

“बकवास मत कर ।’ तुमने फुँफुंकारा, “हूम ! सबको पहचानती हूँ, सब के सब एक जात, एक घातु के बने हुए हों ।”

(मैं और बाबा, एक जात, एक घातु के हैं, तुम्हें ठीक मालूम है माँ ?)

“सच्च कह रहा है । बहुत फासी है । थुलथुल मोटी, भदी ।” इस बार और भी ज्यादा जोरदार स्वर में बोला ।

(मुझे नीचे तक नलिनी छोड़ने आयी थी । स्नेह और ममता से मेरे हाथ पकड़े थे—हे ईश्वर, इस वृत्तधनता के पाप के कारण मुझे थोड़ा हो जाए । पर नहीं, वह सब भयंकर सजा मुझे क्यों मिले ? अपनी दुखिनी माँ का मान और मन रखने के लिए बनाकर बोलना पड़ रहा है ईश्वर ! तुम्हें क्या मालूम नहीं ?)

“उसकी जुबान बहुत गंभी है न ?”

“भदी है माँ ! तुम्हें बता ही नहीं सकता, कितनी भदी है । बिल्कुल बहया किस्म की है ।”

‘तेरे बाबा तेरे बाबा के साथ वह कर क्या रही थी ? किस तरह देख रही थी ?’ मानो अन्तिम सकोच के लेशमात्र को भी परे हटाकर अचानक तुमने शीघ्रता से पूछा था ।

“वह सब तुम्हें बता नहीं सकूंगा याने उस तरह की औरतों जो कुछ करती हैं, वही और क्या ।”

(बाबा के बेहोश होत ही नलिनी ने तुरंत उनका सिर अपनी गोद में उठा लिया था ।)

इस बार तुम कुछ देर तक चुप रही । पीड़ा के कारण तुम्हारा चेहरा नीला पड़ता जा रहा है । मैं साफ देख पा रहा हूँ । मैं अपनी ओर से भरसक तुम्हें सात्वना दिए जा रहा हूँ ।

“तुम अब तक कुछ बताया नहीं । सब छुपा गया ।’ काफी देर बाद तुमने धीम स्वर में कहा ।

“बताया नहीं जा सकता है, बताना उचित भी नहीं है । लड़का होकर किस तरह बताओ तुम ही बताओ ।”

“ठीक कहते हो ।” मेरे सिर पर तुमने एक हाथ रखा । जिस हाथ को थोड़ी देर पहले ही मारने के लिए उठाया था । “अब तो तू बहुत बड़ा हो गया है ।”

“बहुत बड़ा नहीं माँ ।” थोड़ा अवगत भाव से बोला, “थोड़ा बड़ा कह सकती हो । अब मैं थोड़ा-बहुत समझने लगा हूँ ।”

‘जो कुछ समझो, अब से मुझे बता दिया कर ।’ यह कैसी प्रत्याशा है ? यह कैसा आदेश है ? बड़े होने की स्वीकृति है यह ? यह क्या बड़े होने का मूल्य है ?

कद में उनसे लम्बा हा थुका हूँ, यह तो नाप कर देख लिया । उम्र में भी पहली बार अपने को तुम्हारे समान पाया ।

माँ और बेटे के बीच थुका-छिपी और व्यवधान पहली बार मिट गया ।

फिर भी एक अपराध भाव मेरे मन में रह ही गया। तुम्हें थोड़ा-सा स्वस्ति देने के लिए, तुम्हारे बराबर होने के लिए मैंने किसके प्रति अयाय किया? वह कौन है? बाबा के दूट जाने के क्षणों में अचानक ही जो कल्पनामयी हो गयी थी, दूध पिला कर मेरा मुह पोछा था, उसका स्मरण कर मन हाहाकार कर उठा। उसने कोई अयाय नहीं किया था, फिर भी मैं उसका अपमान किया। उस अपमान की कोई क्षमा नहीं है, फिर भी उससे क्षमा चाहता हूँ।

यहाँ तक लिखना आसान रहा। पर माँ इसके बाद तुमसे भी क्षमा माँग लूंगा। तुम्हें भी उस दिन छोड़ा दिया था। मुह से चाहे जो कुछ भी बोलू, मन ही मन में तो जानता हूँ कि मैं विश्वस्त नहीं रह पाया था। मन ही मन में उस नत्तिनी के प्रति भी श्रद्धा, अनुराग, कृतज्ञता मिला पर, एक तरह का आकर्षण महसूस कर रहा था। मा, तुम्हारे उस प्रचण्ड संशय-संदेह, यत्रणा के उस क्षण में भी मैं तुम्हारा साथी नहीं बन पाया। बराबर ही तुम अवेली रही, उस समय भी अवेली ही रह गयी।

मैं निर्विवेक, उस दिन एक ही साथ तुम दोनों को ठगा था।

इसके बाद, इसके बाद माँ, इस पत्र का सूत्र कहाँ छिपकूँ। घटनाओं का वर्णन तो इस रचना का लक्ष्य नहीं था, बल्कि बाह्य या कुछ उन्मोचन और विश्लेषण ही। कुछ मूल्यों, बोध, विश्वास, सम्पत्ति और धारणा के बदल जाने का विवरण दिया जाए।

\*

\*

\*

पता नहीं क्यों, उस बार जाड़े में दिन मानो जितनी जल्दी सिमट आने लगा था, उतना ही लगने लगा कि हम तीन जनों को लेकर जो छोटा-सा जीवन है, उसका भी एक अध्याय धीरे-धीरे सिमटता जा रहा है। अचानक ही शायद कहीं समाप्त हो जाये।

महसूस कर रहा था, हालाँकि नियति बहुत खामोशी के साथ अपना काम करती है, फिर भी हमेशा से देखता आ रहा हूँ, भविष्य के ऊपर वर्तमान की परछाई पड़ती है। न जाने कौन आकर मन के अन्दर बैठ जाता है, जो पहले से ही सब कुछ बता जाता है।

हालाँकि बाहर से कोई सक्षण, जातक के चिह्न का आभास मात्र भी नहीं था। शायद सब कुछ स्नायुओं की कारस्तानी हो। बरना, बाहर से तो सब कुछ सहज, स्वामाविक ही चल रहा था। बाबा फिर से धाम पर आने लगे थे। मेरा कालेज चम रहा था। तुम्हारे घर गृहस्थी भी। हाथ थोड़ा तंग भी रहने लगा था। इन कुछ महीनों में बाबा ठीक से काम पर नहीं जा सके थे। पैसा भी ठीक से नहीं आ पा रहा था। ऊपर से डाक्टर दवा, और सारे खर्चे।

और माँ, उससे भी ज्यादा चौकाती हो तुम, जब कहती हो, "मैं जाऊँगी। उसे मुझे दिखाओगे?"

चचित्ता बाबा भी होते हैं, पर शायद उन्हें ज़िद चढ़ जाती है। मला वे क्यों हार मानें। गम्भीर स्वर में उन्हें कहते हुए सुनता हूँ, "जाओगी? उसे देखोगी? उतना साहस तुममें है?"

"दिखाने का साहस तुममें है तो?" यह तुम्हारा कठ स्वर था। उसके साथ ही वही तेजघार वाली हँसी, फिर से चमक गयी।

यह कैसा नाटक है? जीवन में ऐसा नाटक न पड़ा है, न लिखा है। जीवन के बिल्कुल सामने खड़े होकर देख रहा था न, इसलिये उस समय समझ नहीं पा रहा था कि, उस दृश्य का विस्तार यथाथ है और कितनी कल्पना। यहाँ तक कि जब हम सीनो एक धाडागाढी पर बैठकर चले जा रहे थे, उस समय भी समझने का समझने के बीच मैं भूले जा रहा था।

बाबा ने अचानक कहा, "उतरो यही।" तुम उतर गयी। उस समय भी तुम्हारा सिर से पाँव तक ढका हुआ था। सिर्फ़ दोनो पाँव के चप्पल के ऊपर आसता रहे पाँव दोख रहे थे।

नलिनी पात के कमरे में थी। जिस कमरे में बाबा को सोये हुये देखा था। उसी कमरे में दीवार पर एक चित्र सिन्दूर से अंकित मामलिक चिह्न। पहला सलाप बाबा का ही था। उँगली उठाकर बोले, "वह देखो।"

चौक कर नलिनी ने पीछे मुड़कर देखा। फिर हकबकाते हुए कहा, "अरे। आप लोग। आ। व।" उसी समय उसने बाबा के पीछे तुम्हें देखा था न। पर उसने बैठने के लिये तुम्हें नहीं कहा। स्वयं ही उठकर आगे बढ़ आयी। धीरे-धीरे। उसके पाँव डगमगा रहे थे। उसे उसने छुपाने की छनिक भी कोशिश नहीं की। फिर गाल पर हाथ रखकर, हम सबको बारी-बारी से देखने लगी। उसके बाद मेरी आँखें देखते हुए कहा, "बेटे। तुम थोड़ा बाहर जाओ तो। वहाँ जाकर बैठो।"

आदेश अमाय करने का साहस नहीं हुआ।

तुम तो वही डयोड़ी पर पत्थर की तरह खड़ी थी। तुम्हीं बताओ, उस समय क्या धीरे-धीरे नलिनी के चेहरे का भाव बदलता नहीं जा रहा था। उसने बदले हुए स्वर में कहा था, "उन्हें उन्हें यहाँ क्या साएँ हैं?"

मैं उनका चेहरा भी नहीं देख पा रहा था, सिर्फ़ आवाज सुन पा रहा था।

"तुम्हें दिखाने।" बाबा का स्वर था।

"मुझे? हम लोग कितनी गदी, भद्दी और पूँहड़ हाकर रहते हैं, क्या यही दिखाने? प्रणव बाबू। आपका दिमाग बिल्कुल खराब हो चुका है। अपने दिमाग का इलाज करवाइये।"

"तुम गदी नहीं हो, न खराब ही।" गारा विस्मित थे, फिर भी पूर्व-

विश्वास के आधार पर बोले जा रहे थे, “अभी तो आकर देखा, तुम पूजा में बैठी थीं।”

“ठीक जिस तरह शरत् बाबू के उप यासों में लिखा हुआ होता है ?” नलिनी रह रहकर हँस रही है। वह तो हँसी नहीं, मानो खून छलक रहा हो, “अरे ! दूर-दूर ! आपका दिमाग खराब हो गया है प्रणव बाबू। सिर्फ दिमाग ही खराब हुआ है, वरना अंदर से अच्छे हैं एवढम निपट सीधे सादे भले आदमी। यह लाइन आपके लिये नहीं है। पता है न, हम लोग नाटक करते हैं ? इतना भी नहीं रहे है, यह पूजा-वृजा भी भड़की है, अभिनय है, अभिनय ! हम लोग हुए बज्जात व घड़ीबाज। हम लोगों को समझ पाना आसान नहीं। अगर यह कहें कि, यह जो चरणामृत देख रहे है, असल में वह ठर्रा है। चुक-चुक पीती है। आपकी भी थोड़ा-सा ?”

पता नहीं, नलिनी उस समय किस हालत में थी। मैंने सिर्फ तुम्हें दबी आवाज में कहते हुए सुना, “चलो यहाँ से। तुम चलो यहाँ से।”

नलिनी ने मानो बड़े ध्यान से माँ की बात सुनी। इस बार टिटहरी की तरह आवाज बनाकर बोल पड़ी, “ठीक, ठीक कहती हैं आप। चले जाइये, ले जाइये उन्हें यहाँ से। भद्रलोक यहाँ रहते हैं भला छि ?”

साफ समझ पा रहे थे हम, बाबा धीरे-धीरे टूट रहे थे। कम से कम उनकी टूटी हुई आवाज सुनायी पड़ी, “पर नलिनी ! मैं तो तुम्हारी बहुत बड़ाई करके इन लोगों को यहाँ लाया था। बहुत ताव में बीता था, दिखाऊँगा।”

“किसे ?”

“मेरी जीवनदायिनी का !”

“जीवन ?” नलिनी ने मुँह बनाया। “अरे अपना ही जीवन जिलाये रखना दूसरा है, तो दूसरे को जीवनदान ? नहीं जनाव, दान-दान कुछ भी नहीं किया है मैंने, न कर सकती हूँ। देखिए, थोड़ी देर में ही सात गिद्ध आकर मेरे जीवन पर ही क्षपट्टा मारेंगे इसी से वनठम कर तैयार हूँ।”

“चले आजो चले आजो फौरन।”

नलिनी थोड़ा रुक गयी, शायद तुम्हारी आवाज सुनने के लिये। पर रुक कर फिर से बोलने लगी, “आपके साथ फिर भी बाहर जा सकती थी, पर घर की बहू को साथ ले आये, दूध और तम्बाकू दोनों ही चाहिये ? बिल्कुल दिमाग खराब है। फिर ऊपर से आपकी जेब भी बिल्कुल सफाचट मैदान है। चले जाइये, वरना तुरन्त व लोग आ जाएंगे। अगर सव्यसाची ही आ जाये तो ! उस दिन फिर भी जान से नहीं मारा पा, पर आज कुछ कड़ा नहीं जा सकता है। क्या करें ! आप बिल्कुल पागल हैं। उन लोगों को पहचानते नहीं हैं। अरे जनाव, आपके उन सीधे-सादे नाटकों को, भला वे बदमाश मंच पर उतारेंगे ?”

बाबा को मिमियाती हुई धावाज, "पर नलिनी, आज मैं उस काम से नहीं आया हूँ। वह सब नहीं सोच रहा हूँ।"

"तो फिर क्या सोच रहे हैं?"

"सोच रहा हूँ, यह क्या तुम हो हो, जिसने उस दिन मुझे "

"बताया तो नाटक किया था। ड्रामा जनाव, सब ड्रामा है, इतना भी नहीं मानूँ?"

"चले धाओ।" इस बार अन्तिम रूप से ध्वनित हुआ। उसके बाद ही तुम्हें बराबे में देखा। बाबा सिर झुकाये तुम्हारे पीछे पीछे चले आ रहे हैं। और नलिनी? उसने तुम लोगों की पीठ के ऊपर हो धड़ाम से दरवाजा बंद कर दिया।

ड्रामा सब ड्रामा। उस दिन का वह शानदार ड्रामा देखने के बाद, काफी देर तक हम तीनों ही धामोश बने रहे। घृणा, विस्मय और आतंक से कण्ठस्वर अवरोध हो गया था।

बाद में, बहुत बाद में स्मृति के रंग जब धीरे-धीरे बदलने लगे, जिस तरह पुरानी पुस्तकें के रंग बदलने लगते हैं, पढ़ी हुई कविता का एक-एक अर्थ, जब अचानक बिल्कुल अचानक ही साफ हो उठता है, ठीक उसी तरह ड्रामा के दूसरे पक्ष को भी मैं देख पाया हूँ, मानो सीन के पीछे बैठकर।



बाबा का वह एकदम से टूटा हुआ चेहरा मैंने पहली बार देखा था, अहीरी टोला के गंगा घाट पर। टाक्टरो ने सलाह दी थी कि, बदन पर गंगामिट्टी लगाने से शरीर ठंडा रहेगा। बाबा ने उस व्यवस्था को चुनचाप स्वीकार लिया था। पहले भाटा के समय गंगा मिट्टी अपने बदन पर अच्छी तरह पोत लेते उसके बाद, ज्वार आने पर उसी में अपने को छोट दत्त। अच्छी तरह बदन धोकर फिर किनारे आ उठते। वय ज्वार आये, उसी प्रतीक्षा में किनारे काफी देर तक बैठे रहते देखा है।

तुम्हारे आदेश पर सूखे कपड़े धामे मैं बाबा के साथ अक्बर जाया करता था। जिस दिन बाबा दूर तक चले जाते, मैं बहुत डर जाता। दुर्बल शरीर, अभी तो बीमारी से उठे हैं। मुझे लगता वे ज्यादाती कर रहे हैं। कहीं पानी में ही हाफ-बाँफ गये तो। हूब जाएँ। घबडाकर मैं उन्हें पुकारता। पर वे सुन नहीं रहे हैं, सुन नहीं पा रहे हैं, या फिर सुनना नहीं चाह रहे हैं।

मैं डर जाता।

उस दिन शाम को ज्वार था। बाबा को लोटने में देर होते देख मैं उन्हें देखने गया। जाकर देखा, वे उस समय तक पानी में उतरे ही नहीं थे, सिर्फ एक सीढ़ी पर बैठे, दोनों पाँव पानी में डुबो रखा था।

मुझे देखते ही झुककर पानी हिसाने लगे। और फिर धीरे से कहा, "अभी भी समय नहीं हुआ है।"

"नहाया नहीं है?"

"ज्वार ही नहीं आया। पर लगता है अब आ रहा है। अब तक चायद बजबज या खिदिरपुर में आ गया हो।"

"तो फिर अब तक कर क्या रहे थे?"

बाबा न मुह ऊपर लिया। एकदम अदर्शी शून्य दृष्टि और एकदम से फीकी आँखें। उनका यह रूप देखकर, मेरे अन्दर न जाने कैसा तो होने लगा। अपने भीतर के डर को दबाने के लिये तब स्वर में पूछा, "तो अब तक क्या करते रहे?"



“स्रोत देखता रहा ।” बाबा ने पानी के ऊपर झुकते हुए कहा, “देख, इस समय इस ओर बह रहा है न, पर ज्वार आते ही चल्ती धोर बहने लगेगा । मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।”

इतना कहकर, फिर से उस स्रोत की ओर ही देखने लगे । प्रवाह की गति-प्रकृति को उतने ध्यान से देखते हुए, वे कौन-सा रहस्य जान लेना चाहते हैं ? “कुछ नहीं,” बाद में खुद ही एक समय मुझे बोले, “कुछ नहीं ।”

“ऊहूँ ” सिर हिलाते हुए बाबा ने कहा, “तू समझता है मैं मतलब समझ जाता हूँ पर कतई नहीं ।”

मैं भी समझ नहीं पा रहा था, थोड़ा भी नहीं । और एकबार मुह उठाकर मानो किसी रहस्य की बात बता रहे हों, कहने लगे, “स्रोत के मामले में यही बात है । समझता नहीं हूँ, पर देख-देख कर इतना तो समझ हा चुका हूँ कि, स्रोत हमेशा सामने की ओर चसता है । पर नटखट होता है न, इसलिए चलते-चलते, शायद चलने में थोड़ा वैचित्र्य लाने के लिये स्रोत स्वयं ही कोई न कोई जटिलता पैदा करता है । यह नियम, जगत का नियम है । स्रोत की तरह ही हम भी होते हैं । हम लोग भी बीच-बीच में कोई न कोई उसक्षण पैदा कर ही लेते हैं । बहुत मजेदार है न ?”

बाबा हँस रहे थे, पर न जाने क्यों मैं नहीं हँस पाया । गले से लेकर पाव तक झुर-झुरी फैल गयी थी ।

तुम्हें बताया नहीं था । बताया नहीं था कि बाबा उन दिनों बीच-बीच में और भी कई तरह के अद्भुत कारनामे कर बैठते थे । एक दिन खूब भोर में, तुम न जाने कब उठ गयी थी । जागते ही देखता हूँ बाबा मेरे सिरहाने आकर खड़े हैं । मेरे सिर पर हाथ रखे कुछ बड़बड़ाये जा रहे हैं, ठीक नाटक में जिस तरह स्वगाति करते हैं । “थी आशा मेघनाद ! मूढ़ोंगा अन्त में / ये नयनद्वय तुम्हारे ही सम्मुख / सौंप कर राज्यभार, पुत्र तुम्हें / बहूँगा महाप्रस्थान / पर विधि । उसकी सीला समझूंगा कैसे ? छला उसने मुझे ।”

ज्याही महसूस किया कि मैं भी जाग रहा हूँ, वैसे ही हसते हुए बोले, “बताओ तो किसकी है ?”

“भाइकल मधुसूदन की न ।” मैंने कहा—

उनका चेहरा प्रदीप्त हो उठा । “पढ़ा है तुमने ? इतनी जल्दी ? वाह ! पढ़ता जा । उसके बाद ” यहाँ आकर वे शायद थोड़ा झिंझके, “उसके बाद लिखना, लिखते रहना ।” मेरे माथे के ऊपर उनके हाथ का दबाव, अधोर आसोर्वाद ।

तुम्हें उस समय वह सब नहीं बताया था ।



बाबा का वह एकदम से टूटा हुआ चेहरा मैंने पहली बार देखा था, अहीरो टोला के गंगा घाट पर। डाक्टरों ने सलाह दी थी कि, बदन पर गंगामिट्टी लगाने से शरीर ठंडा रहेगा। बाबा ने उस व्यवस्था को चुपचाप स्वीकार लिया था। पहले भाटा के समय गंगा मिट्टी जतने बदन पर अच्छी तरह पोत लेते, उसके बाद, ज्वार आने पर उसी में अपने को छोड़ देते। अच्छी तरह बदन धोकर फिर किनारे आ उठते। वय ज्वार आये उसी प्रतीक्षा में किनारे काफी देर तक बैठे रहते देखा है।

मुन्हारे आदेश पर सूखे कपड़े पहने मैं बाबा के साथ अवसर जाया करता था। जिस दिन बाबा दूर तक चल जात, मैं बहुत डर जाता। दुर्बल शरीर, जमी की बीमारी से उठे हैं। मुझे लगता वे ज्यादाती कर रहे हैं। कहीं पानी में ही हाफ-वॉक गये तो। झूब जाएँ। घबडाकर मैं उह पुकारता। पर वे सुन नहीं रहे हैं, सुन नहीं पा रहे हैं, या फिर सुनना नहीं चाह रहे हैं।

मैं डर जाता।

उस दिन शाम को ज्वार था। बाबा को सीटने में देर होते देख मैं उन्हें देखन गया। जाकर देखा, वे उस समय तक पानी में उतरे ही नहीं थे, बिल्क एक सीढ़ी पर बैठे, दोनों पाँव पानी में डुबो रखा था।

मुझे देखते हा झुककर पानी हिलाने लगे। और फिर धीरे से कहा, “जमी की समय नहीं हुआ है।”

“नहाया नहीं है?”

“ज्वार ही नहीं आया। पर लगता है अब आ रहा है। अब तक शायद बजबज या खिदिरपुर में आ गया हो।”

‘तो फिर अब तक कर क्या रहे थे?’

बाबा न मुह ऊपर लिया। एकदम अदर्शी शून्य दृष्टि और एकदम से फीकी साँसें। उनका यह रूप देखकर, मेरे अन्दर न जाने कैसा तो होने लगा। अपने भीतर के डर को दबान के लिये तब स्वर में पूछा, “तो अब तक क्या करते रहे?”

“स्रोत देखता रहा ।” बाबा ने पानी के ऊपर झुकते हुए कहा, “देख, इस समय इस ओर बह रहा है न, पर ज्वार आते ही उल्टी ओर बहने लगेगा । मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।”

इतना कहकर, फिर ये उस स्रोत की ओर ही देखने लगे । प्रवाह की गति-प्रकृति को उतने ध्यान से देखते हुए, वे कौन-सा रहस्य जान लेना चाहते हैं ? “कुछ नहीं,” बाद में खुद ही एक समय मुझे बोले, “कुछ नहीं ।”

“ऊँहँ ” सिर हिलाते हुए बाबा ने कहा, “तू समझता है मैं मतलब समझ जाता हूँ पर कतई नहीं ।”

मैं भी समझ नहीं पा रहा था, थोड़ा भी नहीं । और एवबार मुह उठाकर मानो किसी रहस्य की बात बता रहे हों, कहने लगे, “स्रोत के मामले में यही बात है । समझता नहीं हूँ, पर देख-देख कर इतना तो समझ हा चुका हूँ कि, लात हमेशा सामने की ओर चलता है । पर नटखट होता है न, इसलिये चलते-चलते, शायद चलने में थोड़ा वैचित्र्य लाने के लिये स्रोत स्वयं ही कोई न कोई जटिलता पैदा करता है । यह नियम, जगत का नियम है । स्रोत की तरह ही हम भी होते हैं । हम लोग भी बीच बीच में कोई न कोई उसक्षण पैदा कर ही लेते हैं । बहुत मजेदार है न ?”

बाबा हस रहे थे, पर न जाने क्यों मैं नहीं हँस पाया । गल से लेकर पाव तक घुर घुरी फैल गयी थी ।

तुम्हें बताया नहीं था । बताया नहीं था कि बाबा उन दिनों बीच-बीच में और भी कई तरह के अद्भुत कारनामे कर बैठते थे । एक दिन खूब भोर में, तुम न जान कब उठ गयी थी । जागते ही देखता हूँ बाबा मेरे सिरहाने आकर खड़े हैं । मेरे सिर पर हाथ रखे कुछ बड़बड़ाये जा रहे हैं, ठीक नाटक में जिस तरह स्वगोष्ठी करते हैं । “यी आशा मेघनाद ! मूर्खता अन्त में / ये नयनद्वय तुम्हारे ही सम्मुख / सौंप कर राज्यभार, पुत्र तुम्हें / कहूँगा महाप्रस्थान / पर विधि । उसकी सीला समझूंगा कैसे ? छला उसने मुझे ।”

ज्योही महसूस किया कि मैं भी जाग रहा हूँ, वैसे ही हँसते हुए बोले, “बताओ तो किसकी है ?”

“माइकल मधुसूदन की न ।” मैंने कहा—

उनका चेहरा प्रदीप्त हो उठा । “पढ़ा है तुमने ? इतनी जल्दी ? वाह ! पढ़ता जा । उसके बाद ” यहाँ आकर वे शायद थोड़ा विश्रुते, “उसके बाद लिखना, लिखत रहना ।” मेरे माथे के ऊपर उनके हाथ का दबाव, अधार आशीर्वाद ।

तुम्हें उस समय वह सब नहीं बताया था ।

पर स देह क्या तुम्हें भी नहीं हुआ था, जिस दिन बाबा सुबह जाकर ओर कुछ भी नहीं लाये, सिर्फ ढेर सारे सहजन के फूल ले आये। तुम बहुत हताश हो उठी बहुत गुस्साते हुए कहा था, “यह क्या ? सिर्फ फूल ? इतने सारे फूल तुमने खरीदे हैं ?”

‘ खरीदा ही तो है। वरना मुझे कौन देगा, बताओ। पर मैं तुम्हें दे रहा हूँ, ” कहते हुए बाबा ने उन ढेर सारे फूलों को तुम्हारे आंचल में उँढेल दिया।

तुम्हारे गालों पर हल्की-सी लाली फैल गयी, पर बाबा तनिक भी सज्जित नहीं हुए बोले, “अगर मिली तो एक दिन शास की मजरी भी ले आऊँगा। सहजन और शास की मजरी। दोनों का तात्पर्य क्या हुआ, पता है ? सहजन के पास से हसी की शुभ्रता सीख लूँगा और शास की मजरी से उसकी ही तरह समस्त तुच्छताओं का अतिक्रमण करके ऊपर उठ जाना सीखूँगा।”

“वह सब बड़े बड़े भावों की बात है। मेरे पल्ले नहीं पड़ती।” तुमने बिरस स्वर में कहा। तब बाबा बोले, “तो कुछ हल्की चीज सुनाऊँ ?” और फिर तुरन्त शुरू हो गये थे, ‘वाह, वाह, क्या आश्चर्य / पुरुष का ब्रह्मचर्य / हो सत्तिस दृढ़, तुषार भीतल, तथापि आसप चाप में जो जल, वह जल।”

‘ वह जल।’ बाबा ने पूछा, “बताओ तो किसकी है ?”

“पता नहीं।”

“तुम्हें तो एक बार याद कराया था। मवीन सेन की रचना है।”

पर सिर्फ भाव की बात ही नहीं, धीरे-धीरे अभाव की बात भी हमारे परिवार में घुसने लगी थी। पूरी तरह भले ही घुस न पायी हो, पर इधर-उधर उसकी काली परछाई का आभास मिसने लगा था।

फिर-भी शुरू-शुरू में तुम्हें विचलित होते नहीं देखा था। खूब मोर म जिस तरह उठ कर नहाती-घोती, सँवर कर सिंदूर डालती और फिर घर गृहस्थी व काम में उलझ जाती, और धीरे-धीरे कोई भजन गुनगुनाती, उस सुर को मैं पहचानता हूँ। जब भी सुनता हूँ, मन के बहुत गहरे में न जाने क्या, एक छोटे-से कटि की तरह घुमने लगता। और उही दिनों ही समझ सका था कि कोई एकदम से चला नहीं जाता है, कुछ न कुछ जाता है। जैसे सुधीर मामा कब के चले गये हैं, पर रह भी गये हैं उन सब गीतों के स्वर के आभास में।

तुमने कहना शुरू कर दिया, “ठीक महसूस नहीं हो रहा है। थोड़ा भी ठीक नहीं लग रहा है।”

समझ गया, तुम बाबा के लिये कह रही हो। बाबा का चाल-चसन, हाव-भाव सब कुछ बदल गया था। घर से बाहर निकलना ही नहीं चाहते थे फिर भी बीच-बीच में जवरदस्ती, पाक में भेज दिया जाता। किसी किसी दिन गंगा के किनारे उँहें ले जाते।

बाबा की नौकरी खत्म हो चुकी है, यह दिन के उजाले की तरह साफ हो चुका था। उन लोगो ने छुड़ा दिया होगा।

पर तुम्ह यकीन था कि बाबा ने खुद ही नौकरी छोड़ी होगी। इसमें कोई शक नहीं कि बाबा को तुम मुझसे ज्यादा जानती थीं तुम कहती थी, “शुरू की आदत रही है। फिर काम करते कहाँ से? प्रेस की नौकरी तो एक बहाना थी। टाटक-टाटक का थोड़ा गध था न वहाँ। जिस उम्मीद से वहाँ गये थे, वही जब टूट गयी, तो फिर और किस बात के लिये वहाँ ठहरत। शरीर उनका टूटने लगा है, साथ ही मन भी। पर बता ताँ हम लोग क्या करें। घर का गुजारा कैसे हो?”

एक परिवर्तन मैं बड़े गौर से देखे जा रहा था। जब तक बाबा कार्यक्षम रहे, तुम हमेशा शान्त, उदास रही। अपने ही कल्पना जगत में विचरती रही। पर अब बाबा को टूट जाते देख, तुम अपने आवरण में से निकल आयी।

जो परछाई घर के इधर-उधर घुबकी हुई थी, वही अब काफी फैलकर बैठ चुकी थी। मैं अक्सर दुःस्वप्न देखने लगा था। पढाई ठीक से नहीं कर पाता। दिमाग में कुछ घुसता ही नहीं। न कालेज जान का जी चाहता, क्योंकि भरपेट खाकर कालेज जाना नहीं हो पाता। एक दो घंटे बाद ही पढ़ में कुछ ऐठने लगता। पढाई बढ़ाई सब गड़मड़ होन लगती। दिमाग पर क्या कसूर। वही कितनी सुबह भात-चोखा खाकर निकला हूँ। सब हजम हो चुका है अब तक। सोटते समय एक पैसे का चीना वादाम। उसके पहले मिसीर जी। पेट भर कर पानी पिला दो न मुझे। वरना इतनी दूर जाऊँगा कैसे? रास्ते में सिर चकरा जायेगा?

\*

\*

\*

यहाँ तक इसी तरह सिखा। उस समय की मनोदशा जैसी थी, गोलो मिट्टी, सूखे घास, कीचड़ सने जड़ समेत थोड़ा-सा उखाड़ साया हूँ।

पर इस तरह क्यों? माँ, शायद तुम यह जानना चाहो? किसी और तरह उस समय की गरीबी की भयंकर तस्वीर मेरे लिये खींच पाना संभव जो नहीं था। चौबीसो घण्टे अपने आसपास एक काली परछाई डोलती हुई सी मिलती। माँ, उस समय बाँध बंद करने पर भी वह दीखता। उसे मैं घर के कोन में जमे हुए धूल पर, तरकारी के छिलको और टूटी हुई कुर्सी के पाये, दीवार के उखड़े हुए पलस्तर पर देखता हूँ। तम्हारे रूखे बालों में यहाँ-वहाँ से फटी हुई साड़ी के हर हिस्से में, माड दी हुई मेरी कमोज की एक-एक रिफ़ और पैबन्द में। बात-बात में सर्दी बुखार में बिस्तर पकड़ लेने में। गटागट पानी और एक पैसे का वदाम खाकर टिफिन पूरा करन में। बलास के दोस्ता से माँग-मूँग कर किताब पढ़ने और उस अपमान को बढ़त सारे झूठ के सहारे सजा देने में। बाह! माँ! मेरे उस केषोर्य के अंतिम दिनों और जीवन के पदापण के दिनों में न जान कितने कष्ट पाया हूँ, और झूठ पर झूठ बोला हूँ।

समाज में, जाने-पहचानो में सिर उठकर चरने-फिरने की भी गुंजायश नहीं रह गयी थी।

मा, इतनी बातें शायद इसलिए लिखता जा रहा हूँ, क्योंकि अन्दर कुछ ऐसा है जो बाहर निकलने में अभी भी हिचकिचा रहा हो।

माँ, झूठ नहीं बोलूँगा। मैं उस अध्याय पर पहुँच गया हूँ, जब तुम्हारे मेरे सम्पर्क के लिये और निर्यम व्यवधान का प्रयोजन होगा। इसीलिए कलम नहीं चलता चाह रहा था। शायद इसी से इतनी भूमिका बाँधनी पड़ी।

पर और नहीं। यह देखो मैंने मरुत मुट्ठी में कसम पकड़ लिया है। अब हाथ नहीं काँप रहा है। मैं आत्मघाती हूँ मजे की बात देखो, बाबा ने परिहास-छल में जो हुक्म जारी किया था, वह सत्य हुआ। मैं परशुराम भी हूँ, जो मातृ घाती था।

(कलकत्ता में शुरू के दिनों में बाबा ने एकबार कहानी सुनायी थी। पिता जमदग्नि के आदेश पर बिना एक शब्द बोले परशुराम ने अपनी माता रेणुका का हनन किया था। बाबा ने कहा था, “इसी को कहते हैं पुत्र। पितृ आदेश ही जिसके लिए वेद वाक्य हो। तुझे अगर कहूँ तू कर सवेगा?” उन्होंने हँसते हुए पूछा था। वह इसी अभी भी मेरे कानों में बज रही थी।)

तुम्हें भी आघात करना होगा, क्योंकि अभाव नामक वह डाकू, जो लालची होने पर भी लंगोटधारी पहलवान था, हम दोनों को ही खींच-खींच कर लगातार नाचे घसीटते जा रहा था। बाबा उस समय रहकर भी नहीं रह गये थे। बहुत दिनों बाद फिर से हम दोनों ही रह गये थे।

अकूरता ने हम लोगों को छोटा कर दिया था।

माँ, कौन सी बात पहले सिखू, परीक्षा की फीस को लेकर घोखाघड़ी, या तुम्हारी आखिरी दो चूड़ियों की विक्री?



पहले पशुपति तारु जी की ही बात बह लू । उन दिनों वे हम लोगों के परिवार में कुछ दिनों के लिये एक सुखद हवा के झोके की तरह बह गये थे ।

“प्रणव है, प्रणव ?” बोलते हुए एक दिन सुबह वे हम लोगों के मकान में घुस आये थे । उन दिनों दरवाजा खटखटा कर कमरे में घुसने का रिवाज नहीं था । बाबा को देखते ही बोले, “अरे प्रणव तो यहाँ है,” कटकर ही थाड़ा ठिठक कर छड़े रह गये, फिर बोले, “पर विस्तर पर क्यों हो ?” तुम हड़बड़ाती-सी, सिर पर धूँधट बाँसे एक तरफ हो गयी । आग-तुक ने, जो कद-काठी से काफी ऊँचा-तगड़ा था, बदन पर मोटा फतुआ, देखने में बाबा जैसे पहले देखते थे, वैसा ही, चौड़ा माया, चमकती हुई आँखें । तुम्हारी ओर देखते हुए बोले, “तुम मुझे नहीं पहचानोगी बह ! पहले कभी देखा जा नहीं है । मैं पशुपति हूँ । प्रणव ने कभी मेरी चर्चा नहीं की ?”

बाबा को उन दिनों बात करने में तकलीफ होती थी, पर एक तरह की सजगता उस समय भी थी । देखा, अचानक उनका शीर्ष विलम्बित चेहरा आकस्मिक एक प्रकाश से खिल गया । पशुपति ने कहा, “मैं उसका दादा हूँ ।”

बाबा ने किसी तरह लड़खड़ायी हुई आवाज में कहा, “दादा से भी कहीं ज्यादा ।”

पशुपति तारु बाले, “वैसे रिश्ता देखने जाओ तो काफी दूर का रिश्ता है । एक तरह से कहो कोई रिश्तेदारी ही नहीं बनती है । फिर भी हम लोग बहुतों से कहीं ज्यादा अपने हैं । सुख-दुख एक सन्धे वैसे तक एक साथ घेला है ।”

तुमने तब उन्हें प्रणाम किया । तुम्हें देखकर मैं भी ।

पशुपति निःसंकोच भाव से बाबा के पलंग के एक किनारे बैठ गए । बोले, “इसकी ऐसी हालत हो गयी है, यह तो मालूम ही नहीं था । मैं तो बड़ी उम्मीद लिए आया था । पिछले महीने ही हम सब छूटे हैं । पता है ? मैं छूटते ही राची चला गया था न । प्रणव को तो यह सब पता ही है ! राची में हमारे ग्रुप के कुछ और लोग

भी आए थे। ज दमान से भी दो पुराने साथी वहाँ आ गये थे। वहाँ पर काफी दिनों तक सलाह मशवरा चलता रहा प्रणव !” बाबा की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए पशुपति ने कहा, “एक योजना बना कर ही यहाँ आया हूँ।”

बाबा की पलकें और होठ काँप रहे थे।

पशुपति पलथी मार कर बैठ गए थे। बोले, “इस समय सारी बातें खोलकर नहीं बताऊंगा। बाद में धीरे-धीरे बताऊंगा। उससे पहले, जब से एक पाँच रुपये का नोट निकाल कर बोले, “जा तो, गरम-गरम जलबो ले आ। साथ में खस्ता कचोडो। मुबद्द स पेट में कुछ गया नहीं है।”

तुमने अवाक होकर देखा था। कचोडो और जलेबो आ जाने पर पशुपति ने कहा, “हाथ मुद्द घो आऊ उसके बाद। नहानघर कहाँ है ?”

नहान घर-घर नहीं है, यह उन्हें नहीं कहा गया। सिर्फ नस जहाँ था। उधर दिखा दिया गया।

तुमने बाबा की ओर देखते हुए कहा, “बड़े मजेश्वर आदमी हैं। एकदम चुले हुए।”

बाबा ने अस्पष्ट स्वरों में जो कुछ कहा, उसका मतलब निकला यह कि, पशुपति एकदम अलग किस्म का आदमी है। अन्दर बाहर से एकदम एक जैसा। मन में कोई मैल नहीं। मन में खाट न होने के कारण ही इतनी सहजता से सब जगह घुलमिल जाते हैं।”

व थोडो देर में ही लौट आए। तुम उस समय प्लेट में खाने की चीजों का रख रही थीं। बाबा, सिर्फ टुकुर-टुकुर देखे जा रहे थे। बीमारी के बाद से उनमें ललच बढ गयी थी।

एक प्लेट पशुपति की ओर बढ़ाकर तुमने फुनफुसाते हुए मुससे कहा, “पूछ तो, वहाँ ठहरे हैं ?”

“एक मेस में ठहरा है। मिर्जापुर स्ट्रीट के उधर।” पशुपति न ही सीधे जवाब दिया। “वह जगह काफी दिना की जानी-मह्वानी भी है, ऊपर से हम लोगों के दस का एक अड्डा भी है वहाँ।”

“जाना पीना कैसा है ?” तुमने पूछा, इस बार भी मेरी ओर ही देख रही थी।

‘रसोइया, बहुत बढ़िया खाना नहीं बनाता है। वह। मेरी इच्छा है कि एक दिन तुम्हारे हाथ का बना हुआ भोजन खाऊ।”

‘आइए न !” अब जाकर तुम सीधे-सीधे बात कर पायी थीं, हालांकि अभी भी घूँघट निकला हुआ हो था। उसके बाद बड़े कुण्ठित भाव से बहुत धीरे-धीरे, कितने दिन आप रहे पाएंगे भसा। आपको यहा ठहर जाने के लिए भी कहने का साहस नहीं हो रहा। अगर कोई खास दिक्कत महसूस न करें, तो दोनो समय यही खाइए न !”



मैं स्तम्भित होकर सुन रहा था। माँ, तुम क्या पगला गयी हो। हम लोग खुद इस हाल में रह रहे हैं। पाँचपोश के नीचे दबे कीड़े की तरह किसी तरह दिन काट रहे हैं। इस विमुख-रिमाता शहर में, आजकल रोज मुझे मूड़ी भी नहीं मिल पाती है। बाबा के सिर पर लगाने का ठंडा तेल भी नहीं खरीद पा रहे हैं और ऐसी हालत में तुम और एक को बुसा रही हो? क्या खिलाओगी तुम उस विशिष्ट अतिथि को। थाली में क्या केवल भात और नमक मिर्च परोस दोगी? मैं छुपाकर तुम्हारे पाँव की उँगली में चिकोटी काटता हूँ। धाने सकेत में तुम्हें चुप रहने के लिए कहता हूँ। पर तब तक पशुपति बाबू बोलने लगे थे, “अवश्य-अवश्य।” और तुम इसी बीच मानो और भी सज्जावती बहू बन गयी, सिर एकदम झुका हुआ। दोनों आँखें फर्श की ओर गढ़ो हुईं। और मी मीठे और कौमल स्वर में बोल रही हो, “वैसे आपको खाने में तकलीफ होगी।” माँ! ऐसा स्वर तुम्हें मिला कहाँ से? और इतने सुंदर ढंग से कही गयी वे बातें। क्या बना कर बोल रही हो, या पहले से ही बना हुआ था। पशुपति बाबू हो-हो करके हँस रहे हैं, “क्या कहती हो। जीवन के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की तरह दो भाग का एक भाग जिनका जेल में कटा है, जहाँ सप्ती को ही अमृत समझा जाता है। और तुम कह रही हो, यहाँ खाने में तकलीफ होगी? हा-हा हा।”

पशुपति बाबू ने एक बार हँसी रोक कर कमरे के चारों ओर देख लिया। “पर वहूँ माँ। ठीक से बताओ तो, तुम्हें कोई असुविधा तो नहीं होगी न। मेरी काया देख ही रही हो न। फिर आजकल मैं कुछ ज्यादा ही भुक्कड़ हो गया हूँ। न खा पाने की कसर अब पूरी कर ले रहा हूँ। इस समय का सीदा सुलफ करवा लिवा होगा।

(उह हूँ हमारे महा का हालचाल कुछ भी मालूम नहीं। इन दिनों हमारे यहाँ रोज सीदा-सुलफ होता ही कहाँ है!)

‘तो फिर एन काम किया जाए। मैं शाम को आऊँगा। तुम जाओ तो छोका। बाजार से बड़िया मूँग की दाल लाओगे, ठीक? साथ में पेट मोटा ‘कोई’ मछली ठीक? आलू, प्याज जो-जो चाहिए सब उसे बता दो तो।’ उन्होंने अब फमीज की जेब से एक दस रुपए का नोट निकाला।

थोड़ी देर पहले, जलेबी के लिए पाँच और इस समय सीदा खाने के लिए दस, सारे नोट नक्शेदार फूल बनकर इस कमरे की हवा में उड़ रहा है। क्या सचमुच उड़ रहा है, या फिर हम लोग कोई करिश्मा देख रहे हैं? पशुपति बाबू, आकस्मिक वह अभ्यागत व्यक्ति क्या जाने सचमुच रक्तमास का है, या नहीं। शायद वे किसी परीक्या के नायक हो, जो परीक्या के पन्नों से उतर आए हैं! फिर ठो यह नोट असली नहीं है, परन्तु गायब हो जा सकता है। डपटे हुए नोट को मैं अपनी मुट्ठी में कस लेता हूँ।

“दोना भाई एक अर्से बाद एक साथ बैठकर ठाठ से घाएंगे। क्यों भाई प्रणव ?” वह लगभग अलौकिक-सं, अपरूप, प्रेरित-पुरुष प्रतिम व्यक्ति उदार स्वर में बोल रहे थे। थोड़ी देर पहले जिस तरह पशुपति बाबू देख रहे थे, उसी तरह उस समय बाबा का भी तबिए पर रखे हुए सिर में से दोना भाई कमरे के चारों ओर घूम रही थी। माँ, तुम भी धूँधट के अंदर से इधर-उधर दख रही थी। ओर में ? मैं क्या उस समय अचानक ही किसी सौर जगत में उपस्थित हो गया था ? या फिर वह कमरा ही उस समय सौर जगत बन गया था, जहाँ तरह-तरह के ग्रह-नक्षत्र चक्कर काटे जा रहे हैं ?

“बहुत मजेदार आदमी हैं पशुपति बाबू।” उनके चले जान पर मैं बोल पड़ा। दरअसल बोले हम तीनों ही थे, तुम दोनों भाँखा से मैं मुह से।

‘छि उतने बड़े आदमी का नाम लेकर नहीं पुकारते। जेठा बाबू बालो।’

और माँ, थोड़ी देर बाद जब मैं नोट नचाते हुए बाजार की ओर चल देता हूँ, तुम्हें मन ही मन प्रणाम करता हूँ। माँ ! तुम्हें जरूर पता होगा कि उनका सिर्फ चेहरा ही दिलदरिया नहीं है।

शाम को मसाला पीसा गया, दो धूल्टे जलाए गए। इन सब छोटी मोटी बातों को छोड़ ही दूँ, पर बाल्टी भर-भर पानी से घर की ओ घुलाई-पोछाई हुई ! अच्छा उसका जिक्र भी रहने दो। पर माँ ! कहाँ थी वह उजली साड़ी, जिसे शाम को नहाने के बाद तुमने पहन ली थी।

मरी दृष्टि में क्या थी ? विस्मय या मुग्धता ? तुम क्या थोड़ा सज्जित हो गयी थी ? शायद इसी से पकड़ा जाने के लहजे में बोली थीं ‘क्या देख रहा है ?’

अब तो मैं वह पहले वाला बालक नहीं हूँ, जो गाँव के मकान में पहली बार बाबा के जाने वाले दिन तुम्हें रंगान साड़ी पहने देख व्यथित-आहत-सा होकर निर्वाक हा गया था।

“पहन ली है।” कृण्ठित स्वर में तुमने कहा, “पहन ली हैं। बहुत गंदी रहने लगी हैं। बाहर के आदमी को खाने आना है। कहीं उनका मन घिना जाए तो ?”

माँ ! तुमने एक बाहरी आदमी की दृष्टि से देखा था, इसलिए उस दिन समझ नहीं पायी थीं। आज अगर कहूँ, बदन मेरा भी घिनाया था ?

(हालांकि उस समय शहरी बना मैं उसी समय मिथ्यावादी बनकर बोला, “इस साड़ी में तुम अच्छी ही लग रही हो।”)

और क्या बाल रही थी तुम, गंदा, जा साड़ी उस समय पहने हुए थी, वह साफ जरूर थी, पर तुमने क्या गौर नहीं किया था, कि उसके एक-एक घागे में न जान कितने अभाव छुपे हुए हैं ? यह साड़ी हालांकि रंगीन नहीं है, पर न जाने किस

जगह से लोभ का रंग निर्लज्ज भाव से चमक रहा है। तुमने क्या नहीं देखा था ? दिव्य दृष्टि क्या इसी तरह होती है ? एक ओर चुनी रहे, दूसरी ओर बढ़ ?

इतनी धुलाई-पाछाई के बाद हम लोगों का कमरा चमकने लगा था, फिर भी कहीं, घास साफ तो नहीं लग रहा है !

इतने स्पष्ट भाव से उस दिन समझ नहीं पाया था, फिर भी नामहीन एक दूसरी दृष्टि से घुघना-सा उसे देखा था।

उसी जमाव को, जो खिड़की के बाहर खड़े होकर क्षुधार्त-धूर्त अपना सिर हिलाया करता था। वह साँप की तरह रेंगता हुआ इस घर में घुस आया है।

पशुपति, नहीं-नहीं जेठा बाबू ठीक समय पर आ गए। बहुत परितोष के साथ घाना खाया। काँटा घूस-घूस कर घाल के पास फेंक-फेंक कर।

("तुम सोच रहे हो प्रणव, मेरे दाँत बघबाए हुए हैं ? ऐसी बात नहीं है। अभी भी ये दाँत काफी मजबूत हैं")

सोल की फटारी में हथेली डुबोकर—

("पर तुम खा नहीं पा रहे हो प्रणव ! तुम अचानक बुढ़ा गए हो। हाँसाँकि अभी उस दिन तक। खैर धिँता मत करो। मैं ज़र आही गया हूँ, फिर से तुम्हें बड़ा कर दूँगा। फिर मत करो ?")

जेठा बाबू ने एक पान भी मुँह में डाल लिया। जाते समय मुझे अपने पास बुलाया और बहुत अपनपन से पहली बार पूछा,

"क्या पढ़ रहे हो तुम ?"

बताया।

"साइन्स या आर्ट्स ?"

"आर्ट्स।"

"गणित में कमजोर हो क्या ?"

समय विशेष पर मोठा-सा और बन्चा कैसे बन जाया जाता है, चेहरे पर शर्मोलापन से आना पड़ता है, वह सब वचन से ही जानता था। बड़ी सरसतापूर्ण मुस्कराहट चेहरे पर फैलते चमकती आँखों से देखता रहा। पर कहा कुछ नहीं। गुब्बानों के साथ बराबरी का व्यवहार नहीं किया जाता। कभी-कभी न बोलना ही शिष्टता और विनय समझा जाता है। यह सब सीखा हुआ था, इसलिए खूब सरल मुस्कराहट और चमकती आँखों से देखना रहा।

बाबा भी चुप रहे। पर माँ आगे बढ़ आयी। घूँघट को धीमे तक चढ़ाते हुए, सचमुच के जेठ तो लगते नहीं है, फिर क्या आता जाता है। धीमे स्वर में कहा, "उसका झुकाव दूसरी ओर है। लिखने-लिखने की ओर।"

"अपने बाप की तरह ?" जेठा बाबू हँस और ठीक उसी क्षण न जाने क्या हुआ, बाबा अचानक दानों हाथा से आँखें ढँप कर अस्थिरभाव से सिर हिलाने लगे। वे क्या अस्वीकार करना चाह रहे थे, मायूम नहीं, वे लेखक नहीं हैं, या मैं नहीं हूँ ?

या उनके जैसा नहीं है ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक । मैं मुझे मैं अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था । कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन में बोल रहा था, “तुम्हारे जैसा बिल्कुल नहीं है मैं । क्यों होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा । एकदम साकानक माडर्न ! कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका । वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नहीं ।”

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे । अस्पष्ट अग्रहीन भाव से ।

पशुपति उतना सब देख नहीं रहे थे । बोले, “क्या पढ़ते हो ? दो एक किताबें ले आओ तो । आजकल के कोस में क्या है, सब मालूम भी तो नहीं है ।”

“सारी किताबें तो उसके पास नहीं हैं,” जल्दी से तुम बोल पड़ी, “खरीद नहीं पाया है ।”

“क्यों नहीं खरीद पाया ?” पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया । उन्हें दोबारा पूछना नहीं पड़ा, क्योंकि इस बार मैं चेहरे की वह सरस हँसी मिटा, छत-छलाती आँखों से देखता रहा न ।

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनों ने ही भीन भापा में तय कर लिया था कि बात-बात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुःखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव लाता रहूँगा, बदलता रहूँगा ।)

मैं बड़े करुण भाव से देखता रहा न । इसलिए पशुपति ने आगे कुछ नहीं पूछा । पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया । थोड़ी देर बाद बोले, “परीक्षा कब है ?”

“बिल्कुल नज़दीक है । फीस भी अभी नहीं दिया गया है ।” इस बार भी तुमने ही कहा । यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके से एक छुईमुई-सी गृहवधू के मुख से आवश्यक बातें कहला लेता है !

इस बार पशुपति ने कारण भी नहीं जानना चाहा सिर्फ बोले, “ओ !”

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया । मुझे करने के लिए कहा । मृदु स्वर में बोली, “फिर आइएगा ।”

“जल्द आऊँगा । इतना बड़िया खाना खिलाया तुमने, नहीं आऊँगा भला ?” पशुपति बोले ‘और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लालच में तो आऊँगा ही ।’ चले गए हसत हँसते । बाबा बैठे ही रहे । उनका सिर हिलना बंद हो गया था । सिर्फ आँख उठाकर देखा ।

और उसी समय माँ, तुम बोल पड़ी, “अरे !”

मैंने तुम्हारी ओर देखा ।

आँख की गँठ खोलते हुए तुमने कहा, “उनके दस रूपए से घबे हुए ऐसे चार रूपया छह आना तो रह ही गया । लौटाया नहीं गया ।”

मैं देखता रहा । कुछ बोला नहीं । तुमने बाबा की ओर देखा । बाबा भी चुप । तुमने जल्दी से कहा ‘शायद भूल गए हों ।’ हमनोग कुछ नहीं बोल रहे हैं ।

उस हस्त दुब चिर्न एकबार बाज करती हो। जब दुब हँव रही हो, नचे हँवने की कोबित कर रही हो।—“कोई बाज नहीं फिर तो आएँगे हो।”

“उन्हें पार नहीं रहा होता।” बोला बाबा। बाज घानर डेर हो, पर आविक हो। उन्हें बड़की पार पा। बचे हुए दैते दुन्दारे होयो-ह्वास ने लाली के छोर से बंधे थे। यह नै नहीं कह पाया। बेजा होकर माँ से पता ऐसी बातें कही जा सकती हैं।

बाबा चिर्न ताकते रहे। देखने रहे, सपातार पार दिन कि पाँच दिन तक ठीक पार नहीं, पशुपति जाने ताकती जा रहे हैं, जा रहे हैं। किसी दिन गुद हो सामान से जा रहे हैं, तो किसी दिन आते हो नोट बड़ा वे रहे हैं। किसी किस के पकवान, उसकी नहक, आह। खिडकी के बाहर से साँकता हुआ वह मिथारी देख। पाली के ऊपर आँखा होकर सब कुछ चाट-पाट कर जा रहा है।

बाबा के साथ भी ताकती की डेर सारी बातें होती। पहले की बातें, बाद में क्या होगा। वे सब बातें। चिर्न एक दिन देखा, ताकती हाथ में एक बहुत बड़ी हिन्सा मछली लेकर पुत्र रहे हैं, और बाबा चिर्न तिरछी नजर से देखकर पुपपाप बाहर निकल जा रहे हैं।

खाना पकता रहा। ताकती की कागज पड़ते रहे। शुरू में कुछ भी धटपटा-सा नहीं लगा था। कितने तरह के काम से हो तो आदमी, ‘अभी आता हूँ’, कहकर निकल जाता है। शायद बाबा नीचे गुसलघाने में गए हो, पर घाटा बन जाने के बाद तुमने मुझसे कहा, “कहाँ गए वो? देख तो। और उसी समय ताकती अपना कमानों चौकते हुए बोले, “वास्तव में, प्रणव गया कहाँ?”

मुझे पता था कहाँ।

\*

\*

\*

गंगा के पाना में मर गति से एक के बाद एक फूल बहते जा रहे थे। बाबा पककर दा-एक फूल उठाकर सूँघ रहे हैं। मेरे पाँव की आदत पारो ही समझ गए कि मैं ? “पशुपति रोज-रोज क्यों आता है?”

मैं तब तक उनका चेहरा नहीं देख पाया था। जब मुझ पुमाया दया। यह चेहरा डरा हुआ। हाथ का गोला फूल काँप रहा है। दबे हुए पर दूत स्वर में बाबा न स्वयं ही कहा, ‘मुझे मालूम है क्यों।’ सिर झुका कर जोड़ दिया, ‘वे भोग मुझे अन्दमान से जाना चाहते हैं। से जाने के लिए ही पशुपति आया है।’

मैंने कहा, “नहीं तो। चिर्न थोड़ा दिन पहले ही तो वे भोग आदमान से सोटे हैं।”

बाबा ने बिहल भाव से सिर हिलात हुए कहा, “मुझे पता है।”

मैं जार देकर बोला, “आप गमत समझ रहे हैं। आपनों वे भोग एहमीनी से रूप में पाना चाहते हैं। आपको भी वे भोग आ जोलन में उतारना चाहते हैं।”

या उनके जैसा नहीं हैं ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक ! मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था । कनछी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन में बोल रहा था, “तुम्हारे जैसा बिल्कुल नहीं है मैं । क्या होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा । एकदम सफल बनूँ । कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नहीं ।”

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे । अस्पष्ट अर्पहीन भाव से ।

पशुपति उतना सब देख नहीं रहे थे । बोले, “क्या पढ़त हो ? दो एक किताबें ले आओ तो । आजकल के कोस में क्या है, सब मालूम भी तो नहीं है ।”

“सारी किताबें तो उसके पास नहीं हैं,” जल्दी से तुम बोल पड़ी, “खरीद नहीं पाया है ।”

“क्यों नहीं खरीद पाया ?” पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया । उन्हें दोबारा पूछना नहीं पड़ा, क्योंकि इस बार मैं चेहरे की वह सरस हँसी मिटा, छल-छलाती आँखों से देखता रहा न ।

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनों ने ही मौन भाषा में तय कर लिया था कि बात-बात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुःखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव लाता रहूँगा, बदलता रहूँगा ।)

मैं बड़े कष्ट भाव से देखता रहा न । इसलिए पशुपति ने आगे कुछ नहीं पूछा । पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया । थोड़ी देर बाद बोले, “परीक्षा कब है ?”

“बिल्कुल नजदीक है । फीस भी अभी नहीं दिया गया है ।” इस बार भी तुमने ही कहा । यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके से एक छुईमुई सी गृहवधू का मुख से आवश्यक बातें कहला लेता है ।

इस बार पशुपति ने कारण भी नहीं जानना चाहा, सिर्फ बोले, “ओ ।”

वे जज चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया । मुझे करने के लिए कहा । मुदु स्वर में बोली, “फिर आइएगा ।”

“जल्द आऊँगा । इतना बढ़िया खाना खिलाया तुमने, नहीं आऊँगा भला ?” पशुपति बोले ‘और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लासल में तो आऊँगा ही ।’ चले गए हँसते हँसते । बाबा बैठे ही रहे । उनका सिर हिलना बंद हो गया था । सिर्फ आँख चठाकर देखा ।

और उसी समय माँ, तुम बोल पड़ी, “जरे ।”

मैंने तुम्हारी ओर देखा ।

आँखों की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, “उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छद्द आना तो रह ही गया । लौटाया नहीं गया ।”

मैं देखता रहा । कुछ बोला नहीं । तुमने बाबा की ओर देखा । बाबा भी चुप । तुमने जल्दी से कहा “शायद भूल गए हों ।” हमलोग कुछ नहीं बोल रहे हैं ।

उस दृश्य तुम सिर्फ एकबार बात करती हो। अब तुम हँस रही हो, यानि हँसने की कोशिश कर रही हो।—“कोई बात नहीं फिर तो बाएँगे ही।”

“उहे याद नहीं रहा होगा।” बोला था मैं। बात शायद ठीक थी, पर आशिक ही। तुम्हे बखूबी याद था। बचे हुए पैसे तुम्हारे होखो-हवाश में साडी के छोर से बँधे थे। यह मैं नहीं कह पाया। बेटा होकर मा से भला ऐसी बातें कही जा सकती हैं।

बाबा सिफ ताकते रहे। देखते रहे, लगातार चार दिन कि पाँच दिन तक ठीक याद नहीं, पशुपति याने ताऊजी आ रहे हैं, जा रहे हैं। किसी दिन खुब ही सामान ले आ रहे हैं, तो किसी दिन आते ही नोट बढ़ा दे रहे हैं। कितने किस्म के पकवान, उसकी महक, आह। खिडकी के बाहर से झाकता हुआ वह भिखारी दैत्य। पाली के ऊपर औंधा होकर सब कुछ चाट-चाट कर खा रहा है।

बाबा के साथ भी ताऊ जी की डेर सारी बातें होती। पहले की बातें, बाद में क्या होगा। वे सब बातें। सिर्फ एक दिन देखा, ताऊ जी हाथ में एक बहुत बड़ी हिल्ला मछली लेकर घुस रहे हैं, ओर बाबा सिफ तिरछी नजर से देखकर घुपचाप बाहर निकल जा रहे हैं।

खाना पकता रहा। ताऊ जी कागज पडते रह। शुरु में कुछ भी अटपटा-सा नहीं लगा था। कितने तरह के काम स हा तो आदमी, ‘अमी आता हूँ’, कहकर निकल जाता है। शायद बाबा नीचे गुसलखाने में गए हो, पर खाना बन जाने के बाद तुमने मुझसे कहा, “कहाँ गए वो? देख तो। ओर उसी समय ताऊजी अचानक मानों चौकते हुए बोले, “वास्तव में, प्रणव गया कहाँ?”

मुझे पता था कहाँ।

\*

\*

\*

गंगा के पानी में म दर गति से एक के बाद एक फूल बहते जा रहे थे। बाबा झुककर दा-एक फूल उठाकर सूँघ रहे हैं। मेरे पाँव की आहट पाते ही समझ गए कि मैं हूँ। “पशुपति रोज-रोज क्यों आता है?”

मैं तब तक उनका चेहरा नहीं देख पाया था। जब मुह घुमाया देखा। वह चेहरा डरा हुआ। हाथ का गोला फूल काँप रहा है। दबे हुए पर द्रुत स्वर में बाबा न स्वयं ही कहा, “मुझे मालूम है क्यों।” सिर झुका कर जोड़ दिया, ‘व लोग मुझे अन्दमान ले जाना चाहते हैं। ले जाने के लिए ही पशुपति आया है।’

मैंने कहा, ‘नहीं तो। सिफ थोड़े दिन पहले ही तो वे लोग अन्दमान से लौटे हैं।’

बाबा ने बिह्वल भाव से सिर हिलाते हुए कहा, “मुझे पता है।”

मैं जार देकर चला, “आप गलत समझ रहे हैं। आपको वे लोग सहयोगी के रूप में पाना चाहते हैं। आपको भी वे लोग आदोलन में उतारना चाहते हैं।”

या उनके जैसा नहीं हैं ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक ! मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था । कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन में बोल रहा था, "तुम्हारे जैसा बिल्कुल नहीं हैं मैं । क्यों होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा । एकदम झकानक माहर्न ! कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नहीं ।"

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे । अस्पष्ट अर्थहीन भाव से ।

पशुपति उतना सब देख नहीं रहे थे । बोले, "क्या पढ़ते हो ? दो एक किताबें ले आओ तो । आजकल के कोर्स में क्या है, सब मालूम भी तो नहीं है ।"

"सारी किताबें तो उसके पास नहीं हैं," जल्दी से तुम बोल पड़ी, "खरीद नहीं पाया है ।"

"क्यों नहीं खरीद पाया ?" पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया । उन्हें दोबारा पूछना नहीं पड़ा, क्योंकि इस बार मैं चेहरे की वह सरस हँसी मिटा, छल-छलाती आँखों से देखता रहा न ।

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनों ने ही मौन भाषा में तय कर लिया था कि बात-वात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुःखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव साटा रहूँगा, बदलता रहूँगा ।)

मैं बड़े कष्ट भाव से देखता रहा न । इसलिये पशुपति ने आगे कुछ नहीं पूछा । पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया । थोड़ी देर बाद बोले, "परीक्षा कब है ?"

"बिल्कुल नज़दीक है । फीस भी अभी नहीं दिया गया है ।" इस बार भी तुमने ही कहा । यह शहर क्या है माँ ! किस यद्भुत तरीके से एक छुईमुई सी गृहवर्ध के मुख से आवश्यक बातें कहला लेता है !

इस बार पशुपति ने कारण भी नहीं जानना चाहा सिर्फ बोले, "ओ !"

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया । मुझे करने के लिए कहा । मृदु स्वर में बोली, "फिर आइएगा ।"

"जरूर आऊँगा । इतना बढ़िया खाना खिलाया तुमने, नहीं आऊँगा क्या ?" पशुपति बोले 'और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लास्य में तो आऊँगा ही ।' चले गए हँसते-हँसते । बाबा बैठे ही रहे । उनका सिर हिलना बंद हो गया था । सिर्फ आँख उठाकर देखा ।

और उसी समय माँ, तुम बोल पड़ी, "बरे ।"

मैंने तुम्हारी ओर देखा ।

आँचल की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, "उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छह आना तो रह ही गया । लौटाया नहीं गया ।"

मैं देखता रहा । कुछ बोला नहीं । तुमने बाबा की ओर घुप । तुमने जल्दी से कहा 'शायद भूल गए हो ।' हमनो



उस दृश्य तुम सिर्फ एकबार बात करती हो। अब तुम हँस रही हो, याने हँसने की कोशिश कर रही हो।—“कोई बात नहीं फिर तो आएंगे ही।”

“उम्हें याद नहीं रहा होगा।” बोला था मैं। बात शायद ठीक थी, पर आशिक ही। तुम्हें बखूबी याद था। बचे हुए ऐसे तुम्हारे होखो-हवाश में साड़ी के छोर से बंधे थे। यह मैं नहीं कह पाया। देटा होकर माँ से भला ऐसी बातें कही जा सकती हैं।

बाबा सिर्फ ताकते रहे। देखते रहे, लगातार चार दिन कि पाँच दिन तक ठीक याद नहीं, पशुपति याने ताऊजी आ रहे हैं, जा रहे हैं। किसी दिन खुद ही सामान ले आ रहे हैं, तो किसी दिन आते ही नोट बढ़ा दे रहे हैं। कितने किस्म के पकवान, उसकी महक, आह! खिडकी के बाहर से झाँकता हुआ वह मिछारी दैत्य। पाली के ऊपर झोंपा होकर सब कुछ चाट-चाट कर खा रहा है।

बाबा के साथ भी ताऊ जी की डेर सारी बातें होती। पहले की बातें, बाद में क्या होगा। वे सब बातें। सिर्फ एक दिन देखा, ताऊ जी हाथ में एक बहुत बड़ी हिल्ला मछली लेकर घुस रहे हैं, धीरे बाबा सिर्फ तिरछी नज़र से देखकर चुपचाप बाहर निकल जा रहे हैं।

खाना पकता रहा। ताऊ जी कागज पढ़ते रह। शुरु में कुछ भी अटपटा-सा नहीं लगा था। कितने तरह के काम से ही तो आदमी, ‘अभी आता हूँ’, कहकर निकल जाता है। शायद बाबा नीचे भुसलखाने में गए हों, पर खाना बन जाने के बाद तुमने मुझसे कहा, ‘कहाँ गए वो? देख तो! और उसी समय ताऊजी अचानक मानो चौंकते हुए बोले, “वास्तव में, प्रणव गया कहाँ?”

मुझे पता था कहा।

\*

\*

\*

गंगा के पानी में मर गति से एक के बाद एक फूल बहते जा रहे थे। बाबा झुककर दो-एक फूल उठाकर सूँघ रहे हैं। मेरे पाँव की आहट पाते ही समझ गए कि

“पशुपति रोझ-रोझ क्यों आता है?”

तब तक उनका चेहरा नहीं देख पाया था। जब मुह घुमाया देखा। वह

हाथ का गोला फूल काँप रहा है। दबे हुए पर द्रुत स्वर में बाबा

“... है क्यों।” सिर झुका कर जोड़ दिया, ‘वे लोग मुझे

... जाने के लिए ही पशुपति आया है।”

थोड़े दिन पहले ही तो वे लोग अदमान से

झूलाते हुए कहा, “मुझे पता है।”

समझ रहे हैं। आपको वे लोग सहयोगी के आंदोलन में उतारना चाहते हैं।”

या उनके जैसा नहीं है ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक । मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था । कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन में बोल रहा था, “तुम्हारे जैसा बिल्कुल नहीं हूँ मैं । क्यों होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा । एकदम झकाझक माहर्न । कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नहीं ।”

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे । अस्पष्ट अर्थहीन भाव से ।

पशुपति उसना सब देख नहीं रहे थे । बोले, “क्या पढ़ते हो ? दो एक किताबें ले आओ तो । आजकल के कोस में क्या है, सब मालूम भी तो नहीं है ।”

“सारी किताबें तो उसके पास नहीं हैं,” जल्दी से तुम बोल पड़ी, “खरीद नहीं पाया है ।”

“क्यों नहीं खरीद पाया ?” पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया । उन्हें दोबारा पूछना नहीं पड़ा, क्योंकि इस बार मैं चेहरे की वह सरल हँसी मिटा, छल-छलाती आँखों से देखता रहा न ।

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनों ने ही मौन भाषा में तय कर लिया था कि बात-बात में करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुःखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव साता रहूँगा, बदलता रहूँगा ।)

मैं बड़े कष्ट भाव से देखता रहा न । इसलिए पशुपति ने आगे कुछ नहीं पूछा । पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया । थोड़ी देर बाद बोले, “परीक्षा कब है ?”

“बिल्कुल नजदीक है । फीस भी अभी नहीं दिया गया है ।” इस बार भी तुमने ही कहा । यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके से एक छईमुई-सी गृहवर्धक मुझ से आवश्यक बातें कहला लेता है ।

इस बार पशुपति ने कारण भी नहीं जानना चाहा, सिर्फ बोले, “ओ ।”

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया । मुझे करने के लिए कहा । मृदु स्वर में बोली, “फिर आइएगा ।”

“जरूर आऊँगा । इतना बढ़िया खाना खिलाया तुमने, नहीं आऊँगा भला ?” पशुपति बोले “और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लालच में तो आऊँगा ही ।” चले गए हसते हसते । बाबा बैठे ही रहे । उनका सिर हिलना बंद हो गया था । सिर्फ आँख उठाकर देखा ।

और उसी समय माँ, तुम बोल पड़ी, “जरे ।”

मैंने तुम्हारी ओर देखा ।

आँचल की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, “उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छह आना तो रह ही गया । सोटाया नहीं गया ।”

मैं देखता रहा । कुछ बोला नहीं । तुमने बाबा की ओर देखा । बाबा भी चुप । तुमने जल्दी से कहा “शायद भूल गए हो ।” हमसोम कुछ नहीं बोल रहे हैं ।

जा रही हो। और चूँकि बाबा ने शुरू से अन्त तक चुप्पी साध ली थी, शायद इसलिए तुम्हें भी ज़िद चढ़ गई थी। प्रत्येक शब्द पर बल देने हुए कह रही थी, “तुम्हारी नाटक मण्डली के और लोगो से कुछ भी कहो, बहुत बेहतर है। उन लोगों ने ज्यो ही देखा तुम गिर गए हो, त्यों ही तुम्हें छुड़ा दिया। छुड़ा ही दिया है न ?”

चूँकि तुम समझ चुकी थी कि बाबा के मुँह से कुछ भी नहीं फूटेगा, सो शह पाने के लिए तुमने मेरी ओर देखा था। और मैं बाध्य अनुगत मेरे सिवा तुम्हारा और है कौन ? तुरंत दोवार की छिपकली के स्वर में स्वर मिलात हुए बोला था, ठीक-ठीक।

(ये पशुपति लोग, मेरे दिल ने भी कहा था, मानो कहानी के गोपाल भैया जैसे हैं। मानो अकास के महीने में एक खेप बारिश हो। अचानक भिगा कर चले जाते हैं, जिला जाते हैं। मारते भी हैं क्या ?)

\*

\*

\*

दुनिया के सामने अनावृत हो जाने की वह बात तो बाद में। एक दूसरे के सामने भी तो हम लोग नग्न हो गए थे। वही भयकर था। आज भी सोचते हुए शर्म आती है। इतना झूठ उस समय बोला है, वैज्ञानिक अनगस। बाबो घाले से लेकर मोदी, मोदी से लेकर सारे तकादे वालों से, सबसे। इकट्ठा करने पर झूठ का पहाड़ खड़ा हो जाता। कभी तुमने कहा, कभी मैंने। पृथ्वी के कहाँ तो छह महीने की रात है न ? इस परिवार में भी उसी तरह का एक अभावत उत्तर आया था।

वल्कि बाबा ही बच गए थे। शारीरिक कष्ट के सिवा दूसरे सब तरह के कष्ट से विधाता ने उन्हें मुक्त कर दिया था। शायद आशा-वासना-मोह इन सबसे मुक्ति। यह कृपा सबको नहीं मिलती है।

पर नहीं, लगता है जल्दी सिखने के फेर में थोड़ा गलत लिख गया है। यह सही है कि बाबा का शरीर निर्जीव होता जा रहा था, पर मन ? कभी ऐसा लगता, बाबा की अनुमति इच्छा आदि समेत, अस्तित्व के किसी निलिप्त स्तर पर पहुँच गये हैं। कभी ऐसा लगता, उनके शरीर में जितनी यंत्रणा है, मन में उससे कम नहीं। सजीव, उत्सुक दोनों आँखें सिर्फ चारों ओर कुछ टटोलती फिरती। पर क्या दूढ़ती फिरती थी हम क्या समझ पाते थे ?

“नही, नहीं,” झुक कर पानी छूकर बाबा ने सहमते हुए हाथ हटा लिया। फिर भरीए हुए स्वर में कहा, “मुझे ठंड लगेगी न। मैं नहीं उतरूँगा।”

धीरे-धीरे उठे उठाकर मैं अपने साथ ले आया। रास्ते में बड़बड़ाते हुए बाबा ने कहा था, “उनके पास अभी बहुत पैसा है न, इसलिए दानो हाथों से उड़ा रहे हैं। यह सब पुराने जमाने के स्वदेशी डकैती का रूपया है।”

\*

\*

\*

पशुपति हम लोगों को देखते ही उठकर खड़े हो गए। “अच्छा ही हुआ, भेंट हो गयी। मैं कुछ दिन आ नहीं पाऊँगा प्रणव।” रहस्यमय हँसी-हँसते हुए बोले, “आसाम के जंगल में जा रहा हूँ।”

बोलते-बोलते वे पाँच बड़ा चुके थे। घूमकर देखत हुए बोले, “सारा इन्तजाम ठीक ठाक करके लौटूँगा सो पाच-छह महीने तो लग ही जाएँगे। उस समय तक आशा है तुम बिल्कुल चगे हो जाओगे प्रणव। उस समय तैयार रहना।”

बाबा के होंठ काँप रहे थे। क्या कहा समझ में नहीं आया। मोटी-मोटी उँगलियों से मेरी कमीज पकड़े हुए थे। आशय चाह रहे थे? जकड़ कर पकड़े रहना चाह रहे थे?

पर वह लिफाफा, विस्तर के ऊपर पड़ा हुआ था जो। नोट भरे लिफाफे को साऊ जी क्या फिर गलती से ही छोड़े जा रहे थे? उन्हें क्या याद नहीं था? जल्दी से हाथ बड़ा कर लिफाफा उठे थमाने गया। उन्होंने एक स्वर्णय हँसी चेहरे पर फैलाते हुए कहा, “रहने दो।”

“रहने दो,” कहना ही काल बना। हम लोगों के लिए एक भयंकर घटना थी। उस भिखारी ने कमरे में उठग बैठते हुए उस “रहने दो” को अच्छी तरह से सुना। गद्गद मुस्कान के साथ उसका चेहरा खिस गया। उसने मुह से सार टपकने लगी थी।

इतनी देर बाद मा तुम आगे बढ़ आई। थोड़ा तिरस्कार भरे स्वर में मुझे देखते आगे बढ़ आई। थोड़ा तिरस्कार भरे स्वर में मुझे देखते हुए कहा था, “लिफाफा वापस क्यों करने गया था?”

‘सोचा, शायद गलती से’

“गलती से नहीं। जानबूझकर। जानबूझकर ही छोड़े जा रहे थे। मुझे मालूम था।”

“पता था?” मेरे आश्चर्य की कोई सीमा नहीं। “कैसे जाना?”

“मुझे बताया था न। कहा था, “बहु अगर कुछ विचार न करो तो इसे रख तो। तुम्हारा लडका इतना होशियार है। ऐसे के अभाव में उसकी पढ़ाई में नुकसान हा यह मैं नहीं चाहूँगा।”

“दुनिया में अभी भी ऐसे लोग हैं!” अभिभूत, उच्छ्वसित-सी तुम बोलती ही

जा रही हो। और चूँकि बाबा ने शुरू से अन्त तक चुप्पी साध ली थी, शायद इसलिए तुम्हें भी ज़िद चढ़ गई थी। प्रत्येक शब्द पर बल देने हुए कह रही थी, “तुम्हारी नाटक मण्डली के और लोगो से कुछ भी कहो, बहुत बेहतर है। उन लोगों ने ज्यों ही देखा तुम गिर गए हो, त्यों ही तुम्हें छुड़ा दिया। छुड़ा ही दिया है न?”

चूँकि तूम समझ चुकी थी कि बाबा के मुँह से कुछ भी नहीं फूटेगा, सो शह पाने के लिए तुमने मेरी ओर देखा था। और मैं बाह्य अनुगत मेरे सिवा तुम्हारा और है कौन? तुरंत दोबार की छिपकली के स्वर में स्वर मिलात हुए बोला था, ठीक-ठीक।

(ये पशुपति लोग, मेरे दिन ने भी कहा था, मानो कहानी के गोपाल भैया जैसे हैं। मानो अकाल के महीने में एक खेप बारिश हो। अचानक भिगो कर चले जाते हैं, जिला जाते हैं। मारते भी हैं क्या?)

\*

\*

\*

दुनिया के सामने अनायुत हो जाने की वह बात तो बाद में। एक दूसरे के सामने भी तो हम लोग नंगे हो गए थे। वही जयकर था। आज भी सोचते हुए शर्म आती है। इतना झूठ उस समय बोला हूँ, वेसिन्नक अनगल। बाबी वाले से लेकर मोदी, मोदी से लेकर सारे तकादे वालों से, सबसे। इकट्ठा करने पर झूठ का पहाड़ खड़ा हो जाता। कभी तुमने कहा, कभी मैंने। पृथ्वी के कहाँ तो छह महीने की रात है न? इस परिवार में भी उसी तरह का एक अनावस उत्तर आया था।

बल्कि बाबा ही बच गए थे। शारीरिक कष्ट के सिवा दूसरे सब तरह के कष्ट से विधाता ने उन्हें मुक्त कर दिया था। शायद आशा-वासना-मोह इन सबसे मुक्ति! यह कृपा सबको नहीं मिलती है।

पर नहीं, लगता है जल्दी लिखने के फेर में थोड़ा गलत लिख गया हूँ। यह सही है कि बाबा का शरीर निर्जीव होता जा रहा था, पर मन? कभी ऐसा लगता, बाबा की अनुमति इच्छा आदि समेत, अस्तित्व के किसी निःसिप्त स्तर पर पहुँच गये हैं। कभी ऐसा लगता, उनके शरीर में जितनी यत्ना है, मन में उससे कम नहीं। सजीव, उत्सुक दोनों आँखें मिर्फ चारों ओर कुछ टटोलती फिरती। पर क्या डूढ़ती फिरती थी हम क्या समझ पाते थे?



वे सब दिन । तुम मुझे समझने देती, मैं तुम्हें समझने देता । आसपास रखी हुई दो किताब—खुले पन्ने । हवा में दोनों के ही पन्ने उड़ रहे हैं । या फिर दो जने एक ही घाट पर झूब मरने उतरे हो । उस समय दोनों के बीच कितनी साज शरम रह जाती है ? उपमा दर उपमा । ह्येसियाँ अगारे की तरह जलने लगी हैं । रहने दो और उपमा नहीं दूँगा ।

अमानिशा की बात थोड़ी दूर पहले सिखा था, पर इतना भर कहना भी आशिक होगा । अवकार जहाँ सम्पूर्ण हो, वहाँ तो वह शालीन और पवित्र है । पर इस अधेरी आकाश में भी लुब्धक नक्षत्र जलता रहता । पशुपति वैसा ही थोड़ा सा लालच दिखा कर चले गए । वही है धक्-धक् लुब्धक । रात को जिस समय सूखी-राटी और दूध नहीं, चबाते हुए दाँत तक हिस जाएँ, उस समय बासमती चावल की सुगंध न जाने कहाँ से आकर नयुने से टकराती । उस सुगंध का नाम स्मृति है, सपना भी है ।

व्यपित दृष्टि से हम एक दूसरे की ओर देखते रहते । कोई बातनाप नही, आँख के इशारे से संकेत बदलते । कोई बातचीत नहीं, सिर्फ एक उम्मीद कौंध जाती । उस आशा का नाम क्या है ? एक सपना खिलता है । उस सपने के आकार को क्या हम दोनों हम दोनों ही देख पाते । पशुपति या फिर उसके जैसा ही कोई और आया है । नोट बढ़ा दिया है । बटल के बटल नोट । वे सारे नोट बह रहे हैं । वे सारे नोट बिस्तर पर बिछरे पड़े हैं । उनमें से एकाग्र नोट उठा कर बाजार जा रहा हूँ । थैला, भर कर मछली, गोश्त लेकर आ रहा हूँ । अविश्वसनीय घटनाएँ असम्भव एक महोत्सव । हम लांग गोश्त खा रहे थे । भरे हुए ढेर सारे कटोरे, मानो जलतरंग के हो, जिन्हें छूते ही रंग और महक से टुनटुना उठते । इसी तरह के ढेर सारे सपने देखा करता ।

माँ, यही तक सब कुछ रोमांटिक है, काव्य है भले ही भोजन को लेकर ही क्यों न हो, फिर भी काव्य ही है, उनवासी का हाहाकार करता हुआ संगीत । न जाने कितने दिनों तक भरपेट खाने को नहीं मिला है । स्वप्न भरे उन आँखों से

मानता हूँ आँसू टपक पड़ते हैं, पर वही सपना सार बनकर थाली में क्यों टपकने लगता ?

पर कोई भी नहीं आया। ईश्वर का शायद यही एक रहस्य है। निर्धारित एक विधान। एक ही तमाशे को वह दो बार नहीं दिखाता है। फिर कोई नहीं आया, बल्कि हमो लोगो को जाना पड़ा। उससे पहले सन्दूक में रखे हुए सिंदूर पुते स्पष्ट—असली चाँदी के सिक्के साथ चले गए।

तुम सरल थी। तुम बहुत ही बुद्ध भी थी। माँ ! भात परोसते समय उतनी सुक क्यों जाती थी ? करना शायद मुझे और बेर से ही पता चलता कि तुम्हारे दोनों हाथ ही खाली हो गए थे।

दबे स्वर में बोला था, माँ, तुम्हारी चूड़ियाँ !”

एक सेकेंड का शायद समय लेकर तुमने कहा था, “छोल कर रख दिया है। क्या होगा चूड़ो पहन कर। मैं मैं तो बूढ़ी हूँ।” थोड़ी फीकी-सी हँसी, हँसी थी।

मैं सीधा सादा, बुद्ध, तुरन्त खाना खाने लगा था। मुझे खाते देख तुमने थाढ़ा मुझे छेड़ते हुए कहा था, “घेतान कहीं का ! हर तरफ नजर मारता है। वे उन सब चूड़ियों के डिजाइन पुराने हो गए थे। आज कल कौन वैसा पहनता है। पड़ोस की बहू को दी हूँ, नई डिजाइन के बनवाने के लिए। सुनार उसका जान-पहचान वाला है। तुडवा कर नया बनवाऊँगी। तेरी जब दूल्हन आएगी, एकदम मुडिया ली। मैं ही पसन्द करके लाऊँगी। उस समय उसे पहनाऊँगी।”

पर झूठ, सब झूठ था। बहुत से झूठ मीठे होते हैं, और कभी-कभी सच से भी ज्यादा जरूरी भी। पर झूठ के साथ एक दिक्कत है कि बहुत जल्दी सिल जाता है, छूट जाता है, कई सुन्दर चीजों की तरह, जैसे इन्द्रधनुष, फूल बगेरह-बगेरह। झूठ की उम्र सम्झी नहीं होती। उम्र अगर सम्झी होती तो तुम बीमार क्यों पड़ती और पड़ोस की बहू मुझसे कहने ही क्यों जाती कि तुम्हारी माँ न अब तक चूड़ियाँ छुडवायी नहीं, पर जिसके पास है, वह बार-बार कह रहा है, छूड़ाने के लिए, नहीं तो वाद में बेच देगा। माँ से कह देना।

तुमसे कहा मैंने। फीके पड़े चेहरे-चेहरे से मुना तुमने। पर कहा कुछ नहीं।

चूड़ियाँ चली गयीं। उसके बाद वह गिन्नी, जिसे मुह दिखाई में तुम्हारे किसी पेटे वाले ठाया ससुर ने दिया था, गिन्नी के समय किसी झूठ का आवरण नहीं रहा। बीमारी के कारण तुम काफी कमजोर हो गयी थीं, इसीलिए कहा था, “वह बहू मुझे ठग रही है। चूड़ियाँ बिकी, पर एक चेता ऊपर से नहीं दिया। तू खुद जाकर बच सकेगा ?”

“क्या कहती हो मत्ता बेच नहीं सक्ती ?”

तुम्हारे हाथ काँप रहे थे, मेरे हाथ में गिन्नी पमाते समय।

लालची की तरह, व्यवहूफ की तरह, गोस चकती को घुमा फिरा कर देख रहा था मैं। मेरी भी आँखें चमकने लगी थी, “कितने का होगा ?” पूछा था मैंने, घुटे, लसचाए उत्तेजित स्वर में।

‘कितने का होगा ?’ तुम्हारा चेहरा सफेद पड़ गया। उस समय कहाँ मालुम था कि दुनिया का सबसे कड़वा सवाल मैं तुमसे पूछ रहा हूँ ? इसलिए तुम्हारा चेहरा मूछ गया। मुह घुमा गर कहा था, “क्या पता, मेरे पास किसी चीज की कोई कीमत नहीं रह गयी है।”

और दाम ? उसन तो पन्द्रह-बीस रुपए बताए थे। रस्ती के हिसाब से या बटखरे के हिसाब से ?

यह देखो माँ, मैं लौट आया हूँ। देखो माँ, मेरी जेब में रुपए खनक रहे हैं। बहुत से रुपए। पर उस तरह देखे क्यों जा रही हो तुम ? तुम्हारी आँखें चमकने लगी हैं। तुम क्या सपट पढोगी। कहोगी, “दे, दे दे” और फिर छीन लोगी ?

“कितने हैं ?”

‘उन्नीस।’

उन्नीस। मैंने क्या कहा उन्नीस ? पर मैंने तो कहना चाहा था बीस ? विश्वास करो माँ, विश्वास करो। बीस ही कहना चाहा था, पर मुह से किसस गया उन्नीस।)

“उन्नीस ?”

“इस तरह पूछ क्यों रही हो ?” मेरी आवाज कांप रही है।

“उन्नीस हटा हुआ हिसाब है न। इसलिए बीस नहीं पच्चीस नहीं, उन्नीस ?”

“तुमने काज का अखबार नहीं देखा है। सोने का बाजार-भाव नहीं पता है ? पढ़ने पर आवाज और ज्यादा कांपने लगी है। मैं तुतलाने लगा हूँ। डर कर तुम्हारे हाथ में रुपए अल्बी से थमा देना चाह रहा हूँ, ‘यह ला, रखो।’”

हाथ बढा कर भी तुमने उसे पाछे हटा लिया। तुम्हारी आँखों में भी मय है, स्वर तुम्हारा भी आत है। “रहने दे। तेरे पास हा रहने दे।

डरते हुए तुम्हारी ओर देखता हूँ, कहा, अविश्वास की कोई रेखा वहाँ कहाँ है ? मैं मैं शायद अब समझ सका हूँ।

अगर मुझे पहले से पता होता, तो शायद एक रुपया पहले से हटा कर नहीं रखता। वह गिनी दादा की थी, इसलिए हाथ सगाने में भी तुम्हें इतना सकोच था। तुमने अपनी हथेली की तो वचा लिया पर मेरे शरीर में तो फफोले पड़ गए। तुमने मुझे यह कौन-सी सजा दो माँ ? मृत के प्रति इतनी ममता। ठीक है, जितनी मरजी, अपने मन में रखो, पर इसका मतलब यह तो नहीं कि जीवित के प्रति इतनी निष्ठुर हो जाओगी ? इतना पक्षपात क्यों ?



ठीक है, शोध लेना मुझे भी आता है।

यह देखो न ! दौड़ रहा हूँ। इस समय भी दौड़ रहा हूँ। दौड़ते हुए एक मनिहारी की दूकान के सामने खड़ा हो गया हूँ, और हाँफते हुए बोल रहा हूँ, "तरल बालता एक शीशी।" शीशी हृय में आते ही गीढ़ पड़ता हूँ। एक रुपया फेंक कर दौड़ पड़ना हूँ। पीछे से दूकानदार आवाज लगाता रह जाता है, "अरे ठहरो, ठहरो ! इसकी कीमत तो सिर्फ छह आना है।" पर कौन किसकी बात सुनता है।

घर लौटकर, "माँ, तुम्हारे दोनों पैर देखू।"

"पैर ? इस समय ? क्या रे ?"

'देखू न ! एक बार। सिर्फ एक बार।' कहते हुए शीशी तुम्हारे पाँव के पास ले आता हूँ।

"कहाँ से ले आए ?"

'खरीद कर लाया हूँ।'

"क्यों ? इतनी रात को ?"

"तुम लगाओगी, इसलिए। लगाओ न माँ इसी समय।"

तुम्हें काफी अवाक होने का मौका भी नहीं मिला था, "इस वक्त, यहाँ रसोई में ? पगला कहीं का।" हाथ बढ़ाकर मेरी ठुड्डी पकड़ते हुए कहा था, "देख नहीं रहा है, इस समय खाना बना रही हूँ ? फिर अब तो वह सब लगाना छोड़ भी दिया है।"

"लगाना ही होगा।"

मेरी आँखों की ओर देखते ही न जाने क्या पड़ लिया। शीशी हाथ में लेकर कहा, "ठीक है, लगाऊँगी कल सुबह।"

उस दिन रात का वह सपना। चाँदी का एक रुपया गलकर पिघल रहा है। एकदम सा। तुम्हारे पाँव में मैं उड़ते जा रहा हूँ।

फिर से तुम मेरी हो गयी। यह एक मजबूत बात है न ? एक जन चला गया है, पर बीच-बीच में लौट आता है। और जो रह गया है, वह भी बीच-बीच में चला जा रहा है। फिर भी लौट जाता है। लौट आना ही पड़ रहा है। पाप धुन जा रहा है, अनुताप से। उसका समर्पण अन्तिम प्रणाम में है।

सा जाने-आने में कोई विरोध नहीं है। जो चला गया और जा है, उनके बीच कोई ईर्ष्या और द्वेष नहीं है।



“हालाँकि,” आँख बन्द करके मैं मृत्यु स कह रहा हूँ, “और अधिक आयु पर मेरा अधिकार नहीं है, क्योंकि अब मेरा जीवित रहना सिर्फ दिन के समय एक सफेद चादर फैलाना और हर रात को उसे काले कम्बल से ढक देना है। सुबह उठा लेना, रात को ढक देना इसी तरह क्रमागत एक सीक पर। मुझे मालूम है, इसलिए शा त मन से नए दिगन्त के समय निकल जाने में कोई आपत्ति नहीं थी। विशेषतः जब सभी कार्य-अकार्य किए जा चुके हैं, पर थोड़ा-सा काम अभी बाकी जो है। उत्सग-पत्र लिखना है। एक या कई। इहकाल में किसके, किसने रहा, किन्हे पाया, किन्हें और क्या? यह सब कुछ मृत्यु-दंडित व्यक्ति की अन्तिम इच्छा है।

उस जाड़े में थोड़ा-सा समय माँग लिया था। उसके बाद अनर्गल लेखन से न जाने कितने पन्ने पर पन्ने भरते चले गए थे। अभी भी किनारे के आसपास भी नहीं पहुँच रहा हूँ। जाड़े में आस गिर रहे थे, इसलिए शुरू के पन्ने नीले-नीले से हो जाते। उसके बाद चैत्र आया, रूखा रंग, सूखा धूल, लेखन को निपटूर बना दे रहा था। पर मैं फिर आघात आया है, रह-रहकर बूढ़ा-बूढ़ी, टप-टप् आँसू की तरह सर रहे हैं। पता नहीं सारे अक्षर उस पानी में घुल जाएंगे या नहीं।

फिर भी लिखता जाऊँगा, लिखना ही होगा। अभी तो आश्विन को आना है। मेरे सुनहरे-हरे दिन। हरसिंघार की सुगन्ध से खिलखिलाया हुआ आश्विन। वह आकर इस रचना को नीले-मुलायम आकाश के रंग में डुबो-डुबो देगा। एक एक ऋतु में एक-एक तरह का रंग लेगा, यह उमोचन। यह काल-परिक्रमा यह उत्सग। कभी मधुर, कभी सित्त, कभी तित्त, कभी बिरस होना—ऋतुओं को छाप को हम लोग बदल नहीं सकते हैं।

खोपा हुआ सूत्र कहाँ से पकड़ूँ? सपना में जिस समय रक्त और आसता में मिस गया, सोट जाऊँ वही पर? स्वप्न वही एक तो नहीं था, और भी अनेक न समझ में आने वाले दृश्य मेरे तब के नींद भर आकाश में छा गए थे।

कलकत्ता कुछ देगा नहीं। अभी भी किसी तरह सिफ पाँव टिकाए रहा जा सकता है। पर यह शहर हम लोगों को सिर उठाने नहीं देगा। धीरे-धीरे उसका आकार छोटा होता जा रहा है। सब कुछ जितना घुटन भरा होना लगा था, मैं उतना ही कही चले जाने की आदत डालने लगा। स्वयं के ही घनाए हुए एक विकल्प दुनिया में।

या फिर वह दुनिया बनी जिसमें छत थी। कमरे में बहुत गरमी लगन पर वहाँ चला जाता, बरना नहीं। या फिर पाक। घर पर बेचैन हो उठा तो दौड़ पड़ा चुली हवा में। नरम घास पर सेट गया। बरना नहीं।

अबब देश में जकेले अमला ही नहीं गयी है, सब जात हैं। सिर्फ एक जन को बात नहीं लिखी हुई है। जब तब निकल पढ़ने का नशा क्या उस समय से ही मूँह पर हावी हो गया था क्या। दूर-दूर जगहाँ पर घूमते रहने का नशा? वेदन



फिर आहिस्ता-आहिस्ता बोली, “कितना अच्छा लिखा है रे तू ! इस तरह, इस तरह कोई ओर भी लिखता है न ?”

मैं बुद्ध, उस दिन विश्वास कर गया। स्नेह ममता से लिपटी हुई बातों को निगलता हूँ। दिनयपूर्वक या फिर दयावश कहा था, “बयो बाबा ?”

“वे तो दूसरों को लेकर लिखते हैं। वह सब बड़ी दूर की चीज लगती है। तुमने किसको बात लिखी है, मालूम नहीं, पर तुमने जो कुछ लिखा है, अपने ढंग से लिखा है।”

मैं विश्वास कर गया।

तुम्हारे हाथ से कागज खींच लिया। बोला, “किसी मासिक अथवा साप्ताहिक पत्रिका में भेज दूँगा। मेरी कविता छपेगी, देखना।”

देखा था तुमने, पर कितना ! मैं तो उसके बाव सात दर सात उस छपने की कीमत रोज देख रहा हूँ।

\*

\*

\*

मौ, इस समय मार्च का महीना है। अतीत के जल स्रोत की धारा में बहते हुए इस माह में आकर शब्दों को थोड़ा ठीक से सवार लेना चाहता हूँ। इस समय कोहरा नहीं है। हवा में थोड़ी सी तपिश है और मैं जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ, वहाँ का बाग, बराबरा सूखे पत्तों से मर्मरित है। फिर भी दिन भर की उमस के बाद शाम सुहानी ओर शेष रात विशेष रूप से शांत। ठंड-ठंड सी लगती। बदन में झुरझुरी उठती। उस समय पाँव से चादर खींच बदन ढँप लेता। लिखत-लिखत ही एक उपमा दिमाग में आ गयी। उसे लिख दूँ ? हाँ, कि उस समय उपमा का बणन किसी गुर्वजन के सामने करना उचित नहीं है। लगता है जैसे मार्च महीना कोई युवती है, जिसकी किसी रुस-उजड़ स्वरूप के साथ हास हाँ में शायी हुई है, पर वह युवती अपने स्निग्ध स्वभाव पूर्वप्रणयी को अभी भी भूल नहीं पायी है।

खैर, उस दिन पूरी बात यहाँ लिख पाया था। उस न लिखने पर बात अगूरी ही रह जाएगी। दबे पाँव आकर तुम मरे पीछे पड़ी हो गयी थी। मैं हँसा था, “फिर से पढ़ कर सुनाना पड़ेगा क्या ? पर नया तो कुछ लिखा नहीं है।”

बहुत कुण्ठित होकर कहा था, “नहीं नहीं, वह बात नहीं है।”

“तो फिर ?”

साड़ी के छोर को उमेठते हुए शायद तुम शब्दों को ढूँढ रही थी। “तु तू बहुत बढ़िया लिखता है।”

(वह तो लिखता ही हूँ। उससे क्या। क्या कहना चाहती हो कह डालो)।

“सवार कर कुछ चिट्ठियाँ लिख सकोगे ?”

“चिट्ठी ? किसे ?”

“बताती है। हमारे कुछ रिश्तेदार हैं ? बहुत दिनों से किसी की खोज-खबर नहीं ली गयी। न हम लोग की खबर उधे मिलती है।”

धूमता रहता था। कभी रेल थोड़ा, ठक या फिर किसी-किसी दिन रेल लाइन को सीधे पर बहुत दूर तक निकल जाता।

यह सब पागलपन था। पर ज्यादा दूर तक जाना नहीं हो पाता था, लौटना ही पड़ता था।

माँ, विक्लव जगत की बात कहते-कहते यह देखो कहाँ आ पहुँचा हूँ। विक्लव, यान कल्पना। याने मनगढ़त यही न? उस समय मैं क्या किया करता था?

बता रहा हूँ। मान लो एक पुलिया है। कितो घाट पर आकर जब देखा, नहर के पूरे शरीर में ज्वार का तेज बुझार पड़ा हुआ है, आँख बन्द करके तुरंत एक पुलिया बनाकर उस पर से गुजर जाता था। कहाँ? मालूम नहीं।

बैठे विक्लव दुनिया एक और बन रही थी—मेरी रचना। उस समय सिर्फ कविता लिखा करता था, उसे अगर कविता मानी जाए तो। याने कुछ तुकबंदियाँ।

याद है, एक दिन लिख रहा था, कि अचानक चौंक कर मुह धुमाया। तुम्हारे सामने पकड़ा जाने के कारण झेंपा हुआ-सा मैं। “देख रही थी, क्या लिख रहा है तू। मैं तो बड़े पाव आयी थी। तुझे कैसे पता चला कि मैं आयी हूँ?”

तुम लौट जा रही थी। मैंने आँचल पकड़ कर खीचा। “कैसे पता चला?” तपाक स बाल बैठा, “माँ तुम्हारी साँस की खुशबू से।”

पर आज लिखने में कोई हिचक नहीं, उस दिन झूठ बोला था। कोई आया है, यह तो महसूस कर गया था, पर कल्पना की थी वह कोई और होगा। जिसे कभी नहीं देखा था, पर जिसके बारे में निरन्तर सोचता रहता हूँ। बहुत कोमल, बहुत जाक्यक। कोई आकृति पर दृष्टि नहीं है। उससे मैं कल्पना में बातें करता रहता हूँ, गाना सुनता हूँ।

कल्पना। सोचा था उसी का आविर्भाव हुआ होगा। मुह उठा कर देखा तुम हो। हताश ही हुआ था। तुम्हें बताया नहीं।

निराशा ढकने के लिए ही तुम्हारा आँचल पकड़ कर खीचा था। “बैठो न। क्या लिखा है, सुनाओ?”

“पढ़।”

पढ़ता गया। सितारे, फूल, पक्षी, ज्योत्स्ना यह सब तो थे ही, पर समस्त शब्द सज्जा और बणनाओं के आढम्बर के ऊपर उभर आयी एक तस्वीर। किसी कथा की, जो दिव्य थी। जिसके एक एक मोहक स्पर्श की अनुभूति मुझे थी।

पूरी कविता सुनने के बाद तुमने कहा था, “समझा मुझे।” फिर कागज अपनी ओर खींच कर पूछा था, “किसक बारे में लिखा है?”

मैं कितना बड़ा झूठा था। या फिर भेरा दिमाग उस समय दुस्त नहीं था, इसलिए क्या कहते क्या कह बैठा? वह कहाँ जो हो नहीं सकता। “तुम भी तो हो सकती हो?” हसते-हसते बोल बैठा था। “घटूँ।” तुमने भी कम-कम एक पल के लिए विश्वास कर लिया। (झूठ को केवल एक क्षण का आयु मिल गया।)

फिर आहिस्ता-आहिस्ता बोली, “कितना अच्छा लिखा है रे तू ! इस तरह, इस तरह कोई और भी लिखता है न ?”

मैं बुद्ध, उस दिन विश्वास कर गया। स्नेह भ्रमता से लिपटी हुई बातों को निगलता हूँ। विनयपूर्वक या फिर दयावश कहा था, “क्यों बाबा ?”

“व तो दूसरों को लेकर लिखते हैं। वह सब बड़ी दूर की चीज लगती है। तुमने किसकी बात लिखी है, मालूम नहीं, पर तुमने जो कुछ लिखा है, अपने ढंग से लिखा है।”

मैं विश्वास कर गया।

तुम्हारे हाथ से कागज खींच लिया। बोला, “किसी मासिक अथवा साप्ताहिक पत्रिका में भेज दूँगा। मेरी कविता छपनी, देखना।”

देखा था तुमने, पर कितना ! मैं तो उसके बाद सात दस साल उस छपन की कीमत रोज देख रहा हूँ।

\*

\*

\*

माँ, इस समय मार्च का महीना है। अतीत के जल स्रोत की धारा में बहते हुए इस माह में आकर शब्दों को थोड़ा ठीक से सवार लेना चाहता हूँ। इस समय कोहरा नहीं है। हवा में थोड़ी सी तपिश है और मैं जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ, वहाँ का बाग, बराबरा सूखे पत्तों से मर्मरित है। फिर भी दिन भर की उमस के बाद शाम सुहानी और शेष रात विशेष रूप से शान्त। ठंड-ठंड सी लगती। बदन में सुरसुरी उठती। उस समय पाँव से चादर खींच बदन ढँप लेता। लिखते-लिखते ही एक उपमा दिमाग में आ गयी। उसे लिख दूँ ? हालाँकि उस समय उपमा का वर्णन किसी शुश्रूषण के सामने करना उचित नहीं है। लगता है जैसे मार्च महीना कोई युवती है, जिसकी किसी रक्ष-उजड़ु स्वरूप के साथ हास हा में धापी हुई है, पर वह युवती अपने स्निग्ध स्वभाव पूर्वप्रणयी को अभी भी भूल नहीं पायी है।

और, उस दिन पूरी बात वहाँ लिख पाया था। उसे न लिखने पर बात अधूरी ही रह जाएगी। दबे पाँव आकर तुम मर पीछे खड़ी हो गयी थी। मैं हँसा था, “फिर से पढ़ कर सुनाना पड़ेगा क्या ? पर नया तो कुछ लिखा नहीं है।”

बहुत कुण्ठित होकर कहा था, “नहीं नहीं, वह बात नहीं है।”

“तो फिर ?”

साड़ी के छोर को उमेलते हुए शायद तुम शब्दों को ढूँढ रही थी। “तू तो बहुत बढ़िया लिखता है।”

(वह तो लिखता हो हूँ। उससे क्या। क्या कहना चाहती हो कह डालो)।

“सवार कर कुछ चिट्ठियाँ लिख सकोगे ?”

“चिट्ठो ? किस ?”

“बताती हूँ। हमारे कुछ रिश्तेदार हैं ? बहुत दिना से किसी को खोज-खबर नहीं ली गयी। न हम लोगो की खबर उन्हें मिलता है।

“बाहने पर ही मिल सता है। फिर तुम भी तो लिख सकते हो। चिट्ठी, वह भी इतने संवार कर लिखने की क्या आवश्यकता है?”

“है।” तुम्हारी आवाज और नीचे उतर गयी है। तुम हल्का-हल्का घबिने सगी हो।

(माँ, तुम्हें भी बहाना ढूँढना पड़ रहा है?)

‘माँ ढूँढ़-ढूँढ़ कर दा चार पता ठिकाना खोज निकाला है। एक तो हमारे मामा-ससुर हैं। तुम्हारे बाबा जो उ हों ही पाता था। एक मेरी मासि हैं, बचपन में मुझे ”

“पता याद न देना। क्या लिखना है, वही बताओ।”

तुम उस समय भी हल्के-हल्के घबि जा रही थीं। “यान लिखोगे, हम सांगो की घातें। उनकी इतनी बड़ी बीमारी है। बताना तो हमारा भी कर्तव्य है? और फिर तुम्हारी बातें। फालेज में पड़ रहा है। जल्दी ही इम्तहान देने वाला है, यही सब विस्तार में और क्या!”

“विस्तार से लिखने का मतलब?”

“अगर अगर सुना है उन लोग की अवस्था अच्छी है। परीक्षा की बात सुनकर वे लोग फीस के लिए अगर कुछ भेज दें ”

“इसका मतलब भीख माँगूँगा? भीख सूगा?” सुनते-सुनते मेरे कान गरम हो उठे। चिल्लाकर बोल उठा हूँ, “माँ!”

तुम और नज़दीक आ गयी हो। मुझे गध मिस रही है। भयकर गध, “हट जाओ, हट जाओ, मैं सह नहीं पा रहा हूँ।”

“नहीं सकोगे?”

‘नहीं। फिर फीस के लिए तो पशुपति ताऊ से रुपया मिला है। मालूम नहीं, मुझे कुछ मालूम नहीं। इतना घटिया, इतना नीच काम मैं नहीं कर सकूँगा।”

पहले शायद तुम्हारी आँखें छलछला आयी, होंठ काँप गए, उसके बाद क्या आँखों में बिजली काँध गयी? दाँतों से होठों को दबा रखा है तुमने। अपने आप ही थोड़ा पीछे हटत हुए बोली हो, “इसका मतलब है तू मुझे ओछी, नीच कहा? ठीक है, तो बाल अगर साहस है तो मेरी ओर देख कर बोल, जिसकी माँ ओछी और नीच है, उसका पेट का सड़का फिर क्या है? बहुत महान, बहुत सच्चा है न?”

माँ, इतने तज़ स्वर में मत बोलो। इतनी जल्दी-जल्दी भी नहीं। तुम काँप रही हो। दोनों हाथ बढ़ाकर मैं तुम्हें सम्हालने की कोशिश करता हूँ। पर सख्त हाथों से मुझे ढकेलते हुए तीखे स्वर में बोल उठती हो, “छि। मैं ओछी हूँ। मैं नीच हूँ। मुझे छूने से तर हाथ न दे हो बाएँ। मुझे मत छू।”

क्रमशः तुम पीछे हटती गयी हो, दीवार से सट कर बैठ गयी हो। पर क्यों नहीं छुओँ! यह कैसा असम्भव आदेश है! मैं भला क्यों मानने लगा।

‘मा, मैं पत्र लिखूँगा,’ अनुत्पन्न स्वर में कहा था। तुम फिर भी चुप रहीं।



मैं हाथ बढ़ाकर तुम्हारा आँचल पकड़ लेता हूँ, “लिखूंगा, मैं लिखूंगा। क्या लिखना है। एक बार ओर बता दो।”

इस बार तुमने मुझे ठकेला नहीं। बारिश थमने के बाद बादल फटकर थोड़ी-सी धूप। भीगी हुई भोर की आँखें खुलने लगी हैं।

लिख रहा हूँ। अब मैं ढेर-सी चिट्ठियाँ लिखे जा रहा हूँ। दूर-दराज के रिश्तेदारों के नाम से। तुम पढ़ती जा रही हो। कनखी से देख रही हो। बोल रही हो, “ठीक है।” दो एक छतों में तुम दस्तखत कर रही हो, “तूने ठीक ही कहा था रे। बहुत ओछे हो गए हैं हम। सचमुच। पर अपने आप नहीं हुई है। हम लोगो की किस्मत उसी किस्मत ने बलपूर्वक हमारा सिर झुका दिया है। रहकर भी तुम्हारे बाबा नहीं हैं। ईश्वर जानते हैं, हमारा कोई नहीं है। सिर्फ हम दोनों हैं।” अचानक ऊपर की ओर देखते हुए कहा था। “और आकाश के चाँद तारे सुन रहे हैं। वे लोग गवाह हैं, अपने लिए तो कुछ नहीं। जो कुछ किया, सब तरे लिए, ताकि तुम जी सका, सिर उठाकर चल सको। जो सिर आज झुक गया है, वही एक दिन फिर से ऊँचा होगा। देखना, मेरी एक-एक बात एक दिन सच होगी। तुझे पूरा पर कहती हूँ। बेटे को झुकर कोई माँ कभी झूठ बोल सकती है भला।”

तुमने हठ स्वर में उच्चारण किया था। उस समय उसे खुले आकाश के नीचे मैं सिरे से काँपे जा रहा था।

ग्लानि, तुम्हारे चेहरे की हँसी में ढक गयी है। ढकी रहने दो। अपनी तकलीफ के बावजूद तुम्हें कुछ नहीं बहूँगा। अपनी अजित विद्या को व्यावसायिक काम में लगाया हूँ। शुरू में ही सरस्वती की याचिका की भूमिका में उतार दिया। एक तरह की यह भी तो वेश्यावृत्ति है। वही थाप मेरा जीवन भर पीछा करे। उसके अभिशाप को अकेले ही सहन करूँ। आत्म विक्रय के उस अपराध का हिस्सा बनने के लिए तुम्हें नहीं बुलाऊँगा। अब भी नहीं बुला रहा हूँ माँ। न तुम्हें न किसी और को।



मा, चलो अब चलो वहाँ चलो । बाग वाले उस लाल रंग के मकान में । वह जगह इस समय कलकत्ते के साथ घुलमिल गया है, पर उस समय शहर व अलग-थलग सी ही थी । गांव से जान के बाद यहाँ हम लोगो का दूसरा डेरा लगा था । सकरी गली से बोरिया बिस्तर उठने के बाद वहाँ हम लोगो ने पड़ाव डाला था ।

बोरिया-बिस्तर हम लोगो को आखिरकार समेटना ही पड़ा था । चार महान का किराया बाकी पड जाने के कारण मकान मालिक ने उठते बैठते हम लोगो को टोकना शुरू कर दिया था, और फिर एक दिन अच्छी खासी तू तू मैं-मैं हो गयी ।

बाबा उस समय कमरे के अंदर थे । चिड़ियों का रोटी खिसा रहे थे । व पक्षी उनके जाने पहचाने हो गए थे । जिस समय व सोए हुए रहते, उस समय भी, वे दाना चिड़े-चिड़ी चू-चू करते घूमते यह कोई बड़ी बात नहीं थी, बीच-बीच में सिर हटाने खड़े रहकर शायद पहरेदारा करते रहते । बड़ी बात नहीं थी, बाब से दो-चार सफेद बाल भी निकाल देते हो । खैर, बाबा दोनों चिड़ियों को खिसा रहे थे, जब उस आदमी के पाव पटकने की आवाज बाबा ने भी सुनी थी । जाते हुए धमकी दे गया, “तीन दिन का समय दे रहा हू, सिफ तीन दिन का ।”

घूमकर देखता हूँ, बाबा फिर से बहुत ध्यानपूर्वक चिड़ियों को रोटी का टुकड़ा खिसाने लगे हैं । कहीं कोई चंचलता नहीं है । मुझे देखकर वे हसे । इशारे से कहा, ‘घोरे ।’ जब रोटी फेंकना खत्म हुआ और जब दानो चिड़े-चिड़ी खिड़की से उड़ गए, बाबा हाथ झाड़ते हुए बैठ गए । “बाब भर के लिए बस । देखो, वे लोग कितने सुखी हैं । कोई दुख या चिंता कुछ भी नहीं । ज्योंही पता चला आज का कोटा खत्म हो चुका है, त्योंही बिना किसी हुज्जत के खुद ही चले गए । पर हम लोग ऐसा नहीं कर पाते हैं !” बाबा ने छिपाकर दीर्घ-स्वास को दबाया, ‘मनुष्य नहीं कर पाता है । मनुष्य जान भी नहीं पाता है कि कब उसकी यहा की लेनदारी खत्म हुई । इसलिए वह पडा रहता है । तक्लाफ उठाता है ।’

हम लोग धामोष थे ।

यह डेरा ! यहाँ रहने की मियाद खत्म हो आयी थी। यह मकान मानिक लेसी के अमर्द व्यवहार के कारण हम तुम दोनों ने ही समझ लिया था। मानो अचकार घिरता जा रहा है। लास्टेन में तेज नहीं है। जलाएंगे क्या ? क्या जलाएंगे माँ ? हम साग कहाँ जाएंगे ?

और ठीक दूसरे दिन की डाक से—नहीं, हम सोगो की उन चिट्ठिया के जवाब में किसी के पास से रुपया पैसा नहीं, तुम्हारी उस मासी के पास से चिट्ठी आयी।

मैं तथाकथित युक्तिवाद, तार्किक मैं अकृतन भी हूँ। फिर भी जीवन में बार-बार अलौकिक किसी वरुणा का परिचय पाकर अपनी सर्वसत्ता के साथ रोमांचित हुआ हूँ। उस समय भी काँप गया था, विश्वास या भक्ति से नहीं, कृतज्ञता से।

“देखा न !” तुम्हें मेरे अविश्वासी मन के बारे में पता था। इसलिए उस दिन पत्र पाकर दिव्य मुस्कान से पूर्ण होकर कहा था, “देखा न ! मेरी उस मासी ने जाने के लिए कहा है। भगवान हैं !” तुमने हाथ जोड़ते हुए कहा था, “मुझे बताया था न, मेरी यह मासी बहुत अच्छी हैं। सगी नहीं हैं, पर सगी से बढ़कर हैं। नाम भगवती है। रूप में भी साक्षात् भगवती हैं। गरीब परिवार की लड़की थी। सिर्फ रूप देखकर वरपक्ष स्वयं आकर उड़े ले गए। ऐसा सुना है। बहुत पैसे वाला घर था। सुना है उनकी शादी में पचास नाव घाट पर आकर रुके थे, वरपक्ष वालों ने स्वयं ही सारा शरीर सोने से ढककर उड़े सजा दिया था।

कितना सच, कितनी गल्प थी, तुम्हारी उस उच्छ्वसित बणना में ? पता नहीं। उस चिट्ठी को तुम बार बार पढ़े जा रही हो। बाबा को थोड़ा-सा ठेलते हुए कहा था, “सुन रहे हो ? मासी माँ न हम सोगो को एकबार आने के लिए कहा है।”

बाबा का खोयापन क्या टूटा ? समझ नहीं पडा। सिर्फ एकदम उदास स्वर में कहा, “जाऊँगा ? कहाँ जाऊँगा ?”

“पता तो यहाँ है !”

चिट्ठी को बिल्कुल तुम्हारी नाक के सामने, मुँह के सामने फेंका दिया था।

बाबा ने बड़े उदासीन स्वर में पूछा था, “तुम्हारी यह मासी कौन है ? मैं तो पहचानता नहीं हूँ !” कहकर विस्तर की चादर पर नाखून से पता नहीं क्या लिखत गए। बाजकल अक्सर ही विस्तर की चादर या फिर तफ़िए के गिलाफ पर क्या तो लिखते रहते हैं।

“पहचानते हो ! याद नहीं है !” साचार-साँ होकर तुमन कहा था, “वही बनारसी !”

बाबा गम्भीर होकर बोले, “याद नहीं है !”

तब तुमने मेरी ओर कातरभाव से देखते हुए कहा था, “मासी ने लिखा है, उनकी बड़ी इच्छा है हम सोगो से मिलने की।”

“अब तक यह इच्छा कहा थी ?”

“कहा है, यह उ हे पता नहीं था, यहा आकर उ हे कोई खबर तो दो नहीं थी किस रिश्तेदार से तुमने सम्पर्क बनाए रखा था ? अपने पागलपन मे हो तो रमे रहे ।

“पागलपन ?” बाबा ने शिशु की तरह सरल आँखों से देखा । हजामत नहीं किया गए गाल पर एकबार हाथ फेरा, मेरा सारा पागलपन ठीक हो गया है ।”

उनकी बात सुनकर हम दोनों ने ही चौंकर एक दूसरे की ओर देखा था । तुमने आगे बढ़कर बाबा के माथे पर हाथ रखा था । बहुत ही साब भरे स्वर मे कहा था, “ठीक तो हो ही गए हो, सिर्फ तुम्हारी वह बीमारी तबीयत थोड़ी और सुधर जाए, देखना सब तरफ से एकदम ठीक हो गए हो ।”

“ठीक हो गया है ?” बाबा के चेहरे पर, अबोध, असहाय, विश्वासी हसी । सिर हिलाकर फुसफुसाते हुए बार-बार बाले जा रहे हैं, “ठीक हो गया हूँ ।” अभी भी मैं उस निष्पाप हसी को देख पा रहा हूँ । ठीक हो गया है, ठीक हो गया है । ठीक हो जाने के लिए व्याकुल भग्नस्वर सुन पा रहा हूँ ।

पर बाबा ने अपनी जिद नहीं छोड़ी जब भी तुमने कहा है, “मासी अब अर्बन हो गयी हैं । आँख से ठीक देख पाती हैं । खत किसी और से लिखवाया है । हम लोगो को एक बार देखना चाहता है । जाओगे नहीं ?” बाबा ने हमेशा कहा है । “नहीं नहीं । जा-आकर तो बहुत देख चुका हूँ । अब थोड़ा रक्तकर देखू, फही जाया जा सकता है कि नहीं ।”

माँ, उन सब बातों का अर्थ समझना आसान नहीं था । तुमने समझा भी नहीं । मेरी ओर देखते हुए कहा था, “तो फिर तू ही ने चल । मासी को देखभाल करने के लिये वैसा कोई आदमी भी नहीं है और

“क्यों उनका वह गोद लिया हुआ बेटा ?”

“वह अब नहीं हैं ।”

“गुबर गये हैं ?”

“मासी ने ऐसा ही लिखा है । शायद बहुत पहले ही ।”

“और कोई नहीं है ?”

“उसकी पत्नी नहीं है ?”

“वह भी पिछले वष चल बसी है । मासी ने सब तो लिखा है । तुम दोनों में से किसी ने पढ़के भी नहीं देखा । मासी ने कितना दुखित होकर लिखा है, गोद लिया हुआ सबका गया, दूसर पर से साँयो हुई लडकी याने उनकी वह बह भो गयी । पर दोनों उस बूढ़ी के पास अपनी जान के दो दुश्मन सौंप गये हैं । एक पोता एक पोती ! बूढ़ी दोनों की रखवाली कर रहा है । पर कैसे कर पायेगी ? इसलिये लडकी को बर्बाद म रख दा है । लडकी को भी भेज देंगा । गुद के ही हाथ-पाँव जला बैठता है ।”

“खुद ही ? खुद ही क्यों ?”

किसी के हाथ का खाती जो नहीं हैं व । पुराने समय की विधवा हैं न ।’

(तुमने उस दिन कहा था, ‘पुराने समय की ।’ मैं भी आज पुराने समय की बातें लिख रहा हूँ । “पुराना,” समय कितना मजेदार वाक्य है । देखो कितना आपत्तिक होता है । एक-एक पुराना समय बैठा हुआ है हर समय का पीठ पर ।)

“हालांकि, ’तुम कह रही थी, “नौकर रसोइयाँ सब कुछ हैं । खैर, सुनो । वे तो जपन में ही मगन हैं । उनका तो दिमाग में कुछ घुस नहीं रहा है । तुझे ही बता रही हूँ । मासी ने लिखा है, जो पराए ये चले गये । तू अपनी बेटी है । याने बेटी की तरह । तुम लोग सब एक बार आशा । मिलकर सलाह करेंगे । चलोगे ?”

सम्मोहित की तरह उस दिन कहा था, “जाऊँगा मा ।” मैं तब तक तुम्हारे समस्त उच्छ्वास का मतलब समझ लिया था । तिनका ही सही, उसे ही पकड़ना चाह रही थी । जीना चाहती हा, मुझे भी जिन्दा रखना चाहती हो । मैं भी माँ, जीना चाहता हूँ, तुम्हें जीने देना चाहता हूँ ।

पर बाबा ? वे पहले की तरह हाँ अडे रहे । मगन होकर चीटियों की जाती हुई कतार देख रहे थे । तुम ज्योंही सूखे बपड़े उठाने चली गयी, बाबा ने मुझे इशारे से बुलाया । उड़ोप, विस्फारित दृष्टि, दबा हुआ स्वर । कहा, “वह दख । चीटियाँ पैदल ही छिडकी से होकर बाहर जा रही हैं । सोच रही हैं चीनी उधर होगी । इन्तजार करा । गरम हवा बह रहा है । बारिश आने दे । देखना वे लोग एक-एक करके सोट जाएँगी, क्योंकि छिडकी के उस ओर भी चीनी नहीं है ।”

“आ-एँ-गी-ही,” बाबा अचानक किसी भयकर स्वर में बोल उठे । ठीक उस समय, जिस समय तुम साड़ी बदल कर कमरे में धुसी थी । पर तुम-चींकी नहीं । पोड़ी देर पहले की उत्तेजना भी मिट गयी है । बिना पलक झपकाए । एक बार बाबा की ओर देख लिया, उसके बाद शान्त, अविचल मेरी ओर देखकर कहा, “तैयार है ? तो फिर चल ।”

\*

\*

\*

उह देखा । तुम्हारी यह मासी सचमुच कभी रूपवती रही होगी । मैंने उनके पीके पडे रंग में रूप का चिह्न देखा । पतला सुखा हुआ चेहरा आँख पर सुनहली कमानी वाला चश्मा, सफेद बुर्राक थान साड़ी । तुम्हारी मासी को प्रणाम किया । तुम्हारे इशारे पर वाप्य होकर कहना पड़ा, दोदी माँ ।

उ होने एक बार तुम्हारी ओर देखा । चश्मा पहनकर तो देखा ही, एकाएक उतार कर भी देखा । तुम्हें अपने नखदोक खींच लिया । धीरे-धीरे तुम्हारे सिर पर, माथे पर, गाल और पीठ पर हाथ फेर दिया । उनकी नाँवों में पानी उतर धाया यह मैंने देख लिया था ।

आँख का पानी पोछकर उहोने भीगे स्वर में तुम्हें बुलाया, ‘  
आँखें भी गोली थी, “उँ उँ तुमने ठूँकारा ।

“जै !” वह छोटा-सा, साह भी एक अक्षर ने मुझे सब कुछ समझा दिया। माँ, मैंने तुम्हें उस उम्र में देख लिया, जिस उम्र में कभी नहीं देखा था। कहाँ थी वह विपाद-प्रतिमा ? जो आहत और दुःख से अजरित है ? खुशी से हल्की हो गयी हो तुम। अहेतुक उच्छ्वास से भर उठी हो तुम।

सोटते समय बग़ी में भी घोर नहीं कटा था। तुम्हारे उसी रूप का ध्यान कर रहा था। सोच रहा था, उस रूपान्तर का रहस्य क्या था। उसी रोशनी में देखा था तुम्हारे चेहरे से खुशी का लेश उस समय तक नहीं मिटा था।

अपनी मासी के साथ तुम जब तक बात कर रही थी, मैं हमेशा ही तुम लोगों के पास बैठा नहीं था, बाग में टहला था। घूम फिर कर सब कुछ देखता रहा था। एकबार गंगा के घाट तक घूम आया था।

बग़ी जिस समय टाता पुल के पास पहुँची, उस सग मटमैले घने शहर ने मेरे सम्मोहन के परदे को हटाकर, मुझे अपनी दुनिया में सौटाया। तुम्हें पूछा था, “कुछ हुआ ? क्या कहा तुम्हारी मासी ने वही दीदी माँ !”

वास्तव प्रश्न, पर अन्तरंग स्वर। तुमने आँखें फैलाते हुए कहा था, “देखा नहीं, कितनी खुश हुई !”

“वह तो समझ रहा हूँ। पर कहा क्या ?”

“सब कुछ सुना। बोली, हम सब वहाँ जाकर रह सकते हैं। असल में, मासी को भी मुझे देखकर राहत मिली है।”

“तुम वहाँ करोगी क्या ?”

“पूजा-पाठ। उनके रसोई का इन्तजाम। यही सब और क्या। और तेरे बाबा ने भी तो इस समय खास कुछ कर नहीं रहे हैं, कर नहीं रहे हैं, कर नहीं पा रहे हैं। जब तक पूरी तरह ठीक न हो जाए, तब तक यहाँ की देखभाल कर सकते हैं। नौकर-चाकर तो सब मिसकर मासी को लूट रहे हैं।”

“और मैं ?”

“तू पढेगा, परीक्षा देगा, पास करेगा। तुझे क्या सोचना है। तू समझ नहीं रहा है। सब कुछ तेरे लिए है न !” बोलते-बोलते तुम्हारी आवाज़ ढलती हुई शाम की तरह गाढ़ी हो गयी थी।

समझ गया। मेरे लिए भी एक भूमिका निश्चित कर दी गयी थी, या फिर मैं स्वयं ही अपनी भूमिका का चुनाव कर लिया था।

और भी बहुत कुछ समझ गया था। छातों से एक बहुत बड़ा बोझ उतर जा रहा है, इसलिए तुम इतनी खुश थी। इसलिए माँ, “सब कुछ तेरे लिए ही था,” भरी हुई आवाज़ में यह बात कहने के तुरंत बाद ही अचानक तुम बच्चों की तरह खुशी से हँस पड़ी थी।

“क्या हुआ ?” मैंने जानना चाहा था।

“एक बात याद आ गयी न ! तुमने सुना था, मासी मुझे आनू कहकर नहीं पुकार रही थी, खूकी कह रही थी !”

“सुना था !”

“और चश्मा उतार कर मेरा मुँह बहुत पास लाकर निहारे जा रही थी । देखा था ? चेहरे पर कितनी क्षुरियाँ पड़ गयी हैं । आँख से ठीक दीखता नहीं है, इसलिये शायद समझ नहीं पायी कि मैं भी पूरी ग्रहस्थान बन गयी हूँ । हँसने की बात नहीं है ? बता, तू ही बता । तेरे बाबा तो मुझे कब से कहते हैं, बूढ़ी ! ठीक कि नहीं बता ।” तुम चसती गाड़ी में बैठकर मुझे ठेके जा रही थी । और एकदम खिलखिलाए जा रही थी ।

और हँसने की ज़रूरत नहीं, मैंन समझ लिया है । तुम्हारे इस लडकपने का मतलब मैंन समझ लिया है । आथर्व पाने का आश्वासन भी खुश होने का एक कारण है ही । पर क्या इसके सिवा भी कोई दूसरा कारण भी नहीं था ? वह है उस शब्द में—“खूकी !” तुम्हारे मासी के पास वहाँ जादू था, जिसने तुम्हें पनक क्षपकत ही खुशी से सराबोर कर दिया । उनके पास खड़े होते ही तुम वही नन्ही मुन्नी ! क्षुरियाँ पड़े चेहरे की आँखों में रोशनी नहीं है, ठीक से देख नहीं पाती हैं—उनकी आँखों में तुम्हारा हम समय का चेहरा कभी भी पकड़ में नहीं आएगा । उसका डर नहीं रह गया है, इसलिये इतनी खुश हो न तुम । यही न ! समझ गया है मैं ।

(हमारी खोयी हुई उम्र को, हमसे जो उम्र में बड़े हैं, सिर्फ वे ही हमें लौटा सकते हैं । तुम्हारे उस उम्र में पहुँच जाने के बाद से मैं भी उस आनन्द के स्वाद को बीच-बीच में पाता हूँ । आज भी पा रहा हूँ ।)

गाँरी के अंदर गाड़ी नहीं ले जाया गया । मोड़ पर ही उतरते हुए तुमने कोचवान से कहा, “मासी से कहना, हम लोग कल या परसो ही आ रहे हैं ।”

तब गाँरी, घँसी हुई द्योढी, जजर सीढ़ी । कुछ चमगादड़ों को परेशान करते हुए हम लोग कल्पना से वापस यथार्थ जगत् में लौट रहे हैं । इसी यथार्थ का परित्याग कर आना है ।

“क्या कर रहे थे ? हमारे लौटने की बात जोह रहे थे ?” तुम्हारा मन उस समय बहुत हल्का था इसलिये मजाक कर पायी थी ।

पर बाबा का स्वर शांत, खोया हुआ था । “नहीं, देख रहा हूँ ।” तुम कपड़े बदलने चली गयी थी । बाबा ने उँगली हिलाकर मुझे बुलाया ।

“देख रहा है ?” -

“कहाँ ? कुछ भी तो नहीं है !”

तब बाबा ने कान के पास मुँह लाते हुए किसी गूढ़ सत्य को बताने के से लहजे में कहा, “दीवार पाम कर जाहूर जाकर भी उह कुछ नहीं मिला, इसलिये लौट आ रही हैं । एक कतार से । अब देख रहा है न ?”

तुमने उस समय तक चूल्हा नहीं जलाया था। बदल कर लाए हुए कपड़ों में तुम पीछे चुपचाप आकर खड़ी हो गयी थी। पूरा मकान स्तब्ध था।

हम लोगों का दैनिक सत्य ! इन सबका परित्याग कर जाना है।

\*

\*

\*

हम लोग चले जायेंगे। तुम सब कुछ समेटने, सहेजने लगी हो। गरीब की गृहस्थी में भी कुछ न कुछ इकट्ठा हो ही जाता है। जरूरी, गैर-जरूरी सभी तरह की चीजें, इन कुछ वर्षों में हमारे यहाँ भी इकट्ठी हो गयी थीं।

गठरी और पोटली बांधते हुए तुम माथे का पसीना पोछ रही हो। पके हुए पावों को फैलाते हुए कह रही हो, “यह इतना तो।” पर मैं ज्योंही जल्दी से कह उठता हूँ, “रहने दो न, वहाँ तो सब कुछ है।” तुम ज्योंही व्यथित होकर कहती हो, बाह ! बाद में क्या हमारी अलग गृहस्थी नहीं बसेगी ? हमेशा वहीं रहना है क्या ! तेरे बाबा के थोड़ा सम्भलते और तेरे सायक बन जाते ही नया घर बसाएंगे। नहीं क्या ?”

“तो फिर रहने दो।” मैंने भी हाथी मरी थी।

“पर सब से जाने से कितना बोझा हो जाएगा और छोड़ जाने का भी दुःख नहीं हो रहा। पता नहीं कब किस चीज की जरूरत पड़ जाए।”

“ठीक-ठीक,” बाबा बोल उठे थे। “कह तो ठीक ही रही हो। कब किस चीज की जरूरत पड़ सकती है, कहा नहीं जा सकता।”

बाबा को से जाने के लिए काफी हुज्जत करनी पड़ेगी, ऐसा सोच सोचकर हम लोग परेशान हुए थे, पर बाबा से जाने की बात कहते ही वे एकदम से तैयार हो गए थे। अच्छी तरह कुछ सुनने के पहले ही वे बोल उठे थे, “जाना होगा ? वह तो होगा ही। यहाँ पड़े रहना सम्भव नहीं है। हम लोग पड़े रहने के लिये तो आये नहीं हैं।”

शान्त, सम्मत बाबा टकटकी बाधे तुम्हारा सामान सहेजना देखे जा रहे हैं। कभी कह रहे हैं सब कुछ फेंक जाओ।

“छोड़ जाऊँ ? हाथ समटते हुए तुमने पूछा है, ‘छोड़ क्यों जाऊँ ?’

“तुम कुछ समझती नहीं हो। एकदम हल्का होकर जाना चाहिये।”

कभी-कभी तुम इतनी क्रूर हो जाती थी। बरना बाबा के उस सीधो-सादी बातों का उतना टेढ़ा जबाब देती ? सन्दूक से कागज का पुलिंदा निबासते हुए कठोर स्वर में कहती हो, “तो कहो इन्हें भी छोड़ जाऊँ ?”

बाबा ने मानो पहुँचाना नहीं, “क्या है ?”

“तुम्हारा ही पागलपन। देख नहीं रहे हो। नाटको का पुलिन्दा है ?”

मैं टकटकी बाधे बाबा को देख जा रहा था। उदास स्वर में बहुत धीरे-धीरे वे बोले, “अरे हाँ, वे तो, व तो हाँ इन्हें छोड़ जाओ। एकदम छोड़ जाओ।”



बाबा आगे आकर तुम्हारे पास बैठ गए हैं। हल्के से अपना एक हाथ तुम्हारी पीठ पर रखा है। गाढ़े स्वर में बोल रहे हैं, “डर रही हो ? मोह हो रहा है ?”

“तुममें मोह नहीं है, मालूम है। कभी भी किसी चीज में नहीं रही है।” तुम किसी तरह बोल पायी हो। तुम्हारा स्वर बहुत उदास।

“है। मोह है। तुम्हें मालूम नहीं है आतू।”

(बाबा ने मेरे सामने पहली बार तुम्हें तुम्हारे नाम से सम्बोधित किया। मेरी उपस्थिति क्या उस क्षण उनके सामने लुप्त हो गयी थी ?)

“तुम्हें मालूम नहीं है, मोह है। पर समस्त इन्द्रियवृत्ति की तरह मोह को भी बाँध कर रखा जा सकता है। उस शक्ति को मैंने बजन किया है। छोड़ जाओ उन्हें, जाओ न। लिखने-दिखने का वह एक अध्याय मात्र था। एक पद्धति, और भी पद्धतियाँ मैंने सीखी हैं। मेरा लिखना-दिखना अभी भी चस रहा है, तुम्हें पता नहीं चसा ? सफेद चादर पर उँगलियों से कितना कुछ तो लिखता रहता हूँ। उस सिखे हुए को पढ़ नहीं सकत हो। लिखता और मिटाता हूँ या खुद ही मिट जाता है। पर मन में सब कुछ अंकित रह जाता है। आतू ! जो मन चाहे इस कस्ये में भर कर ले जा सकती हो, छोड़ जा सकती हो। किसी चीज में मुझे आसक्ति नहीं है।’

बहुत कठोर ये वे शब्द। उससे भी अधिक कठोर उनका स्वर।

पर रह जाएँगी और भी बहुत कुछ छिटफुट, परित्यक्त आत्मीय की तरह। इस समय जो मूल्यहीन है, पर किसी न किसी समय की स्मृतियों से गुयी हुई, शिंकायत करती आँखों से वे पड़ी रह जाएँगी। हम लोग चले जाएँगे, बिना उनकी ओर देखे।



कमरे में झाड़ू-पोछा सगान के बाद जिस तरह आसन बिछात हैं पूजा में बैठते हैं, तुम देख पा रही हो कि नहीं, मुझे मालूम नहीं, मैं भी रोज उसी तरह बैठ रहा हूँ। इस दीप पत्र का मृग पकड़न के पहले नमस्कार कर लेता हूँ। अक्षरो, शब्दों और वाक्यों का समूह जुलूस, कितनी दूर से आ रहे हैं, कहीं तक जाएँगे क्या पता। अक्षरा की कतार, रेगिस्तान में। ऊँची तरह या फिर माथे पर गठरी चढ़ाए चल जा रहे हैं, पुराने जमाने के तीर्थयात्रियों की तरह।

उस बीमारी के बाद से स्थाई मुख के लिए मेरी व्याकुलता भी बढ़ रही है। जरा के हाथ से मुक्ति नहीं है, पर चलन के हाथ से कैसे बचूँ, कैसे? लगातार यही सोच जा रहा हूँ। निरालम्ब शून्यता पर अब सटके नहीं रह सकता हूँ। वहाँ नीबूता, ईर्ष्या, तात्पर्यहीन घटनाओं का सूषण है, जो मुझे लगातार घेरे मारता रहा है। पान के नीचे इसीलिए जमीन की सलास रही है मुझे—जो मिल गया। वह जमीन मेरा यह लेखन है। वह जमीन तुम हो। सबसे तुम्हारे आश्रय में हूँ। छोड़ रहा हूँ, लगातार। कभी आवेश के बशीभूत होकर, कभी निष्ठुर आक्रोश से, फिर भी कहीं तो खड़ा हूँ मैं। यह जमीन छीन मत लेना, जीवन के बचे हुए दिनों में अब और बेसहारा मत बनाना।

परिपार्श्व मुझ अभी भी विवर्तित करता है मैं। पहले श्रुतियों के बारे में लिखा था। अब देख रहा हूँ, एक-एक दिन के विभिन्न पहर मेरा ध्यान मग्न करता है।

यद्यपि इस रचना की शत ही यही था कि नहा छोड़कर शुद्ध होकर बैठूँगा। फिर भी किसी किसी दिन मन-मुह बड़बाने लगता है। किसी-किसी दिन अनुभवों की शरद्व्या पर लेटे-सटे कोई याद जान लगा है। बसाओ तो खीन? छाटे-स एक सड़के की याद आ जाती है। एक बार उस देखा था। मेले को भीड़ में छो जाने के बाद फफक-फसक कर रो रहा था। दोनों बाँहे फैलाए बार-बार सिर्फ एक ही बात दाहराए जा रहा था, "माँ के पास जाऊँगा, माँ के पास जाऊँगा।"

एक सड़का अथवा एक सड़की। सभी मले में खोत हैं। माँ को पुकारते हैं, उहो की तरह।

माँ ! कल सारी रात मेरे सीने के ऊपर से कप्टा की बैलगाड़ी गुजरी है, जिसने मुझे मथित किया है। इस प्रभातबेला में भी उसके पहिए के निशान से तकलीफ पा रहा हूँ। आवश्यक प्रसन्नता कहीं से भी दूढ़े नहीं मिल रहा है। इसीलिए उस बाग वाले मकान में पहुँचने में इतनी देर हो जा रही है।

हालांकि वहाँ हम पहुँचना तो है ही। मास ठेले पर लादकर पहले ही भेजा जा चुका था। बाद में जाकर देखा था, ठेला लुढ़का पड़ा था। शायद वही स्वाभाविक था, फिर भी न जाने क्यों दिस कैसे ताँ कर उठा था। लुढ़की पड़ी गाड़ी क्या हमारे कुठा-आश्रित अवस्था की प्रतीक रही ?

पर बाबा बहुत खुश थे। चारों ओर देखते हुए बोले थे, “वाह ! वाह ! कौन सा कमरा हम लोगों का हागा, बताओ तो ?”

“आतँ ही पहले कमरे की पूछ ?” तुमने दबी आवाज़ में धुड़की दी थी, “अजीब आदमी हो तुम भाँ !”

“वाह ! कमरा ही तो सबसे पहले चाहिए। सबसे जरूरी है टिकाव। कहीं टिकना है, जानना नहीं चाहूँगा ?”

व्यस्त भाव से जो लोग घूम फिर रहे थे, नौकर-नौकरानियाँ ही होंगी। वे लोग खड़े नहीं हो रहे हैं। सिर्फ आपस में बतियाते रहते। वह भी दबी आवाज़ में। हम लोगों की ओर कनबी से देखते, पर ज्यादा हम उनकी ओर देखते, आँखें फिरा लेते।

“जाऊँ, मासीमाँ से मिल आऊँ !” तुम ऊपर चली गयी।

बाबा, बगोचे में घूमते रहे। ठेनेवालों को छोड़ तो देना ही है। मैं वहाँ चला गया। और ठेनेवाले के साथ मिलकर रस्सी खोलने लगा। काफी मेहनत पड़ रही थी। गेट से उसी समय एक आधे भद्र महाशय ने प्रवेश किया। आधे क्यों ? चूँकि, बेचक फिसलते-फिसलते चरम दुदशा में उस समय गिरे हुए हो—पर मध्यवर्ति धोणी विज्ञान हममें जमाजित और मज्जागत था।

उसके हाथ में क्या सब तो सौदा सामान था। मुझे पसीन से तरबतर देख, ठिठक कर खड़ा हो गया। उसकी सहायता से सामान जल्दी उतार लिया गया। ठेने वाला चला गया। तब उसने कंधे पर रख झाड़न से हाथ झाड़ते हुए पूछा, “कहाँ से ?” शायद वह तब नहीं कर पा रहा था कि तुम बोले या आप, क्योंकि मेरी वेश-भूषा और उन्न हो पशोपेश में ढालन वाली थी।

“शामापुकर,” आप-तुम के पक्षट से उचने के लिए मैंने भी एक ही शब्द में उत्तर दिया।

“ओह समझ गया।” उसने बड़े प्रज्ञा स्वर में कहा, “माँ ने बताया था।” दूर-बगोचे के किनारे चहलकदमी करते हुए बाबा दिखलायी पड़ रहे थे। उस ओर उँगली से इशारा करते हुए उस आदमी ने कहा, “तो अब वं हो इस मकान में नए भैजेर होंगे ?”

मेनेजर ? मकान के मेनेजर का मतलब । समझ नहीं पाया और समझ भी गया कि यह बात बहुत सम्मानजनक नहीं है । कान झनझनाने लगा था । क्या कहना ठीक रहगा, तुरंत दिमाग में न आ पाने के कारण, असंलग्न-सा, पर तीव्रपन के साथ बोल गया, “हम लोग इनके रिश्तेदार हैं ।”

वह आदमी हँस पड़ा । उस हँसी के पुराने प्रिण्ट को हिलाने-डुलाने के बाद आज भी तय नहीं कर पा रहा है कि उस हँसी की जात क्या थी । पूर्व की ? दार्शनिक की ? जो भी हो, यह हँसा था । बोला था, “रिश्तेदार तो सभी हैं । मेरे मामा भी यहाँ रिश्तेदार की हैसियत से ही आए थे—मालकिन के ससुर के समय । पर हुआ क्या ? वही मामा हो गए गुमास्ता और उनका भाजा याने मैं शुरू से हाट-बाजार करने वाला कारिन्दा । सुना है मैं चोरी करता हूँ, इस लिए मेरे ऊपर खबरदारी करने के लिए मेनेजर बैठाया जा रहा है ।”

उसके स्वर में तिकता, ईर्ष्या, घृणा थी, पर आँखों में वेदना । मैं मिलाकर देख रहा था, पर मेनेजर-मेनेजर शब्द कान में सीसा उँडेले जा रहा था । और अधिक तल्खी के साथ, मानो अपने को सुनाने के लिए ही बोल उठा, “हम लोग रिश्तेदार हैं । दीदी माँ—दीदी माँ हैं न ।”

मा ! तुम्हारी मासीमाँ को वही पहली बार उपयाचक की तरह दीदी माँ बोला । पिछले कुछ दिनों में जिसे मन में भी नहीं सा पाया था, उसकी दीदी माँ—दीदी माँ शब्द को किसी कमरे की तरह जो जान से पकड़े रखना चाह रहा हूँ ।

“नहीं । पुण्यस्नान के लिए वे त्रिवेणी गयी हैं । कल या फिर परसो लौटेंगी । पर उसके लिए चिन्ता की कोई बात नहीं है । मुझे सब बता गयी है । सारा इ तजाम हो जाएगा ।” नीचे के दो कमरे खुलवा दे रहा हूँ ।” इतना कहकर वह रुका नहीं, नौकरा से सारा सामान आँगन के सामने के दो कमरे में उठवा दिया ।

\*

\*

\*

ऊपर जाकर देखा, तुम एक दरवाजे पर पीठ टिकाए असमजस की-सी स्थिति में बैठी हो । मुझे देखते ही जल्दी से बोल पड़ी, “आजा । पर मासीमाँ को कहीं देख नहीं पा रहो हूँ । पता नहीं कहाँ हैं । मासी माँ शायद स्नानघर या फिर पूजाघर में होगी । अभी तक निकली नहीं हैं । उससे पूछ रही हूँ, पर कुछ बताती ही नहीं है । समझ में नहीं आ रहा क्या करूँ ?”

देखा, दरवाजे के सामने से नौकरानी जैसी कोई चली जा रही है । नौकरानी ? वह अगर नौकरानी है, तो तुम फिर क्या हो ? बाबा कहाँ हैं ? अभी तक बाग में टहल रहे हैं ? बाबा भी इस घर में क्या हैं ? मेनेजर बनेंगे ? मेनेजर याने गुमास्ता । बाबा अगर गुमास्ता हुए तो तुम फिर क्या हूँ ? हेड रसोईदारिन ? यह शब्द मन के ऊपर पिघलते मोम सा गिरा ।

“भूख लगी है ?” तुमने कहा, “घोड़ा चिड़वा खा तो न । बाला के पुराने

डिब्बे में है। बाबा को भी दे। वे हैं कहाँ ?”

पता था। एक पेड़ के नीचे की बेदी पर बैठे हुए थे। ऊपर आते समय देखा जाया था। नीचे जाकर देखा, उस समय भी वे वही थे। न जान बड़े ध्यान से क्या मुने जा रहे हैं और बीच-बीच में ऊपर की डाल-पत्तियों की ओर देख जा रहे हैं।

मुझे देखते ही होठों को सिकोड़ कर धीरे-से किसी शब्द का उच्चारण किया—होठों के सिकोड़ने के भाव से समझ गया—धुग्घू। जिसकी आवाज सुन रहे हैं, समझा दिया। मुझे हँसो आ गयी, धुग्घू ?

हाथ उठाकर मुझे मारने जैसा दुसारा का भाव किए। “हँसता क्या है रे ?” नटखट। ध्यान से सुन, उनकी आवाज में कितनी यत्नशाली है। गद्दी है।”

\*

\*

\*

छत-वत घूमकर काफी देर बाद नीचे आया, तब तुम्हें भी देख पाया। उस आदमी से या फिर किसी नौकर-चाकर से इस बीच तुम्हारी कोई बातचीत हुई होगी, क्योंकि तुमने अब तक कमरे में सामान सहेज लिया था। पास में एक तख्त-पोश पर बाबा पाँव सटकाए बैठे थे।

तुम्हारा चेहरा तमतमाया हुआ। सामान करीने से रख रही हो, पर मन मुताबिक न होने के कारण, उन्हें फिर से सवार रही हो। बाबा निर्विकार, बल्कि हस रहे हैं। तुम एक-एक डिब्बे को खोल, अन्दर क्या है इसे सूँघ कर परखते हुए, उठा-उठाकर रख रही हो। अचानक शायद किसी बटे हुए टीन के थोने से तुम्हारी जगली कट ही गयी और एक डिब्बा हाथ से गिर पड़ा। ठन्। उस आवाज के आमोद से बाबा हँसे जा रहे हैं। पर इस्स। खून। इस्स, तुम रोने लगी। बहुत बट गया है क्या ? या फिर कटना-बटना बहाना रहा। तुम रोना चाहती थी, एक बहाना मिला। काफी गर्मी के बाद जिस तरह बारिश उमड़ पड़ती है।

बाबा तख्तपोश पर बैठे पाँव जरूर हिलाए जा रहे हैं, पर तुम्हें रोते देख पहल तो सड़पकाए, फिर शायद कुछ समझ गए। सिर हिलाकर बड़े पड़िताई भाव से बोले, “नया घर, नए झूले की तरह होता है। शुरू में थोड़ा चुभता है, बाद में ठीक हो जाता है।”

नीचे का कमरा, खिड़की पर जाले, सब कुछ घुटन भरा-सा। उस दिन शायद गरमी भी बढ़त थी। अमन की ओर से एक छुटी-छुटी-सी बदबू आ रही थी। ‘माँ ? हमें क्या इसी कमरे में रहना होगा माँ ?”

“बुरा क्या है ?” बाबा बोल उठे, “बगल वाला कमरा भी खोल दिया है। मैंने देख लिया है और मुझे बहुत पसन्द है। नीचे का कमरा हूँ तो क्या हुआ। वहाँ-वहाँ मैं अपना नया बिजनेस शुरू करूँगा। बेबी फूड, टीन फूड का। तुम्हें एक बार बताया था, याद है ? धरे बही फार्मुला जिसे मैंने चटगाव में एक अराकानी से सीखा था। तुम्हें भी तो सिखाया था, वही कितना साल पहल ! याद नहीं ?

पर मुझे याद है। इस बार दयना, सब कुछ वैसा यड़ा करता है। और अगर यह चल पड़ा, तो एक ओर फार्मूला, वह भी मेरा सीखा हुआ है। पर जल्द बिस्म की चीज है, दूसरी साइन की—स्किन डिजिज की दवा। नाम रखूंगा, 'स्किनो क्युरा।' क्या केसा रहेगा? जिस पोथे से वह दवा बनेगी, वह यहाँ है। गंगा के किनारे-किनारे, मैं देख आया हूँ। भगवान शायद उसी लिए हम लोगो को यहाँ से आए हैं। यरना इतनी जगह रहते, भला यहाँ क्यों आना पड़ा?"

बाबा की आँखाँ मँ सपने क्षितिमिलान लगे थे। बाबा बोले जा रहे थे, "कम्पनी का नाम क्या होगा, बताओ तो! इस बार कम्पनी तुम्हारे नाम से होगी। बहुत बड़े साइनबोर्ड पर लिखा जाएगा—ऐना प्रोडक्ट्स। आन् को थोड़े अंग्रेजी स्ट्राइस से ऐना पर लेंगे। वैसा रहेगा?"

बाबा सगर्व साके जा रहे हैं। मेरी हिम्मत अब उनके चेहरे की ओर देखने की नहीं हो रही है।

तुमने धीरे से कहा, "बदिया। पर बीच में मेरा नाम क्यों? मैं तो जभापन हूँ, बल्कि कोई दूसरा नाम सोचो। वही, एक बार कौन-सा नाम दिया था न?"

"मिम्म!" बाबा ने छाती चौकी कर ली। "मिस्लेनियस इन्डियन मैयू-कैक्चरिंग कम्पनी—संक्षेप में मिम्म। इन्डियन, स्वदेशी, स्वदेशी शिल्प का पुनर्जीवन, उस समय सब कुछ किसी न किसी आदर्श के लिए किया जाता था। आदर्श के बिना कोई काम नहीं होता था।"

अचानक बाबा को ध्यान हुआ कि इतिहास के जिस अध्याय की बात ठर रह है, उस समय तक मैंने ज म भी नहीं लिया था। अब मेरे सुविद्यार्थ व्याख्या करके समझाने लगे, 'मिम्म था, कम्पनी का नाम, समझा? और था, कबरी-कल्याण-ब्युटी वाम, मधु साबा, नवीन स्ववास। तुम्हारी माँ का पता था, लोगो के मुँह से सुना भी था पर विश्वास नहीं किया था।"

"उस समय हा किया था।" तुमने कहा।

"अब करती हो?" अपना सिर तुम्हारे माथे के पास ले गए थे। अप्रत्यक्ष दृष्टि से तुम्हारी ओर देखत हुए पूछा था "अब करती हो?"

"करती हूँ।" तुम्हारी आवाज काँप गयी थी।

"बस! यही बहुत है।" बाबा उत्साहपूर्वक बोन पड़े, "विश्वास रहने पर सब कुछ होता है।" एक छोटा-छिन्नु भाना उनके स्वर से स्वर मिलाए जा रहा था। हम लोग सुन रहे थे, देख रहे थे। वह छिन्नु थोड़ा देर बाद बक कर बिस्तर पर लट गया। उसकी आँखें उस समय कमरे की छत की ओर। समझ रहे थे हम। उसी आँखाँ में सपने छिर रहे थे।

'एकदम भोलेनाथ।' तुमने मरी ओर देखकर आहिस्ता से कहा। पर शायद बाबा ने सुन लिया था। तबउपोक्त पर हा सिर टिकाए, एकदम हँसे हुए स्वर में, मानो बहुत तकलीफ हो रही है, बोलने लगे, "विश्वास, विश्वास!" व हँसे हुए

स्वर में बोल रहे थे, “यह विश्वास अगर उस समय करती आनू ! शायद थोड़ा बहुत रह जाता । सब कुछ नए सिरे से बनाना नहीं पड़ता । अब क्या सकूंगा ! अब और कब मेरी सेहत सुधरेगी ! अब बहुत देर हो गयी है !”

बाबा ने बहुत आहिस्ता-आहिस्ता कहा “अब और नहीं सकूंगा ।”

हम दोनों चुपचाप उनकी ओर देखते जा रहे हैं । नीचे का वह कमरा, आज उसका जो रूप देख पा रहा हूँ, मानो एक अमूर्त विचार-सभा हो । पर कौन अभियोगकारी है, कौन अभियुक्त और गवाह ही कौन है ? मानो किसी की जवानबूढ़ी पड़ी जा रही हो । मानो किसी से कैफियत तसब की जा रही हो—उन सब दृश्यों का पुनर्निर्माण करते हुए आज यह सब देख रहा हूँ । मानो कोई अस्पष्ट कटघरा भी कही हूँ, उस कटघरे में चेहरा पहचाना नहीं जा रहा है । एक ऐसा अपराधी, माँ ! बतला दो, वह चेहरा किसका था ! मेरा ? या तुम्हारा ?

\*

\*

\*

उस मकान में बिजली बत्ती थी । नाचे के कमरे में भी थी । मा, थोड़ी देर बाद ही, तुमने स्वीच दबा कर बत्ती जलायी थी । यह मनुष्य की एक सहजात प्रवणता, एक सहजात प्रवणता, एक स्वयंक्रियता है, जो उसके स्वभाव का ही एक अंश है—बाद में इसे कई तरह से अनुभव किया हूँ । भय और अंधकार का हम एक साथ मिलाकर देखते हैं ।

बारिश घम जाने के बाद भी जिस तरह पत्तों से टप्-टप् पानी गिरता रहता है, उस दिन उसके बाद भी छोटी-छोटी घटनाएँ घटी थी । उठकर बैठते हुए बाबा ने एक बार हाथ बढ़ाया, “एक गिलास पानी ।” होठ पाछ कर मेरी ओर देखा । खाता कलम लाया है ? है यहाँ ? दे जरा ।” चुपचाप निवास कर द दिया था ।

धीरे धीरे बाबा सहज होत जा रहे हैं । यह दखो खात के ऊपर हुक आए है । तुमने देखा । आदृष्टता लिए तुम खड़ी हो । बाबा ने मूढ़ उठाय । बाबा अब हस रहे हैं । क्या बोल रह हैं बताओ तो ? बोल रह हैं, “डरो नहीं । सो । रही हूँ मैं कोई नया नाटक तो नहीं लिखने लगा हूँ ? घट । वह सब अब नहीं होने वाला । उसके लिए भी अब ब-हू-त देर हो चुकी है । उस दिन तुमने मेरी रचना-वचना पर भी विश्वास नहीं किया था न ? अगर करती तो खैर क्या होगा वह सब सोच कर । जाने दो । अब मैं इस खाते में दूसरा कुछ लिखू—मान सो नए देशों शिल्प की जा कल्पना है, उसकी स्कीम ?”

“पर ज्यादा दिमाग लगाने से तुम अभी भी बहुत कमजोर हो । डाक्टर ने कहा है, अधिक चिन्ता करना मना है ।”

“आह !” कितने प्रसन्न सुख, कितनी क्षमा की धूप से बाबा का चेहरा भर गया है, “तुम बहुत चालाक हो, इसलिए घुमा-फिरा कर बोल रही हो । सोच रही हो, यह भा मेरा एक क्वाल, एक पागलपन है । क्या ? अच्छा ही है । यही लेकर रहने दो न । कुछ न कुछ लेकर तो रहना ही पड़ेगा न ? सब कुछ अगर मुझसे छीन

ही लोगे तो यह देखो, मैं अकेला हूँ, और भी ज्यादा अकेला होता जा रहा हूँ। सब कुछ अगर छीन ही लेना है तो फिर रोज दवा क्यों देती रहती हो? जीवित रहने की यत्नणा फिर क्या देती हो?"

दोनों हाथों से माथा दबाए बाबा फिर से लेट गए हैं। तुम दोनों हाथों से मुँह ढँक कर कमरे से निकल गयी। मैं देख रहा हूँ।

काफ़ी देर बाद, उस समय तक खड़ा ही था। महसूस किया बाबा मुझे बुला रहे हैं। उनके पास गया। मेरे सिर पर उनका हाथ। उनका हाथ मेरी पीठ पर। कुछ साल पहले, वही स्टेशन की रात फिर से लौट आ रहा है क्या?

"उरी माँ को मैंने ठीक ही कहा है।" बाबा हल्के-हल्के मुस्कुरा रहे हैं। उसे तकलीफ़ हुई, पर क्या करूँ? मेरी तकलीफ़ को भी तो बाँट देना ज़रूरी है।"

मैं व्याकुल और विचलित होकर बोल रहा हूँ, "क्यों बाबा, आपको इतना कष्ट क्यों है?"

"कष्ट? क्यों है? मेरे ही वाक्यों से बाबा ने सिर्फ़ दो शब्द फकड़ की तरह उठा लिया। तुरन्त कोई उत्तर नहीं दिया। बोला-सा दम लेकर बोले, "कष्ट क्यों है? इस उम्र में तू उसका क्या समझेगा? मान ल, एक दिन सुबह उठके तू निकल पड़ा। दिन भर टो टो घूमता रहा। कहीं भी बोला सा सुस्ताने का मौका नहीं मिला। शाम को हैरान होकर तू लौट आया। आकर देखा, अंदर से दरवाज़ा बंद है। धक्का दे रहा है। दरवाज़ा खुलता नहीं है, हालाँकि तूने पाँव काँप रहे हैं। सिर चक्का रहा है। यह ठीक उसी तरह का दृष्ट है। या फिर आधी रात को किसी ने तुम्हें बाहर निकाल दिया है। अंधेरा है, चारों ओर अंधकार। आकाश में एक भी तारा नहीं है कि तुम्हें दिशा मिले। तू धीरे धीरे खोता चला जा रहा है अंधकार से और अधिक अंधकार में, या फिर पाँव तले की जमीन ही धीरे-धीरे तुम्हें बहुत नीचे, खींचे ले जा रही है—समझा?"

मैं अपसक्त भूतिवत खड़ा हूँ।

"कष्ट तो और भी है। जो कुछ करना चाहता हूँ, उसे कर न पाना। जो कुछ बोलना चाहता हूँ, उसे बोल न पाना, हालाँकि कितना कुछ कहना बाकी रह जाता है। अंदर ही अंदर घुमड़ता रह जाता है। अपने को अपने अंदर ही बन्द रखने की यत्नणा बाबा अस्थिर भाव से हाथ हिलाते रह। 'जब कि मैं इन बातों को विस्कुल न बोल पा रहा हूँ, न लिख पा रहा हूँ।'

"ठीक है, लिखिए न!" मैंने कहा था, 'बाबा, क्या सबकुछ अब आप कुछ नहीं लिखेंगे?'

धीरे धीरे सिर हिलाकर बाबा ने समझा दिया—नहीं। तस्मिए पर सिर टिकात हुए कहा, "बताया न, बहुत देर हो चुकी है।"



“कभी भी नहीं लिखेगे ?”

“अगर कभी कुछ लिखा तो, यह देर हो जाने की बात ही लिखूंगा।”  
समझा ? और वही होगा मेरा अन्तिम नाटक ! समझा ?” उनके स्वर में प्रगाढ़  
व्यक्ति था। “मेरी वह अन्तिम रचना लग्न बीतने के बाद घर के लग्न मंडप पर  
पहुँचने की कथा होगी। पर अगर पूरा नहीं कर पाया तो उसे तू पूरा करेगा।  
करेगा न ? तू चाहे तो थोड़ा और आगे बढ़ा सकता है। तू लिखेगा न ?”

लिखूंगा या नहीं, क्या बचन दिया था बाबा ! आज वह सब याद नहीं।



तुम्हें दूकान पर छत पर पाया ।

छत पर सिर्फ एक ही कमरा है । आकार में खरसाती से थोड़ा ही बड़ा, पर उस समय खिड़की-खिड़की सब बन्द थी । दरवाजे पर भी ताला था । उसी दरवाजे के सामने सतृष्ण खड़ा था ।

तुम कार्निवस के पास खड़ी थीं । धीरे धीरे हट कर मेरे पास आकर खड़ी हो गयी । “क्या देख रहा है ?”

“यह कमरा माँ ?”

उसी एक वाक्य में मेरे मन के भाव अगर समझ नहीं सके तो फिर माँ को माँ क्या कहा गया है, इस कमरे में रहने की इच्छा हुई है ? हँसते हुए कहा, “बैठन का मिले तो सोना चाह ।”

“नही, वह बात नहीं है । यहाँ काफी एकांत है न । पढ़ने-लिखने में सुविधा रहती । इम्तहान में अब देर बितनी रह गयी है ।”

“कमरे में ताला लगा हुआ है । पता नहीं कौन रहता है । देख, मासीमाँ के आने पर बोलूगी ।”

“सुना है, कोई एक दादाजानू रहते हैं । वे लोग बता रहे थे ।”

“दादा जानू ?” तुमने थोड़ा मोचा । “इसका मतलब, मासीमाँ का बही पोता होगा । सुना है अपनी दादी के साथ, वहाँ भी निवेणी गया है । अगर वह रहता है, फिर तो—फिर तो ।” सम्झ रहा हूँ, कमरा नहीं मिलेगा । साफ-साफ बताने में तुम्हें तकलीफ हो रही है । “धैर, मासीमाँ को पहले आन दे ।” तुमने इतना बहककर उपसहार किया ।

थोड़ी देर बाद तुमने कहा था, “पर तेरे बाबा को नीचे का कमरा बहुत पसंद है ।” तुम थोड़ा रुक गयी । उसके बाद माँ यह क्या ? तुम्हारा ही गला काँप क्यों रहा है ? तुम भी अचानक क्यों बोल पड़ी, “मुझे भी डर लग रहा है । एक दूसरी तरह का भय ।”

किसका भय ? इस बार तुमने बड़ी मजबूती के साथ मेरा हाथ धाम लिया

है। "तुम्हें महसूस नहीं हुआ ? थोड़ा भी समझ नहीं पाया ? सुना नहीं, यहाँ जाने के पहले तेरे बाबा किस तरह की बातें कर रहे थे।

"शुरू से ही वे कहते रहे हैं ?"

"कहते तो हैं, पर यह उससे अलग तरह की थी।"

"क्यों ? उन्होंने डेर सारी जो बातें की हैं वे सब स्वाभाविक थी, बल्कि नया व्यापार-व्यापार शुरू करने की बात कर रहे थे।"

"उसी से तो मुझे डर है। उधे तो मैं तेरे पैदा होने के बहुत-बहुत पहले से जानता हूँ। देख, पता नहीं क्यों उसी समय से मुझे वैसा जो लग रहा है। किसी तरफ से ही हो, वे बदलते जा रहे हैं। या तो एकदम स्वाभाविक हो जाएंगे, नहीं तो एकदम हिसाब के बाहर चले जाएंगे। उह उहें फिर हम लोग समझाने नहीं सकेंगे।"

"फिर से चले जाएंगे। यह सोच रही हो क्या माँ ?"

तुम हँसती हो। "चले जाना कई तरह का हो सकता है कुछ भी कहसे मुझे कुछ ठीक नहीं लग रहा है। कुछ छुपाना चाहते हैं वे। किसी एक कण्ट को वे जी जान से दबाए जा रहे हैं।"

"किस बात का कण्ट माँ ?"

"नहीं समझ सके ? वे घर-गृहस्थी नहीं चला पाए, इस बात का कण्ट। यहाँ आकर रहना पड़ा, उस बात का कण्ट। हम लोगों को परजीवी होना पड़ा, खुद भी हो गए। इतना भी नहीं समझ रहा है।"

माँ। जो कुछ बोल रही हो धीरे-धीरे बोलो। उस खुले आकाश में साखा-बरोडों का तूहली जाँचे नीचे झुकी हुई हैं, देख नहीं रही हो ?

"उनके मन में," तुम बोल रही थीं, "उनके मन में एक काँटा चुभ गया है। उस काँटे को निकाल देना चाहत है। वरना इतने दिनों बाद वे सब पुराने व्यापार-व्यापार की बातें क्यों करने जाते ? असल में हम लोग आश्रित, अनिर्वास बन गए हैं, इसे एक तरह से भूलना चाहत हैं। खुद को बहला रहे हैं।"

"चलो, चले जाएँ।" तुम्ह कहते हुए सुना। साधारण-सी बात थी, पर सुनकर सिहर उठा। याद है, मैंने कुलपुसते हुए पूछा था, "कहाँ ?"

"यहाँ से, जहाँ भी हो। यहाँ और नहीं।" माँ। तुम्हारे वे छोटे-छोटे वाक्य पूरी तरह उच्चरित होकर भी खत्म नहीं हो गयी। इतने दिन बाद भी नहीं ?

"मुझे ले चलेगा ? वापस ले जा सकेगा ?" तुम्हारी बातें प्रार्थना की तरह सुनायी पड़ रही थी।

कहा लौटने की बात कर रही हो ? उस जगह का नाम तुम्हारी आँखों में पड़ पा रहा था, सो पूछा नहीं।

\*

\*

\*

उस मकान में चितायी गयी पहली रात को भूल नहीं पा रहा हूँ, इसलिए

इतनी बातें निघ गयी। बाबा, मैं एक कमरे में, तुम दूसरे कमरे में थीं, कब आकर लेट गयी हो, पता नहीं चला।

कुछ और देर बाद, बाबा जब लेटने लगे थे, दरवाजे पर दस्तक हुई। किसी ने गला खटारते हुए पूछा, “प्रणव बाबू सो गए क्या?”

अविनाश को आवाज थी। बिना प्रतीक्षा किए ही वह अन्दर आ गया। “माचिस है माचिस!” बाबा की ओर देखते हुए वह न जाने कैसे स्वर में बोला। बाबा बोले, “हूँ।” उसके हाथ में माचिस समा दिया। उसने हथेली की आठ बनाकर एक तीली लायी। पर बुझ गयी। उसने फिर से जलायी, फिर बुझ गया। “धू,” छिड़की के पास जाकर धुकते हुए अविनाश ने कहा, “बोली जलाया हूँ नहीं बाहूँ तो है। बार-बार बुझ जा रही है।” सेंटे-सेंटे ही तीली की रोशनी में उसका दमकता हुआ चेहरा देखा पा रहा है। कोई मतलब भरी है उसकी आँखों में, काइ गूढ़ इरादा? समझ नहीं पा रहा है। अच्छा नहीं लग रहा है। छटपटा रहा है।

“बलेगा?” उसने कहा, फिर बाबा को हलके-से ठेलता हुआ बोला, ‘सीजिए न जनाब! खासी नहीं होगी। इसका नाम मेनका रोड़ा है।’ बाबा ने क्या कहा सुना नहीं, पर देखा बिना कुछ बोले बीड़ी ले रहे हैं। मुझे पसीना आ रहा है। चादर भीगती जा रही है। अविनाश बोला, “दो-चार और रख लें। रात का जरूरत पड़ सकता है न।” इतना कहकर उसने विस्तर पर और भी बीड़ियाँ फक दीं। मैं पसीन में लपलप। मैं! बाबा देख नहीं पाये थे, मैं आँखें भी पोंछ रहा था। अविनाश चला गया।

अधेरा कमरा। चारों ओर जितनी तरह की आवाजे या, सबने विकट स्वर में हमारे ऊपर आक्रमण की। कहीं क्षिगुर, कहीं कोई रतजगा पक्षी। मैं पहचानता नहीं हूँ, पर उनमें से एक आवाज की पहचानता हूँ। कुत्ते की। अचानक, पता नहीं क्या जिद पड़ी, धोड़कर बाहर निकल गया और कुत्ते को बगीचे के बाहर तक खेड़ आया। बाबा उस समय तक बैठे थे। दोनों हाथों को आँख के सामने फैलाए, धुप देखकर कहा, “एक गिलास पानी।” दिया। पा गए। उनका हावभाव उबला-उबला सा। हटा हुआ। चमकती हुई आँखें पर पानी से नहीं। बेसे हो थके हुए स्वर में बोले, “कहा गया था?”

“कुत्ते को खदेड़ आया बाबा! जितनी बुरी तरह रा रहा था।”

“इसलिए खदेड़ दिया?” बाबा ने सिर हिलाते हुए कहा, “आगे से प्रव खदेड़ना।”

‘मैं अवाक होकर दब जा रहा हूँ, इसलिए धूमिली रोशनी में देखा, बाबा हल्के से मुस्कराए थे। निष्प्रभ पीली रोशनी में वह हसी खा गयी। “क्यों मना कर रहा हूँ? कुत्ते बाहर से गंद दीखते हैं, पर उनका सब कुछ हम कहाँ जानते हैं? वे लोग रात के पहरेदार होते हैं। फिर विवेक भी तो कोई चीज है न! रात का जागृत आत्मा ही सायद उसका कण्ठ से आर्तनाद करती हो।’

ये सब अर्थहीन बातें थी, माँ ! मैं समझ रहा था, किसी दूसरे आर्तनाद को दवाने की कठिन चेष्टा। चिस्तर के ऊपर उस समय भी कुछ वीडियाँ पड़ी हुई थी।

“बाबा !” मैंने फुफ्फुसा कर कहा “उस आदमी के पास माचिस थी। मैं जान गया था। तब जब जा रहा था, उस समय जब मैं हाथ डालते ही खड़की थी।”

“मुझे मालूम है।” प्रशान्त स्वर में बाबा ने कहा, “मुझे मालूम है। वह जानबूझकर मेरा अपमान कर गया। बताया गया कि वह और मैं दोनों बराबर हैं। हम दोनों ही यहाँ क नोकर हैं ?”

वह स्वरहीन, तरगहीन स्वर को मैं बरदाश्त नहीं कर पा रहा था। जल्दी से उठता हुआ बोला, “पर बाबा, बस या परसो दोधा मा सो आ जाएँगी, उनके आते ही।”

बाबा अस्वाभाविक रूप से हस पड़े, “हाँ फिर तो एक फैसला होगा ही। ठीक कहता है प्रमोशन मिलेगा नोकर से घर जमाई।”

सुक कर मेरा गाल दबाते हैं और फिर उसी तरह जोर-जोर से हसने लगे।

\*

\*

\*

कुछ देर बाद कमर में तुम आयी थी। शायद उस हँसी की आवाज से तुम्हारी नींद खुल गयी थी। आँखें मूजो हुईं, इधर-उधर देख रही थी। भारी स्वर में पूछा था, “क्या बात है ?”

बाबा अब हस नहीं रहे थे, पर मुस्कराहट होठा से यमाँ भाँ गयी नहीं थी। बाबा बोल रहे थे, “बात क्या होगी ? और थोड़ी देर पहले आने पर मुझे नहीं पाली।”

“यह भला कैसी बात हुई ?”

“फिर से वैरागी बन कर नियस जाता और क्या ? तुम तब भी सोयी रहेगी। बुद्ध देव या चैत य दय न गृह त्याग क्यों किया था, मालूम है ? असनी कारण को मैंने समझ लिया है। आदमी जब सो नहीं पाए, छटपटाए, प्रहर पर प्रहर यूँही बीत जाए और वह देख कि उसके पास जो है, विशेषतः उसकी पत्नी, गहरी नींद में बे-खबर होकर सो रही है, उस समय ससार बड़ा उदासीन लगता है। तुम क्यों, क्यों तुम्हारा ? परिवार-परिजन स्वायपर लगते लगता है। बुद्धदेव और चैतन्य ने इसी से।”

गम्भीर स्वर में तुमने कहा, “बस करो। न तुम बुद्ध हो। न चैतन्य हो।”

अब जाकर बाबा के पिसे-चेदूर पर एक परछाई उतर आयी। हँसत हुए

चेहरे पर पीड़ा झलक आयी थी। ससि भरत हुए वे बोले, “पता है, मैं कोई नहीं हूँ। कुछ नहीं।”

अपनी गलती को तुमने तुरन्त महसूस कर लिया। “छि, टूटने से काम नहीं चलेगा।” मुझे दिखाते हुए कहा, “बढ़ तो है। किस्मत में हुआ तो वह घटा होगा। आते समय मकान मालिक को अरुंध के साथ वह जो आए हैं कि हम साग माग नहीं रहे हैं। मेरा लड़का लायक बनेगा। तुम्हारी पार्स-पार्स चुका देगा।” बोसते-बोसते तुमने मेरे सिर पर हाथ रखा, “बयो रे ? नहीं चुका सकेगा ?”

रिस्ती तरह बोला, “सबूंगा।” और मरी विरपासी माँ। तुमने बाबा की ओर घूमकर गाढ़े स्वर में कहा था, “ईश्वर का स्मरण करो। सत्र कुछ फिर स तीव्र हो जाएगा। परीक्षा या परिणाम अच्छा हो। तुम्हारी तबीयत भी ठीक हो जाएगी। ईश्वर को पुकारो।”

“नहीं पुकारूँगा।” चौंकाते हुए बाबा साफ़ शब्दा में बोले उठे, “नहीं पुकारूँगा।”

“ईश्वर पर विरपास नहीं है ? अब भी नहीं है ?”

‘है,’ बाबा धीरे धीरे बोले रह रहे हैं, ‘है, सभी तो नहीं पुकारूँगा।’

“फिर से पहली ?” तुमने व्यस्य पूर्ण स्वर में कहा।

“पहेली नहीं, पहली नहीं।” बाबा अधीनपूर्वक बोले, “तुम समझ नहीं रही हो। हम लोग अपनी छोटी-छोटी ज़रूरतों पर उन्हें बुलाते हैं, इसलिए किसी बड़े काम में उन्हें काम में नहीं ला पाते हैं। मनुष्य तूच्छाति-तूच्छ स्वार्थ और छिटपुट कारणा से लगातार उनकी सहायता मागता है, इसलिए ठगे जाते हैं, कम से कम मैं जब भी कुछ चाहा है, ठगा ही गया हूँ।”

इस आत्माधिकार के बाद बाबा अपने आवेग से दँधे हुए स्वर को मुक्त करने के लिए ही शायद रुक गये। फिर भी नष्ट स विवृत हो उठा उनका स्वर, “बाबा या, सभी तो जहाँ सचमुच की ज़रूरत थी, वहाँ न मिली उनकी वृषा, न करुणा। सबके साथ बंदम मिला कर चल रहा था देश की मुक्ति के लिए। वहाँ भी पिछड़ गया, सो हट गया, और लेखन ? वहाँ और भी पठिन सजा उन्होंने दी—कहाँ, मुखसे उन्होंने उनके उपयुक्त कुछ लिखवाया क्या नहीं ? याचा था, तुम सबक साथ मिसकर एक सपनों भरा परिवार बनाऊँगा, अपने अन्तिम कुछ वर्षों के लिए पर वह सपना भी गिरे हुए स्वास्थ्य और शरीर के साथ ही हट कर चूर-चूर हो गया है।”

हम दोनों धामोश ! मा, तुमने मरी आर देखा। आँखा में उत्कठा, आतक। आँखा से ही पूछा, “कैसा समझ रहा है ? बाबाओं इनकी घटी है या बढ़ा है ?”

मैंने भाँ मन ही मन में जवाब दिया, “कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। इस मकान से मुझे डर लगने लगा है। माँ ! मुझे यहाँ से छोड़ जाना है।”



मुधीर मामा ने कहा, “अरे यह क्या बचपन है ? आ, इधर आ ।”

(मानवीय भाषाओं में जितने भी सम्बोधन हैं, उनमें से यह “आ” सम्बोधन सबसे ज्यादा हरा सुशीतल है, वृष्णा के किसी पेय की तरह । गहरा अर्यवान । आश्वासनों से ध्वनित है यह—“आ ।”)

मुधीर मामा ने कहा, “आ ।” वही मुधीर मामा मा । तुम्हें याद आ रहा है ?

कैसे उनसे मुलाकात हुई ? पूछ रही हो ? बताता हूँ । मुझे धाबा स्थिर होने दो ।

\*

\*

\*

उसके बाद का दिन बहुत घुरा बीता । कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था । न वह मजान न बाग । गया तो बिल्कुल ही नहीं । नदी, एक गदा नाला लग रहा था । जिसने मुझे खाने को दिया, कहीं बैठकर खाया, सीसनवार रसोई में पीढ़े पर बैठकर या उसके बगल वाले कमरे में रखे सफेद शक पत्थर के टेबुल पर । इन सब बातों की ओर मेरा कोई ध्यान ही नहीं था । किसी तरह सिर झुकाए खा रहे हैं । जितनी जल्दी हाँ सके । खाना तो नहीं, असम्मान की मुट्ठी । जिससे सिर्फ पेट का गढ़ा ही भरा जा सकता है । खा रहा हूँ और साच रहा हूँ, खत्म होत ही भाग जाऊंगा ।

जाऊंगा, पर कहीं ? कालेज ? अच्छा नहीं लग रहा था । लेक्चर का एक शब्द भी दिमाग में घुस नहीं रहा था । मेरे प्रिय जितने काव्य, सब कड़वे और मकवास लग रहे थे ।

क्लास से स्टेशन भाग गया । वही स्टेशन, बहुत दिन पहले । कितने दिन पहले हे भगवान ! कितना अरसा पहले ? जहाँ एक शाम को आकर उतरे थे । स्टेशन मुझे अभी भी अवश, आविष्ट करता है । कम से कम बाफ़ी दिना तक करता रहा है ।

एक-एक गाड़ियाँ चली जाती हैं । भारी पसर्कें ईर्ष्या से काँप जाती हैं । मैं देखता रहता हूँ । दिव्या के बाहर तकड़ी के तख्त पर लिखा हुआ, एक-एक जगह का नाम । मैं पढ़ता हूँ, कुढ़ता हूँ ।

फिर भी वह कौन-सा आकर्षण था, जिसके पीछे मैं स्टेशन चला गया ? पर जाता अवसर ही था । उस दिन भी गया था । कारण तो बताया ही । मन उठा था । सौटने की तबीयत नहीं हो रही थी । और फिर सौटूंगा भी कहाँ, उस मकान में ? वही बाज़ा सौदा-मुलुफ़ लाने वाले नौकर या फिर मुनीम नहीं तो घर जमाई । और तुम भी ? सोचते हुए भी कष्ट हो रहा था ।

पर उस दिन स्टेशन में खड़े रहकर तुम्हारी भी मुक्ति की बात साबा पा । रह तुम भी नहीं पा रहो यो । सौट जाना चाहती हो वहा, जहाँ से हम आए थे ।

\*

\*

\*

अचानक उस दिन एक काम कर बैठा । एक ट्रेन ज्योंही धीरे धीरे स्टेशन से खिसकने लगी थी, मैं बिना कुछ सोचे-समझे त्योंही एक बिन्ने का हैंडल पकड़ कर उस पर चढ़ गया । मरे पास टिकट नहीं था ।

(जमभीर भी कभी-कभी कोई न कोई साहस का काम कर हा बैठता है ।)

शुरू-शुरू में अच्छा ही लग रहा था । ट्रेन के हिचकोले में भी एक आदेश है । विशेषतः अगर खड़े रहा जा सके । टलमल-टलमल, गाड़ी सिर्फ खुद ही हिचकोले नहीं खाती है, बल्कि अपने आसपास जो कुछ तस्वीर की तरह स्थिर रहता है, सबको हिचकोले खिलाती है । यात्रियों में कोई अखबार पढ़ रहा है तो कोई आपन म हस बोल रहा है । उन सबमें, मैं अपरिचित अनधिकारी एक आग-तूक, मेरी भी एक जगह दुनिया थी—अस्वस्ति और भय की । कहाँ जा रहा है, क्यों जा रहा है क्या होगा जाकर, हम सब प्रश्नों ने कोवना शुरू कर दिया था ।

एक बूढ़े से सज्जन खिडकी के पास बाहर की शाम क साथ अपनी आँखें मिलाए बैठे हुए थे । सोचा उनकी बगल में बैठ जाऊँ, पर भरोसा नहीं हुआ । उनकी ओर थोड़ा झुककर पूछा, “यह गाड़ी कहाँ जाएगी ?”

उन्होंने मेरी ओर मुह घुमाया और एकबार फिर से पाव तक मेरा मुआयना करते हुए बोले, “आप तुम्हें कहाँ तक जाना है ?”

“बहुत दूर,” मैंने हकबकाते हुए कहा ।

(ऐसा ही तो ! ठीक ही बात है, बहुत दूर मैं जाना चाहता हूँ ।)

उन्होंने एक भरी नज़रो से मेरी ओर देखा, यह ट्रेन तो बहुत दूर तक नहीं जाएगी ! उसके बाद फिर से मुह घुमाकर बैठ गए और बाहर की शाम में डूब गये ।

उसी समय वह आया । वही चेकर । पाँवदानिया स होते हुए वह कितनी मुगमता से हम सोमा के कमरे में था गया । “टिकट बट्टी है, टिकट । टिकट,



टिकट ।” भौखिक परीक्षा के कठिन प्रश्न मुझसे पीछे जा रहे हैं। उत्तर एक का भी नहीं दे पा रहा हूँ।

उसने भी मेरे आपादमस्तक का निरीक्षण किया। आँखों का मुँई की तरह चुमा कर बोला, “नहीं है ?” उस समय किसी फठपुतली की तरह सिर्फ सिर हिलाया था ? याद नहीं।

उसने फिर पूछा, “कहाँ जाओगे ?”

बोस बैठा, “सियासतदाह ।”

मुनकर चेकर अपने चेहरे को बहुत कुत्तिस बनाकर हँस पड़ा। सबको सुनाते हुए बोला, “सुन रहे हैं ? यह छोकरा कह रहा है सियासतदाह जाएगा ।” उस समय गोद में झाड़न बिछाकर जो लोग ताश खेल रहे थे, उनमें से एक ने ऊँट की तरह मुँह उठाते हुए चेकर की हँसी के साथ अपनी हँसी मिलायी।

चेकर बोला, “छात्र रा ! फ्लोकेट में पेसेजरी करना चाहता है ? पर फाँकी मारने की चतुराई का ठोक से अभी सीखा नहीं है। बुद्धि का घट विल्कुल ठन-ठन है क्या ? यह गाड़ी तो आ ही रही है सियासतदाह ने, हा हा हा। या फिर उम्मी बदमाशी से पार हो जाना चाहते हो छाकरा ।”

छोकरा-छोकरा ! बार बार वही एक बात सुनकर मेरा दिमाग गरमा गया। फस्स से बोस उठा, “नानसे स ! किसे क्या कहना चाहिये पता नहीं है ?”

उसने मुझे तुम कहा था, इसलिए मैंने भी उसे ‘तुम’ कहा। तुरन्त यह बीज साया सा मेरी ओर बढ़ आया। मेरी कमीज का कालर पकड़ कर मुझे जकड़ारने लगा और फिर किसी कुत्ते की तरह गुराँति हुए बोला, तुम्हे पता है ? आज तुम्हे पता कर देंगे। पता है, नानसेस का मतलब ?

कालर पकड़ कर उसने मेरा लगभग टेढ़ा ही दबा बैठा था। मेरी आँखें अपने आप भीग उठी।

मैंने बड़े रिरियाए हुए स्वर में कहा, “छोड़ दो मुझे छोड़ दो ।” उसके दोनों हाथ साँप की तरह झूल रहे थे।

“जानत हो ! मतलब जानत हो ?” जब उसका परदा चढ़ने लगता, ता ऊँट की तरह मुँह उठाकर हँसा था। हाक लगाकर बोला, “जाने दो, जाने दो मल्लिक ! लड़के की शक्ल नहीं देख रहे ? नानसेस का मतलब उसे नहीं मालूम है। अहा, मालूम होने पर भूना बालता ?”

चेकर के कालर पकड़ते मेरा सिर्फ दम घुटने लगा था। पर ज्योंही उस आदमा ने कहा “आहा ! जानता नहीं है ।” ऐसा लगा मेरे ऊपर किसी ने एक बोलत स्वाही उँडेल दी हो।

अपमान ! अपमान ! चेकर उस समय भी तडफड़ा रहा था, “आज बताना दूंगा अच्छी तरह ।” फिर भी दूसरा क कहने पर, कालर को छोड़ते हुए गाड़ी के फव्वे वॉ प्लेटफार्म पर धक्के मार कर उतार दिया। प्लेटफार्म के आखिरी सिर तक

गया था। ट्रेन चली गयी थी, पर सिर अभी तक चकरा रहा था। जो भिचराने लगा। सामने ही नल है। सिर में पानी डाला। शीतल जल बहा। दल की झरझर धारा में स्नेह और सात्वता संचारित हो जाने लगा। मेरे स्नायुओं में धिराओं में।

\*

\*

\*

उसी समय सुन पाया था, "आ!" चौंक कर देखता हूँ-। सुधीर मामा।

वही सुधीर मामा। जार कहूँ, देखते ही पहचान गया, तो वह एक चौंकानेवाला झूठ होगा। माँ, तुम्हें तो धोखा नहीं दे सकता हूँ। ज्यादा उल्टे कहें "आ," एपोही मैंने उनके चेहरे से नहीं, आवाज से उसे पहचान लिया। उस बुलाहट को मैं ज म से पहचानता था न। बहुत बहुत दिनों के बाद फिर से वही बुलाहट।

सुधीर मामा एक बेंच पर बैठे हुए थे। धीरे-धीरे ज्योही पूछा, "क्या हुआ है?" उस समय वह पानी मैंने महसूस किया थापा स छलकने लगे हैं।" क्या हुआ है?" उल्टे फिर से पूछा। पर मैं जवाब दूँ क्या? मैं उनके पाँव के पास बैठ गया हूँ। उसी बेंच के नीचे। आँखें छलकी जा रही हैं। मैं उसके घुटने पर मुँह रगड़ रहा हूँ। मेरे सुधीर मामा। वे काँपते हाथों से मेरा मुँह उठाना चाहते हैं।

"क्या हुआ है," फिर नहीं पूछा। मेरे गाल पर हाथ फेरते हुए कहा, "बड़ा हो गया है।"

'बड़ा हो गया है,' सुनने के बाद मैंने भी उनकी ओर मुँह उठाकर देखा। कितने बदल गए हैं वह? यदन का रंग पहले जैसा ही रहेगा। फिर भी साफ। बाकी चेहरा कहीं बदलता है भला? पर दोनों हाथ और अधिक सीप।

"क्या दख रहा है?" उन्होंने स्मितभाव से पूछा।

"आप बूढ़े हो गए हैं सुधीर मामा।" मैंने शरमाए-से लहजे में कहा, "बूढ़े और और भी ज्यादा दुबले।"

"बूढ़ा? वे पहले की तरह ही हँस पड़े। "वह तो हो ही गया हूँ। उम्र कुछ कम तो नहीं हुई। दुबला गया हूँ? दुबला होना तो अच्छा ही है। चर्बी-चर्बी भर रही है। यिफ चर्बी हो क्या बहुत कुछ झर गया है।

झाहत छिन्न स्वर में, पर मन ही मन मैं भी उनसे कहता रहा, याने बोलना चाहता था, सुधीर मामा। हम लोग का भी सब कुछ पड़ चुका है। कलाते ने एक-एक करके सब कुछ छीन लिया है। बाबा का शरीर टूट चुका है। माँ—

"व लोग बेस हूँ रे?" वे लोग यान बोन लोग? वे लोग यान माँ। मुझे यह समझने में दूर नहीं लगी।

सोप में बोला, "अच्छे नहीं हैं, "फिर तुरंत कहा, "अच्छे हैं।"

चरम में बदल से उनकी आँखें टुकुर-टुकुर दख जा रहा थी। "अच्छे नहीं हैं, अच्छे हैं? इसक मतलब? बलकता जाकर इन कुछ सालों में पहलिया बुगला सोप गया है क्या? मैं गाँव का पुराने समय का साजा-साजा बादमी हूँ मुझे यादों समझा कर पता।"

अचानक एक उच्छ्वास में बोल पड़ा। “कसकता मुझे अच्छा नहीं लगता है सुधीर मामा।” इससे ज्यादा कुछ बोल नहीं पाया। हालांकि सीने के अन्दर बहुत कुछ बोलने के लिए बाग लगे बाँस की तरह फटाक-फटाक फटते जा रहे थे। बहुत कुछ कहना चाह रहा था, पर कुछ भी कहा नहीं जा सका। उसकी जगह बड़े भोलेपन के-से बदाज में पूछ बैठा, “यह कौन-सा स्टेशन है सुधीर मामा?”

इस बार वे सचमुच अवाक हो गए। “क्या, दमदम! कौन-सा स्टेशन है यह भी अगर मालूम नहीं तो आया कैसे?”

सब कुछ समझा कर बताना नहीं पड़ा। उन्होंने शायद खुश हो समझ लिया। “पाग रहा था? पकड़ा गया? इसलिए उन लोगो ने उत्तर दिया? इसलिए रा रहा था?” यह स्वर तिरस्कार का नहीं, हमदर्दी का था।

मैं इधरे स्वर में सिर्फ इतना ही बोल पाया, “मेरे पास टिकट नहीं था न।”

उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा, “आगे से भागना नहीं। जब तक टिकट न मिले गाड़ी में चढ़ना नहीं चाहिए। उतार दिया जाता है।” बहुत दबे स्वर में बोलें जा रहे थे। बोलने का तरीका बिल्कुल पहले जैसा।

“मैं भी चला जाना चाहता था, पर नहीं जा सका। फिर अब तो और भी नहीं सक्ता यह जो लाठी देख रहा है न, यह पहले भी थी, पर अब तो अपरिहाय हो गयी है। इस पर बदन टिकाए बिना एक रुदम भी चल नहीं सकता है। गठिया ने इस सम्बन्ध शरीर को एकदम तोड़कर रख दिया है। कितना दुका दिया है, खड़े होने पर देखना। जितना था, उससे कम से कम सात-आठ इंच कम।”

“जब तक मजबूत था, “सुधीर मामा बोलें जा रहे थे, “एक दिन पता चला, सचमुच का कही जाने की जरूरत नहीं पड़ती है। बैठे-बैठे ही जाया जा सकता है। वस आँख बंद करो और फिर।”

सम्मोहित की तरह सुने जा रहा था। “बस उठा जाए।” सुधीर मामा खड़े हो गए। पहले अपनी लाठी खड़ी की, उसके बाद उस पर टेक लगाकर उठकर खड़े हो गए। काफी कुछ पहले जैसे ही, पर अब पहले जितने सम्बन्ध नहीं दिख रहे थे। पीठ घुनुप की तरह टेढ़ी होकर सामने की ओर झुक गयी थी।

स्टेशन के शेड के नीचे जितना अघकार लग रहा था, बाहर उतना नहीं था। आकाश एक बड़े घाल जैसा। भोजन समाप्त होने के बाद भी उसके किनारे पर पोढ़ी-सी धूप का झूठन लगा हुआ था।

सड़क पर भीड़ थी। छोटा-मोटा सब्जी बाजार भी सड़क किनारे लग चुका था। एक जगह सुधीर मामा कुछ खरीदने के लिए खड़े हो गए। पर खरीदा क्या था उ होने? देखा, कुछ खास बाज़ नहीं। एक गुच्छा बासी फूल। उसके बाद फिर से चलने लगे थे।

मैंने अनुभव किया। इस बीच व थोड़ा हाँफने लगे थे। हाथ की लाठी ठीक

जगह पर नहीं पठ रही थी। बोला, “सुधीर मामा ! आपको चलन में तकलीफ हो रही है क्या ?”

वे सिर धुमाकर बोले, “अरे, वह कुछ नहीं। थोड़ी-सी तकलीफ तो उठानी पड़ती ही है। जीने के लिए इतना जरूरी है।”

एक गली के नुक्कड़ पर आकर हम लाग खड़े हो गए थे। जो बात मन में फब से घुमड़ रही थी, अचानक मुह से निकल गया, “आप ठीक बाबा की तरह बातें करने लगे हैं।”

“ऐसा क्या ?” वे थोड़ा चौंक गए क्या ? पर तुरन्त खुद को सम्भालत हुए बोले, “हो सकता है। घर सोटकर शायद हम सोच एक ही जगह पर जा पहुँचे हों। हो सकता है।”

बोलत समय भी माँ ! सुधीर मामा ने एक बार धीसा था। उनका गला फाँप गया था, “क्या कहते हैं तेरे बाबा प्रणव बाबू ?”

“बहुत सब क्या मैं आपको बता सकूँगा ? बहुत कठिन-कठिन बातें। बाबा काफी बीमार पड़ गए थे न। अभी भी पूरी तरह ठीक नहीं हुए हैं। उसी समय से वैसी अजीब-अजीब तरह की बातें। बाबा अब भगवान पर विश्वास करने लगे हैं।”

“करने लगे हैं ?” सुधीर मामा ने ऊपर की ओर देखा, मानो भगवान वही व्याप्त हैं या नहीं यह देखना चाहत हैं। उसके बाद सिर हिलाते हुए बोले, “पर कहीं, मैं तो विश्वास नहीं करता हूँ।”

“नहीं करते हैं ?”

सुधीर मामा न कहा, “नहीं। पर कुत्ते वचि-अरुचि, याद-अन्माय का मानता हूँ” हाथ में लिए हुए पीले फूलों को दिखाते हुए बोले, “जैसे ये सब हैं। सुबह भी तो खरीद सकता था ? पर उस समय वे बहुत ताजे रहते हैं। मामा जाती है। इस समय उन्हें लेने में कोई कष्ट नहीं है। जीवन में जिनकी इच्छाएँ रह गयी हैं। उन्हें नष्ट कर देने में मुझे कष्ट होता है। जो सूख गए हैं या खत्म हो आए हैं, मैं सिर्फ उन्हें ही लेता हूँ। हिलाडुला कर स्वस्ति पाता हूँ।”

“इसलिए तो वह रहा था सुधीर मामा ! आप ठीक बाबा की तरह बातें करने लगे हैं।”

उन्होंने कहा, “कहा ? उन्हें विश्वास है, मुझे नहीं है।”

उसी समय फस से मोल बैठा, “सुधीर मामा ! बाबा से आप बहुत नाराज हैं न ?”

बातों के बाद ही पता चला, मूख जैसा काम कर बैठा हूँ। व शायद तुरंत नाराज हो जाएँगे। हाथ की लाली काफ़ी लगेगी। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। आतंकप्रस्त की तरह बोल पड़े, “गुस्सा ? नहीं, बिल्कुल नहीं।”

हम लाग फिर चलन लगे थे। सहजता फिर से आ गयी थी। व सारा हालचाल पूछ रहे थे। बोच में एक बार बात थी, “तु तो जेट्समैन बन गया है।”

कहाँ रह रहा है, सुनकर बोले, “फिर तो यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है। पास में ही है, कच्ची सड़क पकड़ कर चला जाएगा, सीधे पश्चिम में। दो-तीन मील का रास्ता होगा। मैं इस गली के आखिरी सिरे पर रहता हूँ वह जो टालियोवाला मकान देख रहा है, सामने मत है। वही।” सुधीर मामा थोड़ा-सा रुके, फिर बोले, “अच्छा तो फिर ठीक है।” याने विदा कर रहे हैं। फिर भी मुझे इतस्तत करतें देख फिर थाड़ा मेरे पास आए, ‘जाऊँगा एक दिन तुम लोग का यहाँ। तारा भाई कितना बड़ा हो गया है भाई, माँ वहन ? देख आऊँगा।’

कहकर ही वे धीरे-धीरे डेरे की ओर बढ़ गए। मेरे मन में कुछ कौतूहल रह ही गए। उस डेरे में और कौन है भामती ? भामती के बारे में कुछ पूछ ही नहीं सका।



उस दिन लौटते समय मन पर एक मुखामेल हरी घास की तरह फैला हुआ था। थोड़ा-थोड़ा ओस भी जमने लगा था उन घासों के पोरों पर—भय का ओस। रास्ता भी पहचाना हुआ नहीं। उस दिन शाम के बाद ही वे सारे इलाके सूनसान हो जाते थे। सीधा चला जा रहा है। यही ठोक पश्चिम दिशा है तो ? सुधीर मामा ने कहा था, सीधे पश्चिम की ओर। सुधीर मामा ! रह-रहकर सीने के भीतर चरकोच्छ्वास उमड़ आता।

अतत काफी चलने के बाद जानी पहचानी जगह दिखलाई पड़ने लगी। गंगा भी दीप गयी, उसके बाद यह तो सामने फाटक है। रात होने के कारण दरवाजे बन्द पर उसके मजबूत इस्पात के कपाट, एक बहुत बड़े आरवासेन की तरह। फाटक के सामने पहुँच कर जान भ्रम जान आया।

तबसे पहले तुमसे मुलाकात हुई। पता था, होनी ही थी। ठेर सारी कैफियत देनी होगी। पता नहीं कितनी डाँट खानी पड़ेगी। केस गया कहूँ कौन-सा बहाना गढ़ू, साँचत-सोचते अन्दर जो कुछ खदबदा रहा था, उसे उच्छ्वास के प्रवाह में निकाल दिया।

“पता है माँ ! सुधीर मामा से आज मुलाकात हुई थी।”

तुम्हारा चेहरा जो अब तक सिकुड़ते हुए चादर जैसा हुआ था, वह मानों तुरन्त-तुरन्त खींच कर बिछा दी गई। सहमे हुए स्वर में एक बार कहा, “कौन ? क्या कहा ?”

“सुधीर मामा।”

सायद थोड़ा-सा पहने वाला रूखापन। तुम एकदम भावलेह-शून्य-सी हो गयी हो। अब तक मैं डरा हुआ-सा था, पर अब साहस मिल गया। उसके बाद मुझे छत पर ले जाकर पूछताछ। मरा सब कुछ बताना। तुम्हें वह सब मालूम है, आज सिर्फ उसका छाका भर खींचूंगा।

\*

\*

\*

क्या ? और क्या ?—और कुछ नहीं।—केसे हैं ?—अच्छे ही, बताया न !—अच्छे ? वह तो रहेगा ही। क्यों ?—हम लोगो का हातचाह पूछ रहे थे। हम लोगो का मतलब ? किसका-किसका ? बाबा का मेरा। तेरे बाबा का और तेरा ? जाह,

और ! और कुछ नहीं । और कोई बात नहीं हुई । बहुत बातें हुई, बताया तो । बाबा के ऊपर अब कोई नाराजगी नहीं है ।—नहीं है ? तेरे बाबा के ऊपर कोई नाराजगी नहीं है ? अच्छा !

“बाबा के ऊपर नाराजगी नहीं है,” इस बात से विस्मय अथवा हताश होने जैसी बात क्या थी माँ, मुने मालूम नहीं । ठीक उसी समय बाबा ऊपर जा गए थे, इसलिए । वरना उस तरह पूछताछ जब तक चलती रहती, पता नहीं । तुम जल्दी से बोल पड़ी, “सुनते हा, सुधीर दा के साथ आज तुम्हारे बेटे की भेंट हुई थी । वही सुधीर दा । उन्होंने क्या कहा है, पता है ?”

बाबा ने माँ की ओर देखा ।

“कहा है, तुम्हारे ऊपर उ हे कोई नाराजगी नहीं है ।” माना बड़ा मजेदार कोई बात हो । सुनकर बाबा हँस पड़े थे और निर्मल स्वर में कहा था, “नहीं है न ? मुझे पता है, नहीं रहेगा । मुझे भी नहीं है । सिर्फ गुस्सा ही क्या, कुछ भा बहुत ज्यादा दिनों तक नहीं रहता है । उठ जाता है, ठंडा पड़ जाता है, धूमिल हो जाता है । समझी ?”

तुमने बहुत उत्परता से कहा था, “समझ गयी, समझ गयी हैं । तुम दोनों मिल गये हो, समझ गयी हैं ।”

मैंने बहुत धीमे स्वर में कहा, “सुधीर मामा एक दिन जाएंगे, पता है ? बड़ी मजेदार बात कहा है उहाँन । मेरे भाई या वहन कितने बड़े हा गए हैं, जाकर देख जाएंगे ।”

यह बात मजेदार थी, इसलिए या किसी और कारणों से तुम्हारे चेहरों का रंग एकदम बदल गया, ‘पहल इस बात का जिक्र क्यों नहीं किया ?’ तुम हस रही थी, “सुधीर दा ने झूठ कहा है समझे ?” बाबा की ओर देखते हुए कहा था, “गुस्सा एकदम से ठंडा नहीं पड़ा है । यादा-सा रह गया है, समझे भोलाभाय ? वरना भाई-वहन की बात नहीं करता ।”

\*

\*

\*

उस मकान में हम सोगा का आश्रित जीवन किस तरह गुजरता रहा, उसका रोजनामचा मैंने रखा नहीं है, पर याद है कष्ट, अपमान-बोध आदि की सुझाई क्रमशः अपनी सूक्ष्मता छाती जा रही थी ।

बगीचे के आन-क्रोने में, गंगा के किनारे, जिस समय बाबा पेड़ पीछे दूढ़त फिर रहे हैं, जब समेत कोई-कोई पीछा उखाड़ ला रहे हैं, उस दृश्य को आज भी साफ देख पा रहा हूँ । और यह भी समझता हूँ कि, व्यापार के लिए उपादान संग्रह करने का वह बहाना भर था । बाबा अपने लिए ही दवा दूढ़ रहे थे—सम्मानबोध जगाए रखने का कोई जड, या फिर ऐसा कुछ करना, जिससे अपमान-बोध को कम से कम सुला कर रखा जा सके ।

और मैं ? अपने लिए भी मानो उसी तरह की कोई दवा किस्मत से मिल गयी थी । माँ ! उस दिन तुम समझ नहीं पायी थीं, समझना चाहती भी नहीं थी, फिर भी आज फिर से बोल रहा हूँ । उस दिन अगर मेरे मन के अंदर झकझोर देती, तो किसमिश की घटना को लेकर क्षिप्त नहीं हो उठती । कैसे क्या घट गया था, आज फिर से सिसिलेवार कहने बैठे हैं तुम्हारे एजन्तास म—अपनी इस जवानव दी म ! यह मेरी आखिरी कोशिश है ।

वह घटना, घटने के कारण ही मैं जी गया । मने मुरझाए पड़-प दिन फिर से सरोनाजा हो गए थे । आज इतने दिन बाद सिखन बैठ कर भी सोच रहा हूँ, आह ! अगर किसमिश शुरू से वह रही होती । पर नहीं, वह आयी सबसे बाद म । उससे पहले परे बहुत मे निचोड़े हुए, सूखे कण्ट के दिन गुजरे हैं ।

\*

\*

\*

तुम्हारी मासीमाँ, उस पर की जो मालकिन थी, हात्ताकि वे दो दिन बाद ही आ गयी थी । साथ मे उनका पाता । उनके जाते ही पर मे कितनी बहल-बहल हो गयी थी ।

सचमुच तुम्हारी मासीमाँ बहुत अद्भुत महिला था । मेरी दोदीमाँ । उस दिन कालेज से लौटने पर देखा, घर पर मानो धूम पड़ गयी हैं छाड़-पोछ, सफाई-धुलाई की धूम । सहम बढमो से मैं ऊपर गया । उहे प्रणाम किया, तुरन्त उ जाने मेरी ठुड़ी उठाते हुए कहा, “आहा ! एक कन्हैया जैसा !”

“दीदीमा ! मैं तो काता ही हूँ ।” शरमात हुए कहा था । उन्होंने तुरन्त पास दबाया, “दुख गया क्या ? पर बेटे मेले बदन के रंग के लिए नहीं कहा था । इतना सुन्दर चाद-सा मुखड़ा इसलिए कहा था । व हैया ! तुम्हारी यह राखा पूखट बुझिया ही है । पसन्द आएगी ? देखना भई, बाद मे धाखा मत दना ।”

मैं बुरी तरह शरमाता जा रहा था । ऊपर से तुम बगल मे ही खड़ी थी, इसलिए चाहते हुए भी रसिकता करने की हिम्मत नहीं पड़ी । तुमने ही जल्दी से कहा ‘क्या कहती हैं मासीमाँ ? अभी भी आपका जो रूप है । साक्षात् अतपूर्णा ! रंग भी दमक रहा है । मेरी मासीमाँ लगती ही नहीं है ।”

तुम उनका मन रखती जा रही थी, यह समझ म आ रहा था । तुमने अपना काम समझ लिया था । पर मेरा काम क्या था ? उस समय भी ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा था । इतना भर हाँ महसूस कर पाया था कि व परमा सु दरी है, बुद्धिमती भी—मेरी ग्लानि पोछ देना चाहती हैं । सत्य यह था कि वे अतपूर्णा हैं और मैं अतपूर्णा का अतदास ।

अचानक गौर बिपा, ह्योढ़ी क बाहर से कोई मुखे हाथ हिलाकर बुला रहा है । रंग एक-म गौरा-चिट्ठा । पर वह लडका है या लडकी यह चद् से समझना मुश्किल था ।

दीदीमाँ न उस ओर देखत हुए कहा, “मेरा पोता है ।”



पोता ? अच्छी तरह उधर फिर से देखा । कोई लडका इतने सभ्य बाल रखता हो, ऐसा पहले नहीं देखा था । वह धीरे-धीरे कमरे की ओर चला आ रहा था । उसकी आँखों में सुरमा, गले के पास पाउडर के पर्त भी दीख रहे थे । कुर्ता भी एकदम महीन, समीज जैसा । और वह दुबला भी जरूरत से ज्यादा था, फीका सा । पास आकर उसने फिर से आँख दबायी । समझ गया कि वह उठने का इशारा कर रहा है । तब तुमने ही कहा, “जा न । उसके साथ थोड़ा घूम आ ।”

नीचे उतरते समय उसने मेरा नाम पूछ लिया । भी सिकोबत हुए पूछा, “उम्र ?” सुन कर ठड्ठी पर उँगली रखकर उसने गदन तिरछा कर कुछ सोचते हुए बोला, “मुझे बड़े हो या छोटे ?” किसी लडके को उस तरह नशाबत के साथ खड़े होते, पहले नहीं देखा था । असल में उसकी आवाज जितनी बार सुन रहा था, उतनी बार चौंक रहा था । रिनरिन मोठा स्वर । बाँसुरी की आवाज जैसी । उसी स्वर में वह बोल रहा था, “भरानाम भी बासी है । यायद मेरी आवाज इस तरह की होने के कारण उन लोग ने यह नाम रखा है । अच्छा नाम ? मेरा अच्छा नाम नीला—नालाचल है ।” उसकी कोमल स्वर शाम की फुरफुरी हवा में काप रहा था । उसकी दोनों काली आँखों की पुतलियाँ व्यथित हुई थी । कम से कम मुझे कोई बात सूझ नहीं रही थी ।

हम लोग एक पेड़ के नीचे बनी वेदी के ऊपर बैठ गए थे । बैठने से पहले उसने जेब से रुमाल निकाल कर जगह साफ कर लिया था । मुझे बात न करते देख, उसने कमर से लेकर सिर तक हिलाकर मुझे अद्भुत तरीके से धक्का दिया । “मुझे पता है, तुम क्या सोच रहे हो ।” उसके हिल्लालित शरीर में अपर्याप्त सुवास था । वह खींच-खींच कर बोल रहा था, “सोच रहे हो न, इस लडके में कितना औरतपना है । यही न ?” उसने फिर से मुझे ढकेला ।

मेरी नाक में तब खुशबू आ लगने के कारण, मैं मुह घुमा लिया और फिर थोड़ा सरक कर बैठते हुए पूछा, “तुम तुम सेन्ट क्यों लगाते हो ?”

वह उनीची-सी कातर आँखों से देखता हुआ बोला, “सगाता है । पाउडर भी सगाता है । आदत पड़ गयी है, बरना बदन घिनघिनाता है । खुद से ही घिन आन लगती है ।” कहकर भाव-भंगिमा के साथ हँसते हुए बोला, “घिन आ रही है ?”

और यह काजल ? क्यों लगात हो ?”

“आँख ठंडी रहती है । अब कुछ सुंदर रंग पाता हूँ । बरना ऐसी आदत पड़ गयी है कि आँखें जलने लगती हैं । चारों ओर सब कुछ जलत हुए दखता हूँ । विश्वास करो, कुछ भी सह नहीं पाता हूँ । विश्वास करा ।”

उसकी दावा में महसूस करता हूँ कि यह जो सुरीला कोमल स्वर और सवगलतिका प्रतिम है, उसके भीतर भी कहीं एक आग है । एक प्रतिवाद है ।

उसी समय एक नौकर ने आकर सूना दा कि चाय-नाश्ता तैयार है। बाँसी ने कहा, "ले आओ न ! यही ले आओ !"

सिर्फ एक तश्तरी आयी थी। उसने जवाफ़ होकर दिया। सब कुछ समाप्त हुए, विशेषतः उस नौकर की हिचकिचाहट को देखते हुए अन्दी से मैं बोले पड़ा, "मैं तो मैं तो आया रा खास कुछ" नौकर भाँ मोका पाकर जाता, "वे तो, वे तो जनपनाहुट के साथ कास की तश्तरी बेदी के सान पर बिसने पटक कर मारा। आबाज सुनी। नहीं, सन्नी जैसा दोयने वाला सड्का भयकर आघित हो गया है। उसका सारा शरीर बाँप रहा है।

नौकर डर गया था। जाता, "ठीक है, वे भी पाएंगे। आइए न !"

'नहीं-नहीं। चलो मैं भी चलता हूँ।'

दोना एक साथ जाने का भेज पर बैठते हैं। तश्तरी, गिलास, सब फिर से आए। दोनों के लिए। मैं अब तक रसोईघर में ज़मीन पर आसन बिठाकर खाया करता था, उसका जिक्र बाँसी से नहीं किया। साँप की तरह जिसकी देह ठंडी थी, उस समय भी साँप की तरह फुफकार रहा था।

उस दिन से मेरे लिए भी खाने की मंजूर ही जगह लगने लगी।

और रात को सुमने कहा, "बाँसी ने कहा है कि तेरा भी विस्तर उसके कमरे में ले जाया जाए। उस कमरे में साँप पाएगा तो ! सोएगा ?"

सीधे सीधे जवाब न देकर जाता, "और तुम ?"

"मैं मासी माँ के कमरे में रहूँगी।"

बाबा की बात पूछना फिजूल था। बाबा अकेले रहते हैं ? इसमें नयापन क्या है ? बरसाती चाहा था, अयाचित रूप में बरसाती में ही प्रमोशन मिल गया। माँ ! जीवन इसी तरह अनेक तात्कालिक अपमान और अवहेलना ने सुलसाया है। कुछ दाग रह ही गए हैं। पर फिर बहुत-सी तुच्छताओं को मिटात हुए भी आगे बढ़ा है।

\*

\*

\*

शोशे के सामने खड़ा वह जंगलियों के पार से क़ाबिज़ कर बेहरे पर रगड़ रहा था। पाँव की आहुट पाकर बोला, "आओ !"

मजाकिए सहजे मैंने कहा, शायद अब इसके बाद तुम चोटी भाँ बाँधोगे ? मेरी हिम्मत बढ़ती जा रही थी। पर उसने वह वातवरण से मेरा धार देखा। सम्झे-सम्झे केश-मुँछों को मुँहों में भरते हुए कहा, "मजाक कर रह हो ? करो। सभी करते हैं।" उसने एक ओर गहरो साँस छोड़ी। बोला आगे आकर अपने मुलापक कोमल हाथों से मेरा हाथ पकड़ा, "मुझे देखने से किसका खयाल आता है ? सब सब बताना ! ठीक बहना लगता है न ?"

“कहना चाहता, “ऐसा कहाँ ऐसा क्यों कहते हो ?” पर मुझे बीच में ही रोकते हुए बाँसी ने उसी सुरीले पर बिपाद भरे स्वर में कहा, “झूठमूठ का मुझे झुलावा देना मत चाहो। मुझे मालूम है। मैं तो वृहन्नसा ही हूँ, अर्जुन नहीं। अजुन किसी दिन नहीं बन पाऊँगा।”

एक प्रकार की व्यर्थना-बोध बल्य के बाद बल्य बनात हुए फैलती जा रही थी। थोड़ी देर बाद बनात स्वर में वह बोला, “बत्ती बुझा दो। रात हो गयी है। आओ सो जाओ।”

अधेरे में भी उसके अस्तित्व को महसूस कर रहा था। थोड़ी देर बाद महसूस करता हूँ। बाँसी उठकर मेरे सिरहाने आकर बैठ गया है। ‘सो गए क्या?’

बोला, “नहीं।” वह क्या बोलेगा इसकी प्रतीक्षा में रहा।

“एक बात कहने के लिए उठ आया हूँ। एक मकान के एब हाँ कमरे में हम लोगो को रहना है। हम दोनों के बीच एक समझौता हो जाना ही अच्छा है। सुनो, मैं जानबूझकर वृहन्नसा नहीं बना हूँ। उन सबने मिलकर बनाया है।

“सब का मतलब ?”

“सब का मतलब सब। माँ, बाबा, दीदी सब कोई। माँ और बाबा अब नहीं हैं, पर यह बुझिया है।” एक घृणा, अघकार में भी उसके स्वर में फुफकार रही थी। वह क्या इस घरकी पर किसी से प्रेम नहीं करता है ?

स्वयं ही इस प्रश्न को समझते हुए बाँसी बोला, “किसी से भी नहीं। अपन बाहरी आवरण का मैंने ठंडी मिट्टी-पीचड़ से लप कर रख दिया है। अब दर गुस्ते में फट पड़ रहा है। मेरी छाती पर हाथ रखकर देखो।”

अबाज से हाथ बढ़ाते हुए उसने मेरा एक हाथ पकड़कर उठाने की काशिश की। मैंने हाथ छुड़ा लिया। बोला, सीने पर हाथ-बाप रखना यह सब लडकियों वाले मखरे हैं।”

“लडकियों वाला, लडकियों जैसा।” नाराज होकर उसने स्विच दबा दिया। “मुझे लडकियों जैसा बनाया कौन ? वे लोग ही तो।” बाँसी बोलता चला गया, “वह बहुत मजेश्वर कहानी है। मालूम है ? पहले एक बहन होकर गुजर चुकी थी। मेरी माँ पागल जैसी हो गयी। शोक में यह बुझिया पत्थर बन गयी। फिर उसके तीन साल बाद आया मैं ! उन लोगों को क्या हुआ पता दे ? बुझिया ने शायद किसी चीज पर जाकर सना दखा था, माँ को फिर से लडकी हो होंगी। जो चनी गयी है वही फिर से लोट आएगी। मरा हुआ आदमी कभी वापस आता है ?”

सिर हिलाकर बोला, ‘आता नहीं है, पर इंसान साचता है। सपना दपता है।’ माँ, तुम्हारी एक पुरानी तस्वीर उमरती आ रही थी।

बाँसी बोल रहा था, “हुआ मैं, उह फिर से चाट खाना पडा। उसी दुख को भुलाने के लिए उन लोगों ने जानत हो क्या किया ? मुनकर आरपय करागे, मुत

शुरू से ही लड़कियों की तरह रखने लगे। फारू, सूडो, हार, बाला, यह सब तो या ही, यहां तक कि यह देखो नारू में लोंग और कान में झुमके के लिए छेद भी था। लड़कियों वाले सारे हाव-भाव सब कुछ वह बुढ़िया बैठे-बैठे सिखाया करती था।”

“तुम सीखते क्या थे ?”

“बाह र ! मैं क्या उतना कुछ उस समय समझ पाता था ? काफी दिना तब मैंने अपनी हमउम्र किसी लड़के तक को नहीं देखा था।”

“बकवास है।

“बकवास नहीं। मैं तो तुम्हारे सामन जीता-जगता बैठा हूँ।” थोड़ा ठहर कर वह फिर से बोलने लगा, “हार्मोनिक्स वाद में मुझे एक बहन भी हुई। तुमने अभी उसे देखा नहीं है। उसका घर का नाम किशमिय है। उन लोगो की लड़की तो हो गयी, पर मेरा फिर लड़का होना नहीं हुआ।”

मैंने कहा, ‘सिर्फ उन्हें ही क्यों वास रह हो। तुम क्या खुद को बदल नहीं सकते थे ?’

बासी के होठो पर चुन्नी हुई मुस्कराहट फैल गयी, “नहीं बदल सका। स्वभाव, चमड़े की तरह बदन से गट गया। क्या चाहने मर से अपने को बदला जा सकता है। टामबॉय किस्म की लड़कियां के धारे में मुना होगा। चाहने पर क्या वे लोग ही फिर से अपन अन्दर लड़कीपन ला पाती हैं ?”

मैंने कहा, “सब बकवास है। तुम जानबूझकर ऐसा बन हुए हो, तुम्हारी अपनी गलती है। इतने लम्बे-लम्बे वाला क्यों रहे हो ? इन्हे काटने में कौन-सा रुकावट है ?”

“रुकावट ? कुछ नहीं।” कहत हुए बासी ने अपने घन वाली के गुच्छो को मूटो में बकड़ लिया, “बैची ले आओ। मैं तुरन्त इन्हे काट दूंगा। पर।” दीर्घ श्वास छोड़ते हुए वह निढाल-सा हो गया। “पर उससे भी कुछ नहीं होने वाला। मैं दोबारा सिर मूडबाया है न। जब बाबा-माँ गुजरे थे। मेरे सिर में चक्के चक्के दाग हैं। सब निबल आए एकदम से। मुझे सिर्फ उन लोगो ने ही क्यों, भगवान न भी तरह-तरह से मार कर रखा है।”

वह फफक-फफक कर रोए जा रहा था। उतने बड़े लड़के को इस तरह रोते हुए पहले नहीं देखा था।

बासी बोल रहा था, “कदम छोट बाल रखकर भी देखा मैं जोर भी बदमूरत दीघने लगा था। सीने में खुद का चेहरा दखत ही डर जाता। मेरी घड़ी हुई आँखें, पिचके हुए गाल, लम्बे-लम्बे बालों में फिर भी कुछ हर तक डक जाता है।” फिर थोड़ा हँसत हुए वाला, “बहा न, भगवान न भी मार रखा है बरना मेरी आवाज सबको जैसी क्यों नहीं हुई ? उसको तुम्हारी तरह ही ?”

बासा रू-रूकर हिल जा रहा था। वह निनिमेष नामी दृष्टि से उसके हुए

था। महसूस किया कि वह मुझसे ईर्ष्या कर रहा है। मेरी इस पटी हुई आवाज पर भी ईर्ष्या की जा सकती है, पहली बार पता चला।

बांसी काँप रहा था। फूल की पसुडियो जैसी उसकी कोमल उँगलियों से उसने मेरे गाल पर हाथ फिराया। मैंने उसका हाथ हटा दिया। तब वह और ज्यादा काँपता हुआ, मेरे और नज़दीक चला आया और फिर एकदम मेरी आँखों के ऊपर झुक गया। मैं तब तक से हाथ उठाया। उसने चौंक कर पूछा, "क्या है?" बोला, "मक्खी।" "मक्खी? इतनी रात को इस बरसाती के हवादार कमरे में मक्खी?" उसने विश्वास नहीं किया। उदास आँखों से वह मानो कुछ दूढ़ता रहा।

मैंने कहा, "छि। इस तरह नहीं करते।"

अद्भुत आच्छन्न स्वर में वह बोला, "किस तरह?"

उसके घोंदने का सहजा केसा था, ठीक से समझ न पाने के कारण कहा, "इस तरह। लडके-लडका के साथ इस तरह नहीं करते। नहीं करना चाहिए।"

"लडका?" फीके स्वर में बांसी बोला, "मैं क्या लडका हूँ? तो फिर वे लोग हमेशा लडकों का पाट क्यों देते हैं? कहते हैं, मैं लडकी का पार्ट बहुत फाइन करता हूँ, हमारे माहिले में जितने भी नाटक हुए हैं, मुझे लडकियों का पार्ट मिला है। सयुक्ता के डायलॉग सुनोगे? सुना दूँगा एक दिन। उस बार एक सान को इतनी समझता के साथ किया था कि, जो हीरो बना था, वह विंग्स के पीछे मुझे खींच कर ले गया और फिर मुझे जकड़ कर।"

बांसी हाफ रहा था। बांसी पसीने-पसीने हो रहा था। मैंने जल्दी से उसका मुँह बंद कर दिया।

वधे हुए स्वर में उसने कहा, "मुझे उन लोगों ने एक बार होस्टल में भेजा था। लडके कितने बदतमीज़ हो सकते हैं, तुम सोच भी नहीं सकते। वे लोग मुझे चिढ़ाते, 'दिखाओ दिखाओ' बहकर चिकोटी काटते। इधर उधर गुदगुवाते। दो-तीन सप्ताह ही वा तीन महिने जितने हो गए। मैं रोज ही रोता। एक दिन वहाँ से भाग आया। बुढ़िया फिर से मुझे भेजने की बात सोच रही है, पर अब मैं हरगिज़ नहीं जाऊंगा, कमा नहीं।" होस्टल विभीषिना के छाप से उसका चेहरा विवर्ण हो उठा। मैंने उसे लेट जाने के लिए कहा।



लडकियो जसा वह लडका, जिसका नाम बांसी था, सोच रहा है वह मेरे जीवन के उस अध्याय में प्रक्षिप्त और गौण था या नहीं। पर अगर गौण ही होता तो उसके बारे में इतने विस्तार में लिखता ही क्यों ?

बांसी, जिसने पहले दिन ही तर्क में मुह गड़ाकर सिसकते हुए कहा था, "मुझे पता है, तुम लोग जिस हिजड़ा कहते हो, मैं एक तरह से वही हूँ।"

बांसी की व्याघ्र कठिन थी, पर उस दिन जो कुछ समझा उससे लगा कि उसका मन उससे भी कहीं ज्यादा उत्तम हुआ है।

माँ, तुम्हें आज सारी बातें ही खोल कर बही जा सकती हैं। बांसी के पास एक जिन्द वाली कापी थी। उसमें डेर सारी तस्वीरें चिपकायी हुई थी। किसी तस्वीरें बताओ तो ? घट ! तुम नहीं बता पाओगी। तुम जो सोच रही हो, वह सब नहीं। सारी तस्वीरें पहलवाना—ध्यायामगीरों की थी, तस्वीरों के नीचे उनका परिचय दिया हुआ था।

उस दिन उसने वह कापी दिखतामी सोचा, बाबा इसे छेड़, "तुमने ये सारी तस्वीरें क्यों रखी हैं ?"

"उन लोगों के जैसा नहीं बन सकूंगा, यही कहना चाह रहे हो न ? पता है।" बांसी ने आहत स्वर में कहा, "पर उससे क्या ? उनकी पूजा तो कर सकता है ?"

"हीरो वरशिप ?"

"बोसना चाहते हो, बोसो। शायद इस आदत को भी औरताना कहोगे ?"

'नहीं, नहीं ! असल में लडके तो छिपा कर लडकिया की ही तस्वीरें रखते हैं, घासकर विसावती फिल्म स्टारों की। अपने कलास में कुछ लडकों का इबट्टा करके देखा है।"

भांवा को ऊपर उठाते हुए बांसी बोला, 'लडकिया की तस्वीरें कट्टा करके मैं क्या करूंगा ? कोई भी लडका ।' इस बार भांवा उसने कलजा फादकर छिराए

निकाली, “कोई भी लडकी मुझे अपने पाँव के नाखून से भी छूना पसन्द नहीं करेगी। मेरे कोमल हाथ, रई जैसे मुलायम गाल।”

उस हँसाने के लिए मैंने कहा, “गाल पर हँसते समय डिम्पल भी पडते हैं।” पर चाँसी हँसा नहीं। मेरी हथेली अपने गाल पर रगड़ता हुआ बोला, “अभी तक दाढ़ी नहीं निकली है। यह आवाज़, यह गाल तुम्हें बताया तो, चारों ओर से भगवान ने मुझे तमाशा बनाकर रख दिया है।” अचानक, उत्तेजित हाहाकार से चूर-चूर हो जाते स्वर में उसने कहा, “सकोश ? सकाश ? मुझे तुम किसी लडकी का प्यार ला दे सकोगे ? किसी भी एक का ?” मेरी हथेली नानो झुलसती जा रही थी। किसी कामल व्यक्ति की साँस भसा इतनी गर्म हो सकती है ?

म द स्वर में मैं कहता हूँ, “मैं तुम्हें बदल दूँगा।”

वह अगीकार अर्थहीन था, फिर भी मैंने कहा था। बदल देने की मैंने बहुत आसाम काम समय लिया था, क्या ?

वह मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए, मेरा बात सुन रहा था। अचानक व्याकुल होकर बोला, “दो, दो, दो। क्या देने की बात कर रहे थे ?” क्या देने की बात कर रहा था ? उसे बदल देने की बात ? उस आर्त प्रार्थना को मैं भुला नहीं सकता हूँ। अब तक जो कुछ लिखा है, उसमें उस वृहन्नल बासी का एक और पक्ष नहीं दिखाया था।

एक दिन महसूस किया कि एक ओर कठिन बीमारी वह भोग रहा है। उसके उस ओर ज्योत्स्ना की कोमल आभा नहीं है। बल्कि एक झुलसन है।

उसके उस अगारवण पक्ष को देखकर मैं चौंक गया था। “लडका बना दो। बना दोगे तो तुम्हें सब कुछ दूँगा।” यह एक सलाप व एकाश मात्र था। दूसरा वाक्यांश तुरन्त किसी विस्फोट की तरह, “जिस दिन किसी लडके की तरह बना सका, हे ईश्वर, उस दिन।”

“तो क्या ?”

“मैं एक सात जमाऊँगा।”

“कितने ?”

“सबको। पर सबसे पहले इस मवान को। इसकी दीवारों को घर-घर कपाता हुआ इसके दरवाजा को तोड़ता-फोड़ता एकदम से निकल जाऊँगा।”

“कहाँ ?”

“जहाँ जो चाहेगा। पर यहाँ नहीं। तुम्हें पता नहीं है, मैं इस घर से नितने भयकर रूप से घृणा करता हूँ। कितना गुस्सा मन में पात रखा हूँ।”

“यह तो तुम लोगो का अपना मकान है।”

“अपना ? यूँ।” विरुद्ध स्वर में हँसा। “सब बकवास, धोपाघड़ा है। अपना कुछ भी नहीं है। मेरे बाबा, तुम्हें पता नहीं है, मेरे बाबा इस बूढ़ी व गोद लिए हुए बेटे थे।”

“मालूम है।”

“तो फिर अपना क्या हुआ ? उड़कर आकर छुड़कर बैठ जाना हुआ। मेरे बाबा के बाबा याने उनके असली पिता, बहुत गरीब थे। सातच म धाकर तैयार वाले रिश्तेदार को अपना बेटा बेच दिया। वही पाप, प्रथम पुण्य का पाप। पाप बाबा ने भी किया—सुख में रह कर अपनी माँ को छोड़कर, दूसरे को माँ कहा। माँ बदलना, यह क्या कम पाप है ?”

कुछ समय रहा था, कुछ नहीं समय था रहा था, उस नाजुक से सड़के की बातों के बहाव में मरे तुलताने की बारी थी। चुड़ की तरह बोला, “पर तुमन तो कोई पाप नहीं किया है ?”

‘सब के पाप मेरे पूरे शरीर पर बिछा की तरह लगा हुआ है,’ उसने बस्थिर स्वर में कहा, “पाप उन लोगों ने किया, प्रायश्चित्त मैं करूँगा। उससे पहले मुझे सचमुच का मर्द बनना होगा।”

\*

\*

\*

इतनी देर बाद जाकर उसका चेहरा देख पाया है—वह चेहरा पीका-सा, रंग पुठा, बहुरूपिया का। पहली बार पता चला कि बाँसी के मन का एक कोना प्रबल साहसी है। उसका यह नकली साज सज्जा उसके असली मन का एक प्रतिवाद है। बीच-बीच में वही बाँसी मुने सोच में डाल देता। अगर वह सिर्फ किमी लड़की जैसा नखरे वाला लड़का होता तो शायद इतनी परेशानी नहीं होती।

उस दिन शाम को कमरे में घुसते ही मैं चिल्ला पड़ा था, “बाँसी !” उस्तारा हाथ में लेकर वह उसमें सान दे रहा था। ठहर गया। उसकी आँखें हाथ में पकड़े हुए उस्तरे की तरह ही चमक रही थी। शान्त स्वर में बाँसी बोला, “डरा नहीं। गले की नस-वस मैं नहीं काटूँगा। मैं सिर्फ परख रहा हूँ। इतने में ही डर गए ? तुम तो मुझसे भी गए बाँते हो।”

उसका स्वर स्वाभाविक था। उसके लिए जितना सहज होना सम्भव था उतना ही सहज था, पर साफ देख रहा हूँ, उसकी दृष्टि में एक बीरापावन है।

फिर भी उसी बीरायी नजर से मानो मुझे डाँटते बंधाना चाहें। “डरो नहीं। खून-बून वाली कोई बात नहीं होगी। बहुत होगा तो गाल की छाल काट बाँट दे सकता हूँ, उससे ज्यादा नहीं।”

“तुम हजामत बनाओगे ?”

आँख दबाकर उसने कहा, “परती जमीन पर खेती ? हा हा हा ?”

“तुम्हारी सारी बातों में नाटकीयता है।”

“नाटक ही वो करता है। वही तो एक चाँद है, जिसमें मजा मिलता है। लड़की बनकर स्टेज पर उतरना हूँ। कोई इतना-सा भी खोट नहीं निवाल पाता है।



सबको ठगता है। वसब मे एक नया नाटक खेला जाने वाला है—सामाजिक। जाओगे देखने ?”

बोला, “जा सकता हूँ।”

सगातार कुछ दिनों तक वह पार्ट मे ही रमा रहा। एक कापी लाकर दिन भर अपना पार्ट रटता रहता। “सुनो-सुनो यह डायलाग सुनो। देखो कैसा उठायो है।” सबमुच उसके उच्चारण और हाव-भाव मे कहीं कोई कसर नही था। अर्धे तिरछी करके देखने का अंदाज तक लटकियो जैसा।

/ \*

\*

\*

फिर भी उसके हाथ से एक दिन उस्तरा छीन ही लेना पडा। उस दिन वह काँप रहा था। घुडकते हुए मैंने कहा था, “छि। क्या कर रहे हो ? आज रिहसल मे नही जाओगे ?”

“गया था, पर अब और नही जाऊँगा। जाने की जरूरत नही रह गयी है।”

उस दिन बाँसी चेहरे पर रग नही पोते हुए था। हथेली से बाँध डकत हुए बोला, “और नही जाऊँगा। मुने अब शायद नायिका का पाट नही दूँगे। एक लडकी जा गयी है। पता नही कहाँ से वे ही लोग ले आए है।”

‘मतलब ?’

“लडकी मतलब लडकी। समझे नही ? लडकिया से ही लडकिया का पार्ट कराना पडी हुवा चली है। पब्लिक स्टेज मे पहुँचे ही था, अब माहूल्ते के बसबा मे भी चल पडा है। बधा-बधा देता रहा हूँ, इसलिए चट के मुझे हटा नही पाए। घुमा फिरा कर बोलते रहे। पर मैं समझ गया हूँ। वह वही लडकी आज जाया थी। दिन भर बैठकर मेरा पार्ट देखती रही। डायलाग मुनती रही। बीच मे एक बार किसी के इशारे पर उठ कर आयी, और एही पर बल देकर कमर लचका कर किस तरह पार्ट बोलते हुए घूम जाना चाहिए, मुझे दिखलाया। मैं सब समझ रहा था। मेरे पाँच काँप रहे थे। रटा हुआ पार्ट था तो। फिर भी गतती हो जा रही थी। जा लडका होरा था वही जो एक बार मुझे विंग्स के पास ले जाकर उसन क्या किया पता है ? मुझे चिढ़ाया। मुझे डबेल दिया। मैं समझ गया। उसे भी सोम हो जाया था। वह चाहता है उसके अपोजिट का रोल उस लडकी को मिल जाए। मैं भला समझता नही हूँ ?”

साफ मुपरा कर्षी, रोखनदार कमरा, पर वहाँ एक चाँप फुफ्फार रहा था।

“मैं सब कुछ समझता हूँ !” बाँसी कह रहा था, “सब समझता हूँ। वे सामा मुझे झूठमूठ की बातों से बहलाना चाहत हैं। मैं पहुँचे ही समझ गया था। सट्रेटरी, वूसा, लूसट, उसके भी सार टपक रह है, उसने मेरा पीठ पर क्षय फरत हुए छितना

“मालूम है।”

“तो फिर अपना क्या हुआ ? उठकर आकर जुड़कर बैठ जाना हुआ। मेरे बाबा के बाबा याने उनके असली पिता, बहुत गरीब थे। लातन में आकर ऐसे वाले रिश्तेदार को अपना बेटा बेच दिया। वही पाप, प्रथम पुण्य का पाप। पाप बाबा ने भी किया—मुख में रम कर अपनी माँ को छोड़कर, दूसरे को माँ कहा। माँ बदलना, यह क्या कम पाप है ?”

कुछ समय रहा था, कुछ नहीं समय पा रहा था, उस नाजुक से सठके बालों के बहाव में मेरे सुतलाने की बारी थी। बुढ़ू की तरह बोला, “पर, तुमने कोई पाप नहीं किया है ?”

‘सब के पाप मेरे पूरे शरीर पर बिछा की तरह लगा हुआ है,’ उस अस्थिर स्वर में कहा, “पाप उन लोगों ने किया, प्रायश्चित्त में करूँगा। उससे मुझे सचमुच का मद बनना होगा।”

\*

\*

\*

इतनी देर बाद आकर उसका बेहरा दंष्ट्र पाया है—वह बेहरा फोर रंग पुता, बहुरूपिया का। पहली बार पता चला कि बासी के मन का एक, प्रचल साहसी है। उसका यह नकली साज सज्जा उसके असली मन का एक है। बीच-बीच में वही बासी मुख सोच में डाल देता। अगर वह सिर्फ किसी जैसा नखरे वाला नटका होता तो शामद इतनी परेशानी नहीं होती।

उस दिन शाम को कमरे में घुसते ही मैं चित्ता पड़ा था, “बासा ! हाथ में लेकर वह उसमें मान दे रहा था। ठहर गया। उसकी आँखें हाथ हुए उस्तरे की तरह ही चमक रही थीं। शांत स्वर में बाँगी बोला, “हृ गले की नस-बन में नहीं काटूँगा। मैं सिर्फ परख रहा हूँ। इतने में ही डर तो मुझसे भी गण बीते हो।”

उसका स्वर स्वाभाविक था। उसके लिए जितना सहज होता। उतना ही सहज था, पर साफ देख रहा हूँ, उसकी दृष्टि में एक बौरायीपन फिर भी उसी बौरायी भजर से मानो मुखे ढँकिस बघाला नहीं। झूठ-झूठ वाली कोई बात नहीं होगी। बहुत होगा तो भाल की उ दे सकता हूँ, उससे ज्यादा नहीं।”

“तुम हजामत बनाओगे ?”

बाँध दबाकर उसने कहा, “परती जमीन पर खेती ? हा हा

“तुम्हारी सारी बातों में नाटकीयता है।”

“नाटक ही तो करता हूँ। वही तो एक चीज है, जिसमें मैं नकली बनकर स्टेज पर उतरता हूँ। कोई इतना सा भी छोट नहीं है।”

सबको ठगता है। वसब में एक नया नाटक खेला जाने वाला है—सामाजिक। जाओगे देखने ?”

बोना, “जा सकता हूँ।”

लगातार कुछ दिनों तक वह पार्ट में ही रमा रहा। एक कापी लाकर दिन भर अपना पाठ रटता रहता। “सुनो-सुनो यह डायलाग सुनो। देखो कैसा उठायो है।” सचमुच उसके उच्चारण और हाव-भाव में कहीं कोई कमर नहीं था। अखिं तिरछी करके देखने का अन्दाज तक लडकियो जैसा।

/ \*

\*

\*

फिर भी उसके हाथ से एक दिन उस्तरा छीन ही लेना पड़ा। उस दिन वह काँप रहा था। पुढकते हुए मैंने कहा था, “छि ! क्या कर रहे हो ? आज रिहर्सल में नहीं जाओगे ?”

“गया था, पर अब और नहीं जाऊँगा। जाने की जरूरत नहीं रह गयी है।”

उस दिन बासी चेहरे पर रम नहीं पोते हुए था। हथेली से आख टकते हुए बोला, “और नहीं जाऊँगा। मुझे अब शायद नायिका का पाठ नहीं देगे। एक लडकी जा गयी है। पता नहीं कहाँ से वे ही लोग ले आए हैं।”

“मतलब ?”

“लडकी मतलब लडकी। समझे नहीं ? लडकियाँ से ही लडकियो का पार्ट कराने की हुवा चली है। पब्लिक स्टेज में पहले ही था, अब माहूल् के बसबों में भी चल पड़ा है। चश-बचा देता रहा हूँ, इसलिए चट के मुझे हटा नहीं पाए। घुमा-फिरा कर बोलते रहे। पर मैं समझ गया हूँ। वह वही लडकी आज आयी थी। दिन भर बैठकर मेरा पाठ देखती रही। डायलाग सुनती रही। बीच में एक बार किसी के इशारे पर उठ कर आयी, और एबी पर बल देकर कमर लचका कर किस तरह पार्ट बोलते हुए घूम जाना चाहिए, मुझे दिखलाया। मैं सब समझ रहा था। मेरे पांव कांप रहे थे। रटा हुआ पार्ट था तो। फिर भी गलती हा जा रही थी। जा लडका हीरा था वही जो एक बार मुझे विम्स के पास ले जाकर उसने क्या किया पता है ? मुझे चिढ़ाया। मुझे ढकेल दिया। मैं समझ गया। उसे भी लोभ हो आया था। वह चाहता है उसके अपोजिट का रोल उस लडकी को मिल जाए। मैं भला समझता नहीं हूँ ?”

साफ सुथरा फर्श, रोशनदार कमरा, पर वहाँ एक साँप पृफकार रहा था।

“मैं सब कुछ समझता हूँ।” बासी कह रहा था, “सब समझता हूँ। वे लोग मुझे झूठमूठ की बातों से बहलाना चाहते हैं। मैं पहले ही समझ गया था। सेक्रेटरी, बूढ़ा, घूसट, उसके भी सार टपक रहे हैं। उसने मेरी पीठ पर हाथ पड़ते हुए कितना

“विल्कुल ! पर ‘चढ़ना’ सुनने में भद्दा लगता है ! चढ़ते नहीं, चढ़ाते हैं—स्टेज पर ! टेक्नी के लिए जो नियम है, एकदम वही ! जो किराया देगा, वही चढ़ सकेगा !”

“तुम अपने बारे में बताओ ! वहाँ से खींच लायी हो, और तब से सिर्फ इधर-उधर की बातें !”

“लडकियाँ जल्दी बदन जाती हैं ! पर तुम बैठो महाकर आती हैं ! मागना नहीं ! क्या लेगा, चाय या और कुछ ? मैं दस मिनट में आती हूँ ! बदन घिना रहा है ! तब तक यत्कि माँ को भेज देती हूँ !”

“माँ ?” तुम्हारी माँ बूना ? लीला मासी ? वे भी क्या ?”

“यही रहती हैं !” निक्कलते हुए बूना गर्दन घुमा कर हँसती है, “माँ और बेटी, देख रही हो न ! फिर से एक साथ मिल गयी हैं !”

लीला मासी को देखा ! चेहरा बदल चुका था ! अड़े के अक्बार का चेहरा मासल होकर गोलाकृत हो गया था ! किसने सब कुछ बदल दिया ? बूना को भी, लीला मासी को भी, शायद उम्र ही है जो एक को कुछ देती है, तो दूसरे से कुछ छीन लेती है ! एव ही मालिब कुछ लागो को बहाल कर रहा है, तो वहीं दूसरो को खारिज ! लीला मासी को देखकर भी समय के उस समय के उस पक्षपात का अच्छी तरह समझ पा रहा था !

अपने को हम लोग, हमेशा देखते नहीं हैं, या फिर लगातार देखते रहने से एक समझ नहीं पाते हैं ! बहुत दिन बाद जब एव दूसरे को देखते हैं, तो चौंका जाते हैं ! दिन-महीना-वर्ष—बप मान एव समय सिर्फ पाना और एक समय सिर्फ खोते रहना ! शेष हो जाना !

कुछ बना-बना कर कहा था। मैं गलत न समझूँ। जमाना बदल रहा है। जमाने की हवा, जमाने की माँग—लड़कियाँ के रोम में लड़का को देखकर अब सौग नाक सिकोड़त हैं, झू-झू करते हैं।

फोका चेहरा लिए बाँसी दंगे जा रहा था। दृष्टि की घूमता भी इतनी भयंकर हो सकती है, उपस्थित दूसरे व्यक्ति को भी आक्रामक करती है—इससे पहले नहीं जाना था।

पता नहीं किस मरोसे से, उस जिन कहा था, “सब ठीक हो जाएगा।” रिहमन में वहाँ क्या घटेगा, किसी न नया मुझे बता दिया था? कितनी घटनाएँ सामने की ओर लम्बी-लम्बी छाया पहने से फैलाए रखती हैं?

यह बात मही है कि सीने की धड़कन एकदम से तेज हो गयी थी। अवाक हुआ था, या फिर उतना नहीं गितना होना चाहिए था। पलभत्ते ने बहुत पहले से ही मेरी सबदना का मातरो कर चुका था।

बासी पहले से ही वहाँ था। मैं थोड़ी देर बाद वहाँ पहुँचा था। मुझे देखकर इशारे से बैठने के लिए कहा। पार्ट वीडियो महिला बोल रही थी। बाँसी ने उस ओर इशारा करके दिखाया।

मैंने देखा—कैसे देखा?

माँ, अगर अनुमति हो, तो इस घटना के घटे भर बाद मुने गए एक संलाप से शुरू करें।

\*

\*

\*

“मैं टेक्सी बन गयी हूँ।” बूला बोल रही थी। वहाँ नहीं अपने कमरे में बैठकर। ठीक बैठकर भी नहीं कह सकते। अघलेटी होकर।

अघलेटी-सी होकर बूला न ब्रह्मा “तू अभी तक समझा नहीं? मैं टेक्सी बन गयी हूँ।”

टेक्सी मैं तो हम साग अभी-अभी आए हैं। टेक्सी हो जाने का मतलब क्या हुआ? इस तरह की बातें माँ, तुम्हारे इस गोबर-गणेश घेरे के मन में उमड़ पुमड़ रही थी। पर बूला समझ गयी, वैसे भी शुद्ध से ही दादी माँ रही हैं। फिर एक खास उम्र में तो लड़कियाँ जातयमि हो जाती हैं।

बोली, “नहीं समझा? याने तू भादू के भादू हो रहा तू! अच्छा बता तो पर की गाड़ी के मासिक कितने होते हैं?”

हकबकाया-सा बोला, “एक ही होता है।”

“और टेक्सी के?”

“मासिक कितने होते हैं, भादूम नहीं, पर बढ़ते सभी हैं।”

“बिल्कुल। पर ‘चढ़ना’ सुनने में भ्रष्ट लगता है। चढ़ते नहीं, चढ़ाते हैं—  
स्टेज पर। टेक्सी के लिए जो नियम है, एकदम वही। जो किराया देगा, वही चढ़  
सकेगा।”

“तुम अपने बारे में बताओ। वहाँ से खींच लायी हो, और तब से सिर्फ  
इधर-उधर की बातें।”

“सड़कियाँ जल्दी बदल जाती हैं। पर तुम बैठा नहाकर आती हैं। भागना  
नहीं। क्या लेगा, चाय या और कुछ? मैं दस मिनट में आती हूँ। बदन घिना रहा  
है। तब तक बस्कि मा को भेज देती हूँ।”

“माँ?” तुम्हारी मा बूला? सीसा मासी? वे भी क्या?”

“यही रहती हैं।” निकलते हुए बूला गर्दन घुमा कर हँसती है, “मा और  
बेटी, देख रहे हो न! फिर से एक साथ मिल गयी है।”

सीसा मासी को देखा। बेहूष बदल चुका था। अडे के आकार का चेहरा  
मासल होकर गोलाकृत हो गया था। किसने सब कुछ बदल दिया? बूला को भी,  
सीसा मासी को भी, शायद उम्र ही है जो एक को कुछ देती है, तो दूसरे से कुछ  
छीन लेती है। एक ही मालिक कुछ सागो का बहाल कर रहा है, तो कहीं दूसरे को  
खारिज। सीसा मासी को देखकर भी समय के उस समय के उस पक्षपात का अच्छी  
तरह समझ पा रहा था।

अपने को हम लोग, हमेशा देखत नहीं हैं, या फिर लगातार देखते रहने से  
एक समझ नहीं पाते हैं। बहुत दिन बाद जब एक दूसरे को देखते हैं, तो चीक  
जाते हैं। दिन-महीना-वर्ष—बप मान एक समय सिर्फ पाना और एक समय सिर्फ  
खाते रहना। शेष हो जाना।



कुर्सों पर सीला मासी बैठी हुई हैं। सामने की ओर थोड़ा झुकी हुई, दोनों हाथ गाने पर फैले हुए। कहीं वह मुनवा चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें, चारों ओर घूमती हुई। मैं उस सीला मासी को कभी भी नहीं देख पा रहा था।

अचानक सीला मासी उठ खड़ी हुई। तेज चलते पथे की गति को स्वीचबोर्ड पर हाथ रखकर कम की, फिर बढ़ायी। देखते ही समझ गया वह अस्तिपर थी, अथवा अचल, या फिर शायद मेरे अचानक आ जाने से कृण्ठित, या फिर अपने परिवर्तित रूप को मेरी आँख के शीशे में देख पा रही हैं, करना व्यर्थ ही पथे की स्पीड बढ़ाना-घटाना कोई मतलब नहीं रखता है।

“बूला से कहाँ मुलाक़ात हुई थी?”

“बताया, “पियेटर में किसी पियेटर में। बाब के रिहर्सल में।”

“कोन-सा नाटक है?” मुझसे उन्होंने पूछा, पर जब नाम बताया तो उस पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। अममनस्क हो गयीं। छुट ही पाड़ी देर बाद कहा, “हाँ, उसका तो आजपस काफी नाम है। जगह-जगह से बुलावा आता है।”

(‘टैक्सी हो गयी है,’ क्या इसी बात को सीला मासी ने भा दूतरे ढग से कहना चाहा है)

हमारे बीच से समय गुजरता जा रहा है। हम दोनों चुपचाप बैठे हुए हैं। बूला अभी तक आयी क्यों नहीं? दस मिनट कहा था या पंद्रह?

कुछ बोलना चाहिए, पर क्या बोलूँ? तब न कर पाकर एक बार कहता हूँ, “आपका वह संगीत का स्कूल अब नहीं है मासी मा?” थोड़ी हिचकिचाहट के साथ ही बात पूरी कर पाया।

“संगीत का स्कूल, संगीत का स्कूल।” व खिर हिसाती जा रही हैं। बात का मतलब मानी ठीक से समझ नहीं पा रही हा, “काहे का स्कूल? संगीत का? या क्या? ओह! हाँ हाँ था। पर अब नहीं है वो।” उठ गया। नहीं-नहीं-नहीं।” अचानक तीव्र स्वर में वे बोल उठीं, “तुम गलती कर रहे हो। अभी भी नहीं था।”

“बूला जो कहती थी।”

“सूठ बोलती थी। मेरी सड़की बितनी भयंकर है, वह तुम भला कितना जानते हो।”

“पाँव में मोच आ जाने से जिस तरह मनुष्य किसी तरह उठ खड़े होने की कोशिश करता है, मैं भी उस समय वही कर रहा हूँ, “तो फिर बूला जो कहती थी, प्ले-व्ले।”

“नहीं। वह सब भी कुछ नहीं।” व फिर से गम्भीर हो गयी। मतलब अपने में खो गयी। यह भी एक अजीब विस्म की बात है, जिसे तुम लोगो ने भी अपने समय में गौर किया होगा? जा लोग किसी महफ़िल में बैठकर एक साथ हँसी-मजाक कर रहे हैं, वे लोग पास-पास हैं पर ज़्यादा कोई चुप हो गया, तुरंत दूर अपने में खो गया। बात यमते ही परस्परता भी समाप्त हो जाती है। सब पराए-पराए से।

“बूला वो आपका गुण मिला है। याने पार्ट वाट करने का।” मैंने साधारण होकर कहा।

“बूला मुझे पार कर गयी है।” उन्होंने संक्षिप्त कर दिया।

थोड़ी देर बाद धीरे से पूछा, “तो कैसे हो तुम लोग? माँ? बाबा? सब भजे में हैं तो?” मानो अब जाकर उनके ध्यान में आया हो।

“बाबा, बहुत अच्छे नहीं हैं मासी माँ।”

“तुम लोग उसी डेरे पर ही हो न। तुम्हारे बाबा उसी बिएटर में ही हैं न?”

“आपको क्या कुछ मालूम नहीं?” बहुत ही महसूस किया कि लीला मासी के जानन की बात भी नहीं है।

“नहीं, याने हम लोग मैं हम लोगो ने तो।” समझ गया कि वह कहना चाहती है कि बहुत पहले ही व वहाँ से चली गयी थीं। पर सीधे बोल नहीं पा रही थी कि वह प्रसंग उनके लिए अस्वस्तिकर था।

तब सब कुछ बताया उठे। बाबा की बीमारी, उनका अक्षम हो जाना, यही सब। सिर्फ माँ, बताया नहीं, उस बाग वाले मकान के बारे में, जहाँ हम उस समय रह रहे थे। बता नहीं सका कि हम लोग आश्रित हैं।

लीला मासी ने सब कुछ सुना। ध्यान से सुना। मेरी बात खत्म होते ही बोली, “तुम्हारे बाबा नाटक-वाटक लिख रहे हैं आजकल?” उनके स्वर में मजाक का पुट था कि नहीं यह दखन के लिए उनकी ओर देखा।

“नहीं था, तब बोला, मासी माँ, बाबा वो इधर आपने नहीं देखा है न। वह एकदम बदल गये हैं। शायद सब कुछ छोड़ ही दिया है। अब शायद ही कभी कुछ लिखें।”

“छोड़ दिया?” ऐसा सगा लीला मासी थोड़ा हिल डुल कर बैठी। थोड़ा



उत्सुक हुई, "छोड़ ही दिया सब कुछ तो पकड़ कर क्या रखा?" इतनी देर बाद उनके हाथों पर थोड़ी हँसी दीखी, "कुछ नहीं। एक समय के बाद लोग सिर्फ अपनी-अपनी कुर्सी का हत्या ही मजबूती से पकड़ सकता है, और कुछ नहीं।"

इतनी कठिन बात कहने के बाद भी लीला मासी बैठी रहों। हल्के-हल्के हँस रही थी। उस हँसी को मैं पहचानता हूँ। परास्त हो जाने की हँसी, निष्पत्ति। मैं पहचानता हूँ। बाबा के चेहरे पर दखा है।

लीला मासी कुर्सी को थोड़ा और पास खींच लायी। उस हँसी के साथ एक तरह की सज्जा भी घुल मिल गयी थी। लीला मासी ने मध्यम स्वर में कहना शुरू दिया है, "अपने बाबा से एक बात कहना, पहचानें तो? वे अपने को सम्हाल लें। उन्होंने सोचा था कि मेरे चाहने भर से वह नाट्यकार बन सकते थे। उनके मन में सोम भी रह सकता है। यह ठीक है कि उनके नाटक को मैंने उस समय पसंद नहीं किया था। पर बताओ, तुम तो देख गए कि, मेरी या उनकी इच्छा से कुछ आता-जाता नहीं है। हम सबकी इच्छा के ऊपर किसी ओर की इच्छा भी है। उन्होंने हम दोनों का ही खारिज कर दिया है। खारिज—अस्वाङ्मन—उपेक्षित। मरा भी अग्नि नय धरना नहीं हो सगा। बेटी पर आघात हो गयी हूँ। तुम तो देख ही रह हो।"

"वह वह अपने मन में किसी तरह का दुख न रखें।" थोड़ा ठहर कर लीला मासी ने दाबारा कहा।

"बाबा का ता किसी बात का दुख नहीं है मासी माँ।" मैं जाने क्या सोच-विमूढ़ की तरह बोला।

\*

\*

\*

लीला मासी ने एकटक देखते हुए मेरे कथन को सुना। "दुख नहीं है?" इतना कहने के बाद ही उन्होंने एक जमीन-सा प्रश्न पूछा था। "तुम्हारी जेब में क्या है?" चौकत हुए मैंने जल्दी से अपनी जेब पर हाथ रखा। थोड़ा सकुचाते हुए बोला, 'कहाँ बैसा कुछ तो।' बात पूरी होने के पहले ही उन्होंने कहा, 'नहीं है। यही से देख पा रही हूँ। पर तुम्हारी जमीन के अंदर की जेब में क्या है, वह नहीं बता सकूंगी। थोड़ा रुक कर, फर्श पर से कागज उठाने जैसा स्वर में लीला मासी बोली, "किसका कहाँ क्या छुपा रहता है, वह तुम नहीं जानते।"

सदर के गलियारे में किसी के पाँव की आहट सुनायी पड़ी। लीला मासी के गले का स्वर और चेहरे का भाव अकस्मात् बदल गया। बोली, 'तुम आज यहाँ कैसे आए हो, पता नहीं। शायद बूला हा पकड़ लायी हो तुम्हें। पर आगे से मत आना। बूला बूला दूसरे विस्म की सड़का है। अपना सड़की है फिर भी कह रही है। तुम इस परिवार के सड़के हो यह मुझे मातूम है न। तुम नहीं सकोगे।'

(टेक्सो हा गयी है ? वही एक वाक्प रेकाड हो गया है, जिमे मैंने मन ही मन मे एक बार ओर बजाया ।)

\*

\*

\*

दो अक्षरों के बीच उस जमान में कनसट बजाने का एक बहुत बढ़िया नियम था । बांसुरी-बेहाला आदि के सहयोग से मनमुग्ध कर देने वाला वाद्य वृन्द ।

तुम्हें निवेदित इस पत्र में शायद बहुत कुछ अपने अधचेतन भाव से ही मैंने भी क्या उस पद्धति को ग्रहण कर लिया था ? एक-एक घटनाओं को अवतारित करने के बीच खाली जगह को अपने मन के विचारों से भर देता हूँ ।

(जैसे इसी समय घूना कमरे में आयी है । रहे—याही देर प्रतीक्षा ही कर ले क्या हर्ज है ।) उसे खड़ी रखकर लीला मासा की तस्वीर को इतने यत्न से क्यों बनाया अब तक ।

इसका कारण मैं यह है कि इस रचना का जो मूल स्वर है उसे बार-बार घापस लौटा लाना चाहता हूँ । मूल स्वर क्या है ? जगत के पास एक फरियाद । एक जवान बच्ची । जिहाने मुझे गलत समझा है, मेरे प्रति अन्याय किया है उन्हें धिक्कारूंगा । उन्हें अभियुक्त बना जाऊँगा । पर देखो कितना आश्चर्य है, लिखते रहने के दौरान अचानक अनुभव करता हूँ, जो जितना भी मुझे गलत समझा था, मैं भी तो बहुतों को गलत समझा होऊँगा । तो फिर ? इस उपसमिति के बाद लिखने का सेवर ही बदल गया । जान गया कि अंतिम हिसाब-किताब चुकाने जैसी कोई बात नहीं होती ।

और चूँकि मैं, इस अध्याय पर तुमने शुरू से आखिर तक अधिकार जमा लिया है, आच्छन्न कर रखा है, इसलिए समस्त निवेदन तर्पण हो गया । उसी तपण ने ही मुझे चकित करत हुए बता दिया कि जो कुछ मेरे लिए सत्य है वह तुम्हारे लिए भी हो सकता है ।

मैं, तुम-भी तो जब तक जीवित रही, बहुत दुःख और भयकर यंत्रणा, अविचार और उपेक्षा को ही सहा है । देवी और मानुषी स्वभाव के क्रमागत रह-बदल को तुमने प्रत्यक्ष रूप से देखा है । अभी उदास, अभी तप्त दीपश्वास । तुम्हें बहुतों ने गलत समझा है, पर फिर सोचता हूँ तुमने भी तो बहुतों को गलत समझा होगा । यदि उनके लिए अपने मन में क्षोभ, असमता धुणा लिए ही तुम्हारी मृत्यु हुई हो तो ? तब तो जाने के बाद भी तुम्हें मुक्ति नहीं मिल सकती है । इस जगत का कष्ट साक भी तुम्हारा अनुसरण करेगा । यह तपण व्यर्थ हो जाएगा ।

इसलिए मैं, पहले बले ही अपनी अन्याय—सब कुछ की स्वीकारोक्ति के द्वारा तुम्हारे सामने घुल जाना चाहता था । पर फिर धीरे-धीरे इच्छा हुई कि सब को बुला सकूँ—बाबा, सुधीर मामा, भामता । यहाँ तक कि लीला मासा को भी । उसल-पुनल कर प्रत्येक को देख रहा हूँ । देखो-देखो, तुम्हारी ही तरह ही सभी ही अच्छा बुरा मिला कर ही हैं । सम्पूर्ण साफ कोई नहीं है, हाना सम्भव ही नहीं, पर

सबके अन्दर ही एक व्यक्ति-संसार रचा-बसा हुआ है। अधकार गुफा में जिनका वास है, वे भी कभी न कभी बाहर निकल आते हैं। दबे पाँव कम से कम एक या दो बार जीवन के शीप पर चढ़ते हैं।

उहे पशु बर रहा हूँ। उनके स्वार्थ के छातिर, मेरे स्वार्थ के छातिर तुम्हारे स्वाथ के छातिर। बयो बोल रहा हूँ, तुम्हारे स्वार्थ के छातिर? वरना, तुम भी यद्यपि विराट के अन्दर स्थित हो, फिर भी क्षुद्रता में ही बन्द रह जाओगे। जिसे प्रेत की अतृप्ति कहते हैं। भा, उस ज्वाला से मैं तुम्हें मुक्ति देना चाहता हूँ। बुझाना चाहता हूँ वह एक चिता जो मृत्यु के बाद भी जलती रहती है। यह तपण, यह दृश्य उसी के लिए।

\*

\*

\*

“तुम इतनी देर से क्या आयी बूला?”

“देरी कहाँ? बाह रे। बोल तो गयी थी कि बदन धो कर आ रही हूँ। नहीं कहा था?”

“पर बूला।”

“अब तक नहीं बताया तुमसे। मुझे बूला मत कहा करा तो मैं विचित्रा हूँ।”

“यह तुम्हारा नया नाम है बूला?”

“पर केमस नाम है। नहीं जानते? सुना नहीं है?”

(टैक्सी का नाम क्या विचित्रा है?)

यह मत समझो कि उस समय भी सीमा मासी वहीं थीं। वह पता नहीं जब वहाँ से उठकर जा चुकी थी।

“बाह, अब तो मुँह से प्लव बोल फूट रहे हैं?” बूला ने मेरी तारीफ की या मजाक उड़ाया समझ नहीं पाया। पर हा उसने मेरी नास जरूर दबायी।

“तुम्हें इस तरह देख पाने की कभी सोचा भी नहीं था।”

भविष्य उसकी तन गयी, “किस तरह?”

उसका प्रश्न की टालते हुए प्रुछा, “तुम्हें यह जीवन अच्छा लग रहा है?”

‘तुम्हारी उम्र कम है, इसलिए ऐसा सोच रहा है। कौन-सा जीवन?’

“कष्ट देने के कष्ट का।” बहुत मुश्किल से मैं बोल पाया। “कष्ट की बात रहने दो।” उसने कहा, ‘कष्ट देने की बात क्या कह रहे थे?’

मैंने फिर उस बातों को पुमाते हुए कहा, “कह रहा था यह जीवन अच्छा लग रहा है?” तत्काल उसने भी एक ही बात को पुमाते हुए कहा, “तुम्हारी उम्र कम है, वरना समझ जात। अच्छा, अपने-आप कुछ भी नहीं समझता है। अच्छा लगाना पड़ता है।”

"तुम्हारी माँ को देखा बूला। सीला मासी काफी बदल गयी हैं लेकिन।"

बूला मुस्करा पड़ी, फिर हँसने लगी। उसकी आँखें नाच रही थी, बोली, "ओर मैं?"

"बदल तो सभी जाते हैं बूला। वहाँ भी एक जैसा थोड़े ही रह जाता है। पर मैं ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। कैसा तो सब गड़बड़ा जा रहा है।"

"याने तू इतिहास जानना चाहता है? इन बीच के साल जब हम लोगो की मुलाकात नहीं हो सकी, उसे तुम पढ़ना चाहते हो? मैं बोलती जाऊँगी और उसे तुम कठस्य कर लोगे? अच्छी बात है।" इतना कहकर बूला कुर्सी पर पाँव चढ़ाकर पालथी मारकर बैठ गयी, "कैसी लग रही हूँ देखने में?" अब उसका चेहरा थोड़ा गंभीर हुआ। बातों का सहजा थोड़ा समझला हुआ। पहले भी उसकी इस क्षमता को देख चुका हूँ—अपने को जाल की तरह फैला कर अदृश्य हाथा से अचानक अपने को समेट लेना।

"कहने सायक कोई खास बात नहीं है। हम माँ-बेटी एक तरह से बह हो गए थे, पर फिर किनारे जा लगे हैं। हाँ, माँ को दूढ़ लिया था। बहुत समय नहीं लगा पा दूढ़ने में। माँ ऊमचूम खाने लगी थीं। ठहरना नहीं जानती थी न! क्या करती? मैंने उन्हें खींच कर किनारे लगाया। समझा?"

मेरी आर देखती हुई बूला ने अफसोस भरे से सहजे में कहा, 'बहुत सरस डग से नहीं घता पा रही हूँ, इसलिए अच्छा नहीं लग रहा है? पर यह तो हमारे सघर्ष की कहानी है। सघर्ष में रस-वस कहाँ होता है? हालाँकि ओरता के सघर्ष को तुम लोग सघर्ष मानते वहाँ हा। 'जीवन सग्राम' जैसा भारी भरकम शब्द तो केवल पुरुषों के लिए सुरक्षित रखा गया है न?"

"माँ को किनारे ले आयी हूँ," बूला फिर से बताने लगी थी। अपनी दृष्टि फश पर टिकाए कहती जा रही थी "मेरी माँ अब कभी पानी में नहीं उतरेंगी।" वह थोड़ा रुकी, बाद में बहुत आवेग के साथ बोल पड़ी, "ओर मैं मैं भी घाट पर आयी जरूर हूँ, पर अभी किनारे उठ नहीं पा रही हूँ। तुझे तुझे क्या कभी ऐसा नहीं हुआ है? याने पानी निकलकर जमीन तो मिल गयी, पर कीचड़ चारों ओर गदगदी में ऊपर उठने का रास्ता ही नहीं मिल रहा हा?"

"तुम पहेली बुझाने की भाषा में बात क्यों कर रही हो? मैंने इस तरह कभी सोचा नहीं है।"

शांत स्वर में बूला न कहा, "कम से कम मुझे तो नहीं मिल रहा है। पानी के किनारे-किनारे चलते-चलते बेहाल होती जा रही हूँ। पानी में भी कोई थी। उसकी गंध मेरे बदन से लगी हुई है।" इतना कह कर उसने किया क्या कि काँच का बतन पटक कर मारन की धुआँ में हाथ उठाकर खिलखिला कर हस पड़े।

मैं कुछ पल तक भौंचक्क-सा रहा, फिर धीरे-धीरे समझ गया। याद आ

गया कि मैं वहाँ किस कारण से गया था। बूला को राजी कराना ही होगा। जो खुद इतना दुखी है, वह दूसरे का भी दुख जरूर समझेगा।

कहा, "तुम हमारे मोहल्ले के उस बसव का पाट छोड़ दो बूला।"

इतनी चतुर होने के बावजूद, बूला भरी बात तुरंत समझ नहीं पायी। अवाक होकर पहा, "मतलब?"

"मतलब क्या? उस पार्टी को किए बिना क्या तुम्हारा काम नहीं चल रहा है?"

बूला तब तब समझत चुकी थी। पाँच की जंगलिया को फर्श पर रगड़ती हुई बोली, "पसेगा क्यों नहीं? इस तरह के न जाने कितने पार्टी मैंने पाँच से इस तरह टेन दिया है।" जिस तरह यह भी उसने पाँच के इशारे से समझा दिया। "पर छोड़ने के लिए वह क्या रहे हो?"

"है। कारण है।"

बूला समझदार थी। बोली, "समझ गयी। तू किसी की ओर से तरफ-दारी कर रहा है। पर कौन है रे? बता न। तेरा कोई है क्या? जुगाड़ कर लिया है किसी का?" बूला उठकर कंधे से सटकर बैठ गयी। यह सब लिखना हास्यकर लग रहा है, फिर भी लिख रहा हूँ, धरना जयानन्दजी पूरी नहीं होगी।

बूला बाल रही थी, "कौन है वह, बता न। उसी का तू पाट देना चाहता है इसीलिए मुझसे कहने आया है? तेरी हिम्मत तो कम नहीं। एक सड़की के लिए किसी और सड़की से तू।"

बात बढ़ते देख तुरंत उसे रोकते हुए कहा, "बूला, कोई सड़की नहीं है।"

बोली कोई सड़की नहीं है, यह कहने में पता नहीं कहा हिचकिचाहट हो रही थी। गायब उसी हिचकिचाहट से ही बूला समझ गयी। सहर्ष कहा "समझ गयी। वही तकियामा-मा सड़का? अरे, वह तो सड़की ही है।"

जितना गम्भीर हो सकता था, होता हुआ बोला, "बूला, उसे बहुत चोट पहुँचेगी। उसके पास और कुछ नहीं है, बस यही सब लिए अपने को भूले रहता है। इतना भर उससे छीन मत लो।"

बूला सीधा होकर बैठ गयी। बहुत जल्दी-जल्दी बात करने लगी। पहलेवाला जलसायापन गायब हो चुका था। "उसके पास कुछ नहीं है। ओर मेरे पास क्या सब कुछ है? क्या है मेरे पास? बताओ क्या है? तुम्हें बताना ही होगा। छोड़ दूँ। छोड़ दूँ न? ठीक है, छोड़ दिया। पर उसके बाद तुम लोग मुझे क्या दोगे? कुछ दोगे या भुपत में बन्दोबस्त करने आए हो?"

वह हाँक रही थी बि हँस रही थी, समझ में नहीं आ रहा था। मैंने कहा, बल्कि कहना चाहिए, हकलाहट को काबू में रखते हुए, जितना कहा जा सकता है,

कहने की कोशिश की, "तुम दया करो बूला। पर वह याने बाँसी तुम्हें हरजाना दे सकेगा। उसके पास बहुत पैसा है।"

रूपये की बात सुनते ही, बूला जोर-जोर से हँसने लगी। भाँखें सिकोड़ते हुए कहने लगी, "बहुत रुपया है? कितना रे? यह लड़का तुम्हारा क्या लगता है?"

बोला, "रिश्तेदार है।" हम लोग उनसे आश्रित हैं, यह नहीं कह पाया।

बुद्ध की तरह फिर मैं दोहराया, "उनके पास बहुत पैसा है।"

"रुपया-रुपया, सिर्फ रुपया। यह रुपये की बात तू किसे सुना रहा है? अवाक बूला मानो तिष्ठ उठी। हाथ भी उठाया। पर नहीं हाथ और स्वर दोनों ही उतर गया। "तू दूत बनकर आया है? जा, फिर तुझे नहीं मारूँगी। दूत तो अबध्न होता है। तू जिसका दूत बनकर आया है, उसे भेज एक दिन। उसी से फैसला कर लूँगी। फैसला, याने रुपये ऐसे का।"

\*

\*

\*

नियति की तुमना मकड़ी के सिवा और किसी से की गयी है या नहीं, नहीं मालूम। पर बहुत दूढ़ों पर भी मा। मुझे उससे बढ़िया और कोई उपमा नहीं मिली। मन और दृष्टि स्थिर करके केन्द्र बिंदु में बैठी वह हमें लक्ष्य करती जा रही है। हम सब जकड़े हुए कीट हैं। बंदी। उस सूक्ष्म जास के अप्रत्यक्ष चक्रांत से हम कैसे पार पा सकते हैं।

मेरे साथ भी कोई खेल चन पड़ा था, यह मैं महसूस करने लगा था। पर उससे पढ़ने बाँसी की बात पर सौट आए।

"देगी, देगी। पार्ट लीटा देगी? सब कह रहे हो?" उसका चेहरा सुबह के ताने फूल-सा खिस उठा था। "अगर लीटा दे, तो मैं सब कुछ उते दूँगी?" बासी व्याकुल स्वर में कह रहा था। पर तुरंत चेहरे पर उदासी उतर आयी। "पर मैं उसे क्या दूँगा? क्या दे सकता हूँ मैं? देने लायक मेरे पास क्या है?"

फिर भी उमने दिया था। दे पाया था। मेरी एक नियति मेरे पास ला दी थी। मैंने उसे उसकी एक नियति दी थी। हम दोनों के बीच विनिमय हो गया था।

\*

\*

\*

उसे जब मैंने पहली बार देखा था, पहचान नहीं पाया था। हमारे जीवन के अनेक प्रवल संवाद, शुरू में ध्राति का रूप लेकर आते हैं।

भूत करना और सहज हो गया था, क्योंकि जिस दिन की बात लिख रहा हूँ उस दिन सोकर उठते ही बाँसी का देण नहीं पाया था। इसलिए खिडकी से बाहर देखते ही अवाक हो गया था। यह भी याद आ रहा है, उस दिन एक बहुत ही सुंदर अनुभव मैं मन जोतप्रोत हो गया था।

वह दिन आशोर्वाद के दिन जैसा था, क्योंकि खिडकी से बाहर झाँकते

ही फूल गेय थे । रंग-बिरंगे फूल ! तरह-तरह के । साथ ही बाबा को भी बाग म देखा । टहल रहे थे । पर उनकी बगल में वह कौन है ?

बांसी से पूछा था, "तुम क्या साडी पहन कर थोड़ी देर पहले बाग में टहल रहे थे ?"

बांसी हँस पड़ा था । अपने को लेकर मजाक करना वह सीख गया था । "साडी पहन कर मैं ? नहीं मैं नहीं था । सड़की बनने के लिए मूंगे साडी पहनने की जरूरत नहीं । स्टेज के बाहर मैं साडी पहनता भी नहीं । तुमने शायद किशमिश को देखा होगा ।"

"किशमिश ?"

' मेरी बहन । होस्टल में रहती है । तुम्हें मालूम नहीं ? ईस्टर की छुट्टी में कल रात ही आयी है ।"

बात यही पर आकर पम सकता थी, पर थोड़ी देर पहले मैंने नियति की बात की थी न ? उसी मकड़ी के सूक्ष्म निर्देश पर बांसी ने अचानक अपने स्वर को घीमे करते हुए क्यों कहा, "तुम अगर बूझा को राजी करवा सको, याने वह पार्ट अगर मुझे छोड़ देने के लिए तैयार करवा सको, तो मैं भी तुम्हारे साथ किशमिश का परिचय करवा दूँगा ।"

अभी भी बांसी के उस हाव भाव को देख पा रहा हूँ । साँप की तरह ही उसका निरीह शरीर डाल रहा था । उसकी आँखा में साँप की तरह ही कोई इशारा डोल रहा था, या फिर नहीं डोल रहा था । मैंने क्या अपने ही किसी अवचेतन इच्छा को साँप की तरह डोल उठने देखा था ?



“मेरी बहन।” बहुत साधारण सा कथन, फिर भी न जाने क्या बाँसी ने उस तरह फुसफुसा कर कहा था। “पर मैं जिस तरह सड़का होते हुए भी सड़की ही हूँ, वह वैसी नहीं है। सड़की के भेष में सड़का। मेरी बहन सड़की ही है।”

इसी तरह वीं बातें बाँसी ने की थीं। क्यों की थीं? बाँसी ने कहा था, “सिर्फ उसे एक ही कष्ट है। उसे बहुत कम दोखता है। शायद अघी हो जाएगी।”

“अघी?” जिसे देखा नहीं है, दूर से जिसे सिर्फ उसके भाई की तरह देख-कर चौंका था। उसके प्रति शायद ही कोई संवेदना हो। शायद स्वतः ही मनघामित भाव से प्रश्न निकल गया हो।

उसकी कोई गलती नहीं है,” बाँसी ने धीरे-धीरे कहा, “मेरे बाबा का पाप है। वे भाग गए हैं, पर उनके पाप को हम भाई-बहन ढो रहे हैं।”

मैंने उससे उस कथन का मतलब नहीं जानना चाहा। पता था, बाँसी के मन में अपने पूर्व पुरुषों के प्रति अपार घृणा थी।

बाँसी की जल्दतर नहीं पड़ी। वह खुद ही शाम के समय छत पर उठ आयी थी। माँ तुम भी साथ थी। याद है?

वह झुक झुक कर हरेक पीछे की छू छू कर देख रही थी। सिर्फ उसकी आँखों पर एक असुन्दर-सा चिसे हुए काँच का चश्मा था।

“पानी पेटो हैं मासी माँ? इन पीछों में रोज पानी दना पड़ता है? अपने-आप क्या ये जीवित नहीं रह सकते हैं?” फूलों की ओर देखती हुई वह कुछ बोस रही थी। बहुत-सी तिल्लियाँ वहाँ फूलों पर मड़रा रही थीं।

“पता है मासी माँ। आज मौसा जी ने एक बहुत मजेदार बात कही है। जब हग वगाचे में घूम रहे थे न, उसी समय। आँख पर मेरे यह काला चश्मा था न। मौसा जी ने क्या कहा था पता है? उन्होंने कहा, काला चश्मा पहन कर रोशनी में नहीं निकलना चाहिए। जबकि हम लोग राशनी के कारण ही आँख पर पड़ता चढ़ाते हैं। पर उन्होंने कहा, “अगर उसे देखना चाहते हो तो काला चश्मा मत पहना। यह देखा फूलों की। उसकी आँख सीधे दस्त है। आँख छाँस कर देखते हैं। फूलों की



कभी सनातास से आँख ढकते देखा है ?" बहुत अद्भुत बात है न मासी माँ ?" अच्छी तरह समझ म नहीं आयी, पर बहुत अच्छी लगी ।"

"वे तो चतियाना बहुत अच्छी तरह जानते हैं ।" तुमने उत्तेजनाहीन स्वर में कहा था ।

\*

\*

\*

दूना के घर बाँगी को पहुँचाकर जिस समय घर लौटा, उस समय शायद वा तस्से की खिडकी से ही--उसने मुझे देखा था । मैं उसे नहीं देखा था । खाता खोन कर लिखने बैठ गया था । उस समय लिखन बैठना ही मुक्ति थी, अप्रतिरोध्य किसी-किसी जैविक वेग की तरह ।

छत पर भी वह आयी थी । कुछ उपस्थितियाँ मृगनाभि की तरह होती हैं । अप्रत्यक्ष फिर भी स्वतः हो आमोदित ।

उसी समय अचानक अघड-सा उठा और उससे शायद वह डर गया । अथवा चरमे का काँच धुँधला गया था, इसलिये डर गयी थी ?

पर वह आयी । वह ग्रस्त भाव से आयी । अपना चरमा उतार कर काँच से पीसा रगड़ती रही थी । "क्या निख रहे हैं, दिखाइए तो ?"

इस बात को उसने कितनी देर बाद कहा था, आज मुझे याद नहीं है । सिर्फ दीघ समय के शब्द सिरगाँ को पार कर, "क्या निख रहे हैं, देखू ।" यह वाक्य ही आवहमान गुजरा रहा है ।

शायद कुछ देर बाद ही उसने कहा था । जाने काँच का चरमा उतारकर, उसने भारी पावर का चरमा पहन लिया था, सहज होने के लिये ही क्या उसने पूछा था, "क्या निख रहे हैं, दिखाइए ता ?"

उने दिखाया । उस दिन जो कुछ लिखा था, वाक्य या वह सो गद्य की कुछ पंक्तियाँ । वह मोटे काँच के पीछे छिपी आँखों से पढ़ने लगी ।

"वृक्षतल म रात्रियापन, मेरे भरपूर स्वप्न का अग्रतम, अगर एक रात—एक रात भी वहाँ गुजरा, तो मन्त्र-पुण्य स समाच्छ न हो जाऊँ । पन पुण्य अथवा अनुभूति ? अनुभूति अथवा उपलब्धि ?"

"कुछ समझ म नहीं आयी, इसका मतलब क्या हुआ ?"

वाना, "इसका कोई अर्थ नहीं है ।"

"जा ! अर्थ तो कुछ न कुछ होगा ही ।"

"हर समय नहीं । या फिर रहता है सिर्फ किसी एक के लिए । किसी किसी कमरे अथवा बरस की चामी जिस तरह सिर्फ किसी एक जन के पास ही रहता है । अनेक यहाँ घोस सपता है ।"

"आप छान सनत है ?"

"सपता है, पर रहत हा नहीं । बाच-बाच म चामा छी जाता है ।"

दृष्टिहीन दृष्टि से वह देखती रही, उसके बाद फिर एक पन्ना पलटकर पढ़ने लगी। पढ़ने के बाद कहा, "समझा दीजिए।"

"समझाने की जरूरत क्या है?"

असल में माटी बीच के पीछे आँख देखकर मैं डर गया। इन सब बातों को टालत हुए मैंने कहा था, आप बस आयी हैं?"

"कस हो, पर आप क्यों कह रहे हैं? मैं तो छाटी हूँ।"

"कासा चरमा नहीं पहनेगी?"

"पहनूंगी क्या नहीं! पर सब कुछ बदसूरत दीखता है।" इतना कहकर वह ड्रेसिंग टेबुल के पास आ गयी। क्रीम, तेल, पाउडर वे डिब्ब उठाकर कहने लगी, "दादा सगाते हैं, आप भी सगाते हैं क्या?"

"मैं? कभी नहीं।"

"मैं भी नहीं सगाती हूँ।" उसने विपाद भरे स्वर में कहा।

"तुम्हें जरूरत नहीं पड़ती है?"

"पढ़ने पर भी नहीं सगाती। मुझे देख नहीं रहे हैं? एकदम सीधी-सादी, सूखे काठ-सी।" बहुत धीरे-धीरे वह बोली। उसके बाद अपनी दृष्टि मेरे ऊपर-यस्त करती हुई बोली, "आपको पता है, मैं अघी होती आ रही हूँ।"

"पर प्रसाधन करने से उसका क्या सम्पर्क है?"

"देखूंगी नहीं।" उसने दुखी पर प्रतिज्ञा भरे स्वर में कहा। धरती चाहती नहीं है कि मैं उसे ज्यादा दिनों तक दखूँ। अतत सुन्दर रूप में। फिर मैं उसे देखूँ क्यों? अपने को दिखाऊँ क्यों?"

"किशमिश।" मैंने कहा, "किशमिश इतनी निष्ठुर अपने प्रति मत बनो।" उसन जोर से अपना सिर हिलाया। "किशमिश। किसने बताया कि मेरा नाम किशमिश है? मैं तो कोई सफगी सड़की नहीं हूँ। यह नाम मुझ पर फवता नहीं है। मेरा असली नाम क्या है, पता है? मेरा असली नाम रजनीगंधा है।" इतना कह कर वह घाटा रुकी, फिर बोली, "बहुत भारी है न?"

"सुगन्धित भी।"

"दिन में नहीं रहती है।"

"रहती है, मैंने कहा, "अगर पानी डाला जाए। अगर भीगी-भीगी रहे, अगर "

"अगर पानी डाला जाए, अगर " मेरी बातों का एवाण छीनती हुई वह बोली, "अगर?" उसके बाद प्रतीक्षा करती रही।

माँ, यहाँ उस वाक्य को लिखना कठिन है, पर काम और भी कठिन और दुःसाहसिक था, फिर भी लिख सकूँगा—यह उम्र और समय ने तो फिल्टर का काम किया है। फिर इसलिए भी सकूँगा, क्योंकि तुम घटना के बारे में जानती हो। अचानक वहाँ आवर देख लिया था?

उसकी आँखें मोली हो आयी थी, अचानक बाँपते हाथों से पलकें पोंछती हुई वह भीत स्वर में बोल पड़ी थी “यह क्या !” हालाँकि मैं भी उस समय थरथर कांप रहा था, फिर भी प्रबल प्रगाढ़ आवेग से उसे कहने लगा, “ऐसा क्या घास कुछ ! घृणा हो रही है, बुरा लग रहा है ?”

उसने अपना आँखें हाथ से ढँक रखी थी। हाथ हटाते ही उसकी दृष्टि का घुघलावन उजागर हो गया। उसकी आँखा में वसाति थी। सकपकायी-सी और अधिष्ठा सिर मुकाते हुए उसने कहा, “घृणा नहीं ? घृणा नहीं !”

मने और अधिष्ठा साहसी होकर उसकी पीठ पर हाथ रखा। उसकी आँखों में विस्मय था। बोली, “पर क्यों ?”

“इन आँखों की दृष्टि की अस्वच्छता को मिटा देना चाहता हूँ। इस धरती को तुम्हारे सामने और अधिक सुन्दर बना देने दो।” या फिर इसी प्रचार की बनावटी बातें उसे सुनाने लगा था, धीरे धीरे आग और भी बहुत कुछ कह जाता, पर मैं शामद उसी समय तुम्हारी परछाई पड़ी, साथ ही कण्ठस्वर भी सुनायी पड़ा।

तुम क्या आयी ? बाहर क्या से इंतजार कर रही थी ?

\* \* \*  
उसने कहा था, “यह क्या ?” “तुमने भी कहा, “यह क्या ? यह सब क्या है ?” पर उससे कहीं अधिक कठिन स्वर में। तुम भी कांप रही थी गुस्से में। खींचते हुए मुझे नीचे ले जाने लगी।

“यह सब क्या है ?” नीचे के कमरे में एक कोने में, जहाँ खिड़की नहीं है, मुझे एक कोने में बसेलत हुए तुम पूछती हो “यह सब क्या है ?”

“क्या है, कुछ भी नहीं।” सचे स्वर में बालता हूँ।

“कुछ नहीं। यह सब कुछ नहीं है ?” उस नीम अँधेरे कमरे में तुम्हारा चेहरा साफ दीख नहीं रहा था, फिर भी महसूस हो रहा था, तुम्हारा चेहरा गुस्से से तमतमाया हुआ था।

तुमने कहा, “तुम निर्दय बंदमाश ही नहीं हो, झूठा भी है। कुछ नहीं / अभी भी कह रहा है, कुछ नहीं ? जबकि मैंने अपनी आँखों में जो कुछ देखा !”

“हाथ छोड़ो,” अचानक मेरी आवाज में तबी आयी। कहा, “हाथ छोड़ो।” सिर्फ कहा ही नहीं, झटके से हाथ छुड़ा भी लिया।

तुम एकदम से विपर पड़ी। “बिन्कुल अपने बाबा का स्वभाव पाया है।”

“बुरा रहो।” मैंने तुम्हें झुडकी लगाते हुए कहा, “बाबा को इसमें क्या खींचती हो ?”

“वहो फरेव मरो बाँते ? पकड़े गए हो, फिर भी झूठ बोले जा रहे हो— बिन्कुल उनका तरह।”

‘रिस्की तरह, यह ठीक से कहा नहीं जा सकता है।’ ठीक उसी समय

बड़ी सावधानी के साथ वह गुप्त छुरी निष्काशते हुए मानो मैंने दिखा दिया, "तुम्हारी तरह भी तो हो सकता है!"

तुम चौंक गयीं। "किसकी तरह? किसकी तरह बताया?" "तुम्हारी तरह तुम्हारी तरह", जिसकी कड़क रही थी, अपने गले के स्वर से मैं खुद हो चौंका हुआ, वाक्य नहीं, मानो धून के फव्वारे मुह से निकल रहे थे। "तुम्हारी तरह। तुम्हें शायद मालूम नहीं, पर मुझे पता है। यह जानकर रखो, मैंने भी बहुत कुछ देखा है। बहुत कुछ।"

"क्या देखा है? क्या जानता है? तुम्हारा चेहरा विषण, आतङ्कग्रस्त और भीत। तुम्हारा पुत्र आतङ्कायी है। उसके हाथ में छुरा देखकर मा तुम भयभीत हो।

"एक जन को रोज आते हुए देखा है। क्या नहीं देखा है? क्या आता था? क्या मैं समझता नहीं था? क्यों आता था, क्या मैं उसके आन का मतलब नहीं समझता था? सब जानता था? बाबा भी खरूर जानते होंगे। इसलिए वहां ज्यादा आते नहीं थे। मुझे सब पता है।"

एकदम से छुरा भोक दिया है। और रक्त से सन एक शरीर को लड़खड़ाते हुए गिर जात हुए देख रहा है। फिर भी मैं उत्ससित स्वर में बोले जा रहा है, "किसीलिए कहता है, मुझे छोड़ो मत, डंक के रखो। डके रहने दो, बरना केंबुवा खोदने की कोशिश में साँप निकल आएगा। बाबा का मन विराट है इसलिए वह वापस लौट गए। हम लोगों को अपने पास ले आए।"

"तू बोल रहा है तू?" किसने कही वह बात? एक आतङ्काद की तरह? शायद एक मृत देह हा ने तो, जो अभी-अभी मेरे हाथों निहत हुआ है।

जीवन म न जाने कितने मृतकों को देखा है। बाबा का, तुम्हें सुधीर मामा को, न जाने कितनी बार कितनों को मरते देखा है। मैं भी बार-बार मरा है।

तुम्हें मारने के साथ साथ मैं भी मर चुका था। घुटने मोड़कर बैठते हुए धीरे-से पुकारा, "माँ!" वह दह काँप उठी। एक चेहरा वस्त्रावृत्त। "अब और क्या? मुझे मा कहकर मत पुकारना। जा, तरो माँ नहीं है।"

माँ नहीं है? मृत-सुख का अभिशाप बहुत बलिन होता है। उस एक शब्द ने मेरी चेतना को लुप्त कर दिया। माँ नहीं है। नहीं था? थी। अब नहीं है। अब और नहीं रहगी। एक अस्तित्व मिट गया। मिथ्या हो गया सब कुछ। बचपन के सारे अनुहार और वे सारे दिन, क्योंकि माँ नाम को कोई नहीं रह गयो।

वह घटना शायद अकस्मात् ही घट गयी थी। फिर भी मेरे अवचेतन में जो प्रतिशोध स्पृहा थी, उसे भी मुक्ति दे दो। मुक्ति दी, मुक्त हुआ मैं स्वयं भी। तुम्हें भी मुक्त किया। हाँ माँ! तुम्हें भी। उस मकान में हम तीनों अने धनदास के सिवा और क्या थे? मैंने उस स्थित से सबको मुक्त किया। बाबा गुमास्ता या मुनीम और तुम? लिखने में सकोच नहीं, तुम दासी। सम्प्राप्त होने पर माँ दासी ही तो थी। मैंने सबको मुक्त किया।



श्री चरणेषु—श्री चरणेषु—श्री चरणेषु ! आज सुबह से अब तक कई बार काट-छाट करके, एक ही शब्द सिफ लिख सका—‘श्री चरणेषु’ इस शब्द का अर्थ क्या होता है ? श्री चरणेषु का मतलब क्या जमा-प्रायना होता है ? नहीं, नहीं जब अपने अन्तिम समय में एक गढ़े हुए झूठ से स्वयं को, तुम्हें और अपनी इस स्वीकारोक्ति को प्रिये कुछ लोग सुन रहे हैं, उन सब को बहनाऊंगा नहीं ।

मुझे आज रास्ता नहीं दीख रहा है । धुंधला सब कुछ धुंधलाया हुआ । जबकि यह धुंध का मौसम नहीं है । अघड़ ! तो फिर क्या यह अघड़ है ? हम दोनों के बीच जो छुन बरी आधी उठी थी, वह क्या सब से बहती ही रही ?

माँ और बेटा । इस धरती पर जो सम्बन्ध प्रथमतः है, उसे निहत्त करके छुरी को फिर से छुसा कर कुछ दिनों तक निर्विकार धूमता रहा । दूर से दूर तक होता बना गया था, इसलिये उस बार जाती पूजा में ।

\*

\*

\*

रजनीगंधा ने कहा, “यह क्या, तुमने प्रणाम नहीं किया ?”

हम सब मिलकर मटप में खड़े थे । सूब घूमे थे, दोवासी की शान को । एक मटप के पास पहुँचने पर जोर से ढाक बजान लगा था । बूला और बाँसी भी थी यानी दूर पर । बूला ने भीड़ों पर बस कासते हुए कान पर हाथ रखा । दूर से थोड़ा जीम निकाल कर हम लोगों को बुला भी रही थी ।

पास में जाते ही, बूला ने कहा, “दया ! मैं भी माँ जाती बन सकती हूँ । मेरा जीम निकालना क्या ठीक बैसा हा नहीं हुआ, बता ?”

“हुआ है,” बहुर टासने की कोशिश की । बूला ने मेरी बमोज की आलीन पकड़ कर खींचा । बोली, “ठहर ! हुआ तो है, पर ठीक से हुआ भी नहीं है । मटादेव वहाँ है ? नहीं हैं !”

बाँसी पास में हो गया था । वह बहुर दृष्टि से देख रहा था । बूला ने हृष्य दिया यह पोरन उसने पाँव के नीचे शिव बनकर सेट जाए ।

बूला जाती, “अरब ! अरब में पुरख हा स्त्रियों को बेर के नीचे रखा है । इस जाती प्रतिमा में उठी की उस्ता करने स्त्रियों को घोषा दिया जा रहा है ।”

“घोषा नहीं,” मैं धीरे-धीरे बोलने लगा । ‘एक गुंजर बल्पना है । एक

आश्चर्यजनक उपहार है। पुरुषों ने आज तक स्त्रियों को जितने भी उपहार दिए हैं, इससे श्रेष्ठ उपहार और कोई नहीं है। यह उपहार सम्पूर्ण समर्पण का है।” रजनी-गंधा की आँखों की ओर देखते हुए कहा था।

उसके भी काफी देर बाद जब चला जा रहा था, रजनी ने कहा, “यह क्या तुमने प्रणाम नहीं किया?”

“प्रणाम मैं नहीं करता हूँ। किसी को भी नहीं।” बहुत तीखेपन के साथ कुछ-कुछ अपने को बहुत चालू दिखाने की गरज से कहा था।

रजनी अवाक हुई थी। आहत स्वर में कहा, “भासीमा को भी नहीं?”

उस समय तो तुम्हारे-मेरे बीच वही दीवार खड़ी थी, इसलिये अनायास ही बोल बैठे, “वही बीच-बीच में छूता है। छूना पड़ता है इसलिये।”

“छि !” अपनी दोनों आँखों को और अधिक आयत करते हुए रजनीगंधा ने कहा, “प्रणाम करना चाहिए। मन से प्राण से। इससे देखना अपने को ही अच्छा लगेगा।”

“उस मिट्टी की मूर्ति को ? फु !” कहकर सब कुछ उड़ा देने के नशे में उस दिन चला आया था।

\*

\*

\*

समुद्र के किनारे जो सतत हवा बहती है, वह हवा भी वहाँ निमर है। लिखने बैठकर रोज उसकी सासनाहट सुनाता हूँ। पर कभी-कभी नहीं भी सुन पाता है। जिस तरह कभी-कभी हवा भी गिर जाती है। उस समय कुछ लिखा नहीं जाता है।

जैसे आज किसी भी तरह तय नहीं कर पा रहा हूँ, कौन-सी बात पहले लिखू। बूसा, बाँसी, रजनी और मैं हम चारों को लेकर जो गोट बिछाए थे वह, या सुधीर मामा जिस दिन आए थे, उस दिन की बात से शुरू करूँ ?

सचमुच वे एक दिन आये थे। कहा था, आएँगे। अपनी बात रखी। बाँसी ऊपर के कमरे में जाकर बताया, “तुम्हारे कोई रिश्तेदार नीचे आए हुए हैं। तुम्हें बुसा रहे हैं।” गया। चौखट पर रखे झूते का साइज देखकर समझ गया कि कौन आया है। पर उसी समय घुसा नहीं। कारण ? अब छुपाने से फायदा नहीं। उस घटना के बाद से तुम्हारे पास, सहज होकर चले जाना, सम्भव नहीं रह गया था।

तुम्हारे चेहरे का एकाण डँका हुआ था। सुनाई पड़ा, “तुम यहाँ हो मालूम या। इतने दिन बाद हालचाल पूछने आए ? फुसत मिसी ?”

“फुसत ? नहीं जानू। फुसत मुझे अभी भी नहीं मिसी है। बहुत बुरी तरह बध गया है आज तुम्हें वह सब नहीं बताऊँगा। तुम सब कैसे हो ? वह बताओ।”

“देख तो रहे हो।” तुमने बिना नज़र उठाए ही कहा।

बातचीत जम नहीं रही थी। दूग दूग घागा खुद नहीं पा रहा था। सुधीर मामा ने कहा, "चलू।" अचानक ही, और तुमने सिर्फ सूखा-सा एक "अच्छा, आता फिर।"

"आज्जो। मैं एक दिन और भी आया था। प्रणव दाबू से मुलाकात हुई थी। उन्होंने बताया नहीं?"

"घायब भूस गए होंगे।"

बाहर आकर सुधीर मामा मुझे देख पाए। मुला भी लिया—"आ, थोड़ा आगे तक छोड़ आ।"

गेट के बाहर आकर अचानक मुड़कर मेरा एक हाथ कसकर पकड़ लिया। "एक बात पूछ? झूठ मत बोलना। तू नया आनू को कोई दुख दिया है?"

फिर झुकाए रहा। दुख? वह पता नहीं है। दुख कहने से कितना भर समा जा सकता है। मैंने तो तुम्हें निहत्त किया है।

सुधीर मामा ने कहा, "छि, माँ को दुख नहीं देना चाहिए।" जात-जाते ही कहा, 'यह बात मेरे मन में क्यों आयी, यही सोच रहा है न? आनू को देखकर लगा। उसके चेहरे और हावभाव से ऐसा लगा। फिर उसकी एक बात ने भी मुझे चौंकाया है। कहा, "सब तो हो गया सुधीर दा। अब सिर्फ चले जाना चाहती है।" ऐसा उसने क्यों कहा?'

शुष्क स्वर में कहा, आप ही बताइए न क्यों?"

"बताया ता। बहुत सम्भव तेरे लिए। बहुत चुप स्वभाव की बराबर रही है। खोलकर कुछ बताया नहीं।"

बड़बुहाट के साथ कहा, "दूसरा कारण भी तो हो सकता है। यह क्यों नहीं सोचने? हम लोग यहाँ पड़े हुए हैं। बाबा अपनी उस बीमारी के बाद ठीक हो नहीं हो पाए। असल में मेरे मन में जब समय एक रासायनिक प्रक्रिया घट रहा थी। मेरा अपराध-बोध अपना रंग बदल कर क्रोध हिंसा में परिणत हो रहा था। इसलिए उस व्यक्ति को भी बरदाश्त नहीं कर पा रहा था।

"यह ठीक बात है कि कोई दूसरा कारण भी हो सकता है।" गला खराटे हुए सुधीर मामा ने कहा, "पर उन सब कारणों के बिना असल तरह के हात हैं। मुझे पता है। फिर आनू को तो मैं पहचानना हूँ न। वही अब से "

"रहने दें। बड़ से पहचानते हैं वह सब सुनना नहीं चाहता हूँ। मुझे जानने की जरूरत नहीं।" भयंकर रूप से चीखते हुए बोल बैठे।

सुधीर मामा विषण्न हो गए। धुंधली राशनी में भी झुंक कर मेरा चेहरा पढ़ने की कोशिश करते हैं। फिर माँ मैं छाना नाने खड़ा हूँ और मानो अपना पाट दाहरा रहा हूँ, 'भागिए, भागिए!'

हाथ की लाठी ने आगे आगे रास्ता दिखाया, सुधीर मामा उसके पीछे-पीछे जा रहे हैं। मैं धीरे-धीरे उस तात्कालिक के नीचे उतरने लगता हूँ। हाथ धोऊंगा। घों

ढालूंगा क्या ? निहत प्रीति स्मृति का रजन है क्या ? मैं उस समय कांप रहा था ।

\*

\*

\*

रजनी ने कहा, “वह क्या मेरे लिए ?”

घर सीटते ही माँ, वह मुझे एक एकांत जगह पर ले गयी थी । माँ ! सबोच नहीं रह गया था, तुम्हें तो पता चल ही गया था ।

रजनी बोली, “मासी माँ, यहाँ से चली जाना चाहती हैं ।”

“ऐसा क्या ?”

मेरे निरासक्त स्वर ने उसे शायद आहत किया । “तुम्हारी माँ हैं, और तुम्हें ही मासूम नहीं ।”

“माँ की सारी बातें, बेटा जाने ही, ऐसी कोई बात है भत्ता ?”

“पर उह आपने लठके के बारे में सब कुछ मासूम है ।” रजनी ने स्निग्ध स्वर में कहा । “इसीलिए तो पूछ रहा हूँ, वह क्या मेरे लिए ही जाना चाहती हैं ?”

“मासूम नहीं, “पर जाना चाहती हैं, यह बात तुम्हें किसने कही ?”

“दादा ने । दादा को बुला कर पूछा कि वह उहें गाँव के मशान में छोड़ आ सकेगा या नहीं ? सोच कर देखो, उह दादा पहुँचाने जाएगा ! जो सुब अकेले ट्रेन में चढ़ना नहीं जानता है, वह जाएगा पहुँचाने ।”

“भले ही ट्रेन में चढ़ा नहीं जानता हो, पर माँसी, बुला को तो खूब टैक्सी में घुमा रहा है ।” हमारी बातचीत में मज्जाक का पुट सगने लगा था ।

“वह सब भी तुम्हारी ही करतूत है । तुमने ही भिडायी है । दादा का सर्वनाश किया है । अच्छा भला थियेटर लेकर था, पर जब मर्द बाने का घुन उसने माये पर सवार हो गया है । रुपया मिलते ही बुला ने पार्ट छोड़ दिया है, पर दादा ने भी पार्ट दोबारा बुला को वापस कर देने का विचार किया है । उसे अगर प्ला मिल जाए, पार्ट की जरूरत नहीं ।”

“पा तो गया है ।”

“उसे पाना नहीं कहते हैं । बुला सिर्फ उसे लेकर घेन रही है ।”

“जैसे तुम मुझे लेकर खेल रहे थे ?”

रजनी हँसी नहीं, “या फिर तुम मुझे लेकर । यह भी तो हो सकता है ? तुम-तुम भी शायद बुला का ही ।”

मैंने उससे मुँह पर हाथ रख दिया । उसी हाथ हटा दिया, पर धमरा देकर नहीं, बहुत धीरे-से अधेरा जमाने लगा था ।

रजनी ने कहा, “बताओ तो तुम्हें इस कोने में क्यों से आती हैं ?”

लजाये हुए स्वर में उसने कहा, “न, न तुम जो कुछ सोच रहे हो, वह बात नहीं है । तुम्हारे अंदर बाघ-बाघ बोलकर कुछ नहीं है । इस अनुभूति का साथ ही तुम लेखक बनोगे ? सुनो, मैं इस कोने में इसलिए जाती हूँ, क्योंकि यहाँ एक समान हो जाते हैं ।”



रजनी बोलती रही, “मेरी दृष्टि क्षीण है। जहाँ रोशनी होती है, वहाँ भी ठीक से देख नहीं पाती हूँ, जबकि दूसरे सब देख पाते हैं। यहाँ रोशनी नहीं है, इसलिए सब समान है। मैं तो देख नहीं ही पाती हूँ। तुम भी नहीं।”

वह रुकी थी। थोड़ा और पास सरक आयी। “देखो मासी मैं सब कुछ जानती हूँ। मैं बल्कि होस्टल ही लौट जाऊँ। तुम उन्हें कष्ट मत देना।”

मैं वर्कश खनखनाए हुए स्वर में बोल उठा था, “दुख ? किसी को दुख नहीं हुआ। मैं अकेले ही सारा दुःख झेलूँगा, ऐसा कोई गर्वनामा सिखा कर मैं नहीं आया हूँ न ?” (कहते ही सिहर उठा। अपने कण्ठस्वर की निष्पूरता में इस मकड़ी के जाले से घिरे अँधेरे कोन में।)

‘तुम ठीक नहीं बोल रहे हो,’ वह आहिस्ता-आहिस्ता बोलती है। “हर कोई अपने ही दुःख को बड़ा करके देखता है। दूसरे का नहीं देख पाता है।”

मैं कुछ कहने की कोशिश करता हूँ, पर अचानक सिहरते हुए दबे स्वर में रजनी कहती है, “सुन रहे हो।”

भुट्टु पर स्पष्ट एक कण्ठस्वर सचमुच ठैरता आ रहा था। वह नया कोई स्वगत सञ्चारण था, अथवा कोई आर्त प्रापना ?

“शाम हो गयी है। अब मुझे हसिनी की तरह बुला लो। दिन भर ठैरती रही, अब और नहीं सक रही हूँ। मुझे किनारे लगा दो।”

कौन ? किसे बोल रहा था ? रजनी और नजदाक आ गयी। किसफिसात हुए कहा, ‘सुन पा रहे हो ? मासीमैं ?’

पाया था। तुम कहाँ जाना चाहती हो या ? ठैरती-ठैरती पलान्त हो गयी हो ! किस किनारे लगना चाहती हो ? मुझे डर लग रहा था। जिसे मुत समझ रहा हूँ, उसे जीवित देखने पर जैसा मग्न समाता है, वैसा ही जिस दिन तुमने कठोर स्वर में तिरस्कार किया था, उस दिन तो नहीं बरा था, फिर उस समय क्यों डर गया ? यातें रोने की तरह और रोना भी मन की तरह लग रहा था, इसलिए ! उस रोमांचित कोने में उस क्षण मरी भी आँखें धुंधला गयी थी। रजनीगधा और मैं सचमुच समान हो गए हैं।



उन्हीं दिनों बाबा की बीमारी और अधिक बढ़ गयी। डेर सारे जड़ी-बूटी और पुराने दिन के ढिन्ने उंहाने इकट्ठा कर रखा था। उन्हीं के बीच ही बैठे रहते थे। क्या कुछ लिखा करते, पर किसी को देखने नहीं देते थे। नया नाटक-वाटक ? बाबा, जल्दी से सब कुछ छपाते हुए कहते, “नहीं, नाटक ! वह सब अब मैं नहीं लिखूंगा। वह सब दूसरों के लिए था। और यह सब ? मेरे अपने लिए। अब से जो कुछ लिखूंगा, सब सिर्फ़ लकीरें होंगी, पर सब मेरे अपने लिए।”

स्वदेशी उद्योग के पुनरुज्जीवन के सम्बन्ध में एक प्रबन्ध भी लिखना शुरू किया था, उसे भी छिपा कर रखते। देखने नहीं देते। पर मुझे पता चल गया था, वह सब एक धोखा था। जड़ी-बूटी, टीन के ढिन्ने असल में सब एक दीवार था। जिसके पीछे बाबा धीरे-धीरे अपने को छपाते जा रहे थे।

मैंने उनके लिखे हुए को पढ़ लिया था। मा ! तुम कहीं जाना चाहती थी, पर नहीं जा सकी थी। पर बाबा चले गए, बहुत दूर। कहीं पहुँच गए थे, उसका आमास उनके लेखों में था। उसके कुछ अंश तुम्हें पढ़कर सुनाता हूँ—

“आन्ना एक गलती कर रही है। मेरे प्रति, अपने प्रति, सब के प्रति। उसकी धारणा है कि मैं शायद अभी भी सुधीर बाबू के प्रति मन में विद्वेष लिए बैठा हूँ। इसलिए उस दिन जब सुधीर बाबू आए, मुझसे मिसने नहीं दिया। उसे पता नहीं है, ईर्ष्या विद्वेष की जो नम जगमोग थी, वहाँ का आवास मैंने कब का छोड़ दिया है। मैं वहाँ, वही तो समझ नहीं पाता हूँ। कभी-कभी सोचता हूँ अपने इस नए वास-गृह का नाम ‘आनन्द’ रखूँ। हाँ, आनन्द भी एक रहने वाली जगह है। पर बहुत बाद में यह जान पाया।

“यही एक बहुत बड़ी असुविधा है—जानते-समझते, जगह तलाशत-ढूँढ़ते बहुत देर हो जाता है। अथेड उम्र में पियेटर के सम्पर्क में बस जिस समय आया हो था, उस समय सव्यसाजी बाबू ने एक दिन कहा था, “सुरापान करने का दोष क्या है, पता है रे ? लगातार कई पेग न चढ़ाने पर भिजाज जमता नहीं है। जमीन तैयार नहीं होती है। यही मुश्किल है।” उनकी उस कथन को आज इस दस्तवी उम्र

मे दूसरे एगल से दख रहा हूँ। दख रहा हूँ, बहुत से वर्ष बिना पार किए, यथार्थ मे कोई उपलब्धि नहीं मिलती है—न आनन्द की, न किसी वृहत्तर सत्य को। मेरी तो लगभग पूरी उम्र हो बीत गयी।”

“बोत जाने दा। थोड़ा-बहुत आभास पा सवा हूँ, यही काफी है। आतू को नहीं मिला है, उनके सुघोर दादा को भी नहीं। भले आदमी उस दिन मेरे सामने आये ही नहीं, पर पहले दिन जब आए थे, उस दिन मुझमे परिवर्तन देख, बहुत विरसित-से हुए थे। उस दिन जाता-बाता में अचानक पूछ बैठे थे कि उनके प्रति मेरा मनाभाव क्या पहले जैसा ही विरूप है अथवा बदल चुका है। मैं हँस पड़ा था। उस हँसे का अर्थ वे समझ नहीं पाए थे। मैंने कहा था, ‘अरण्य का भी एक महान स्वप्नराज्य होता है। मालूम है? मायावी परिवेश में मातृ हत्या के लिए वृत्तसन्त्य नक्षत्र राय के हाथ से भी चाकू छूट कर गिर जाता है।’ वे फिर भी समझ नहीं पाए। बाले, “यह बाग क्या एक जगल है?” हँसते हुए मैंने कहा, “बाग नहीं। अरण्य हमारी उम्र है, जो हमारे स्वभाव को घनापन देती है। परिवेश की तरह उम्र का भी एक आवेश होता है। हाथ से चाकू वहाँ भी छूट कर गिर जाता है।” सुघोर बाबू ने सकयकात हुए कहा, “याने आप में अभी क्षमा-धर्म ही प्रवल है।” मैंने कहा, ‘क्षमा? सुघोर बाबू! कौन किसे क्षमा करता है? वह सब गवौंति के मिवा और कुछ नहीं है। जिसे क्षमा की जाती है, उसका कौन-सा उपकार होता है मालूम नहीं। पर जो क्षमा करता है, उसे राहत मिलती है, शान्ति मिलती है स्वयं को। जो क्षमा करता है, स्वार्थ उसी का अधिक होता है।”

बाबा वा वह प्रशांत मुख मडल अभी भी बीच-बीच में नींद में देख पाता हूँ।

वे धीरे-धीरे बलान्त, अवसन से होते जा रहे थे। बीमारी उनकी बढ़ती जा रही थी।

\*

\*

\*

तुम्हारे-हमारे बीच की दीवार दो बार चरचराई थी। तुम्हें माद है? मरी दो चीज। दोनों बारम्बार ही माया एक थी, तीव्र तीव्रण। “माँ”। भले हो दीवार टूटे मा न टूटे, उस पुकार ने आने जाने का एक रास्ता जरूर खोल दिया था।

मझोले साइन की वह पत्रिका मेरी मुट्ठी में, आँखें विस्फारित। आश्चर्यचकित सा मैं सोता आ रहा हूँ। बाहर का फाटक ठेन बर, बगोचा पार करता हुआ आ रहा हूँ। कौन मुझे देख रहा है, कौन नहीं, किसी ओर ध्यान नहीं। मैं सोटा रहा हूँ। मेरे हाथ में उस समय विराट सम्पत्ति है। जिस पहले दिघार्जना पहले। किसे रजनी को? शायद वही कुछ होता पर ठीक सीढ़ी के सामने तुम खड़ी थी।

जो होना था, वही हुआ। जो कुछ घटना चाहिये था, वहा घटा। कहाँ है वह दीवार, देख नहीं पाया। जितने दवे हुए आवेग में, जितनी उत्तेजना थी

सबको उड़ा कर लेते हुए बोस पड़ा, “मा !” दीवार हिल गयी। “यह देखो। बताओ तो क्या है ?”

“क्या है ?”

“देखो न। यह रचना।”

“किसकी ?”

“नाम तो ऊपर ही छपा है। पद नहीं पा रही हो ?”

नाम बमक रहा था। काली स्याही में नहीं, मानो सुनहरे अक्षरा में।

“तेरी है ?” एक ही साथ बिस्मय अविश्वास, उत्साह आदि बहुत कुछ तुम्हारे चेहरे पर तिर गया। “तेरी है ?” तुम और कुछ नहीं बोल रही हो। बोल नहीं पा रही हो, सिर्फ एक ही बात को घुमा फिरा कर बोले जा रही हो। “तेरी तेरी तेरी है ?”

“मेरी ही है। भेजी थी।”

“उन सौगों ने छाप दी ?”

“पढ़ो न मा। पढ़ो सा पढ़ो। कविता ही है। थोड़ी-सी पक्तियाँ ही हैं।”

शकल छपे पने। उस समय बारिश में भीगी जमीन, सोधी-मीठी महक फैला रही थी। पढ़ो न मा, पढ़ो न !” पढ़ेंगी क्या ? पढ़ा जा सकता है। आँखें अगर भर आएँ ? उमड़ते हुए अगर बारिश उतरे ? पढ़ा नहीं गया, पर दीवार घुलने लगी। निट्टों की दीवार पानी से जलूर धुलेंगी।

\*

\*

\*

“मुझे नहीं सुनाओगे ?” रजनी बरसाती में खड़ी थी। “देखू तो। कविता का क्या नाम रखा है।”

गाढ़े स्वर में मैंने कहा था, “रात्रि।”

“ओह !” उसने कहा, मेरे नाम का मतलब भी वही है।”

“वह तो एक हिस्से का अर्थ है। सम्पूर्ण नाम में तुम फूल हो—रात का फूल। पर दिन में भी रहती हो।”

पन्ना को अपने पास लाकर उसने उसे एक बार सूँघा, फिर मुझे सौटाते हुए कहा “तुम पढ़ो।”

“तुम ही पढ़ो न।”

“सकूगी ? अगर गलत पढ़ गयी तो ?”

फिर भी उसने पढ़ा। धीरे-धीरे मुद्रित प्रत्येक वण को माना अपन होंठों का स्पर्श देकर पढ़ रही थी। रात को तुमने प्राणायामिनी कहा है ? कहा है। समझ गया क्यों ? सिर्फ तुक मिनाने के लिए कुछ समझ में नहीं आ रहा है।”

“मुझे समझ में आन पर लिखता हो क्यों ? समझ नहीं पाया, इसी से तो लिखा है ।”

उसने फिर कहा, “मुझे डर लग रहा है ।”

“डर मुझे भी लगता है ।” मैं उसे थाम लिया । एक पॉव गलत बढ़ाने और छोटी भी चूँ होने पर दरवाजे से उसका तिर टपका जाता ।

\*

\*

\*

उस दिन रात को तुम भी नितनी बड़ी गलती करने जा रही थी, बताओ तो ?

एक अरसे बाद तुमने अपने हाथ से परोस कर मुझे खिलाया । बाँसी ऊपर चला गया । तुम तुरंत सीढ़ी के सामने आकर खड़ी हो गयी ।

“आ, इधर आ न जरा । दो चार बातें करें । नहीं करेगा क्या ?” इत्यादी । तुम्हारे स्वर में अभिमान और अनिश्चयता का स्थापन क्यों है ? उस तरह बिनती भने स्वर में क्यों बाग बर रही हो ? मुझे तो तुम खींच कर भी ले जा सकती थी ?

मैं माथे पर तुमने एक हाथ रखा । बहुत सत्तर्पण के साथ और बहुत निनायाद । उस स्थिति में भी शायद निश्चयता महा थी । अधिकार का अहंकार ? वह तो बिल्कुल ही नहीं । “अब तो नाराज नहीं है न रे ?” तुम्हारी आवाज काँप रही थी । “नाराजगी ?” मैं हँस पड़ा । “किसने ऊपर ?” हाताकि तुम्हारे प्रश्न में ठीक ठाक सत्तर्पण का मैं समझ रहा था ।

‘नाराज होने का कुछ नहीं है माँ,’ मैंने दोबारा कहा । उस दिन तुमने जो कुछ कह नहीं सका, उस आज कह रहा है । सुनो । बहुतेरी अनुभव और भगतात प्रत्याख्यान पाने के बाद आज इस बात को जान पाया है कि नाराजगी रहने पर कुछ लिखा भी नहीं जा सकता है । क्रोध, लाल स्थाही है । बहुत तीखा, आखें चिरचिराने लगती हैं । इन स्थाही से सिर्फ निशान लगाए जा सकते हैं । कितने लोगो पर कितने तरह का गुस्ता लिए इस रचना को शुरू किया था । पर धीरे धीरे सारा उत्साह, सारी उष्मा सब जुटाती जा रही है । यह तो तुम देख ही रही हो । लिखन का साथ तेवर ही बदल गया है माँ । मैं शेष रचना को अपने प्रेम से भर देना चाहता हूँ ।

‘वह पत्रिका कहाँ है ?’ अचानक तुमने फिसफिसाहट में पूछा था ।

“यह रही ।” पत्रिका उस समय मेरी जेब में ही थी ।

“ये, मुझे दे ।”

कारण समझाते हुए उत्पुल्ल स्वर में पूछा, “बाबा को दिखाओगी ?”

होठा पर उँगली घरते हुए तुमने कहा, “अरे ! छोरे ! वे मुन लेंगे ।”

“बाबा को नहीं दिखाओगी ? क्यों ? तो-तो क्या मैं खुद लिखाऊँ ? जाऊँ लिखा आऊँ ?”

तुमने आदिस्ता से कहा, “नहीं । छिपा कर रखना होगा ।”

“छिपा कर ! क्यों मा ?”

“तू कुछ नहीं समझता है । उनकी तबीयत ठीक नहीं रहती है । इस समय उन्हें किसी तरह का आघात देना ठीक नहीं । उसे छिपा कर रखना होगा ।”

ठीक उसी समय, ‘क्या छिपा कर रखना होगा ? क्या-क्या ?’ कहते हैं न जहाँ का डर होता है, वही शाम हो जाती है । बाबा का स्वर सुन पा रहा हूँ । बहुत दिनों बाद हम दोनों का स्वर एक साथ सुन कोतूहली बाबा, अपने टीन की डिव्बियो का खेल जगत छोड़कर, जड़ी-बूटी की दुनिया से निवृत्त कर किसी तरह उठकर हम लोगो के पास आ गए हैं । माँ, देख नहीं पा रही हो ? सुन नहीं रही हो ? बाबा बार-बार पूछ रहे हैं, ‘क्या छुपाना है ? क्या है ? क्या है ?’

तुमने बताया नहीं । बता नहीं रहो हो । न बताते देख मैं खुद ही जल्दी से बोल पड़ा । “बाबा ! यह देखो न ।”

पन्ना उनकी आँखों के सामने कर दिया । तुम थोड़ा हटकर खड़ी हो गयी । बाबा, शुरू में पढ़ नहीं पा रहे थे । फलुए की जेब से अपना धागा बघा चरमा निकाल लिया । उसके बाद ही माँ उनके चेहरे पर विस्फारण घटा । जैसा शाम का तुम्हारे साथ घटा था । असीकित आलोक से एक चेहरा प्लावित होने लगा । मोटे होठ धर-पर काँप रहे हैं । कनपटी के पास की नसें नीसी और स्फीत । बुदबुदाते हुए वे पढ़ रहे हैं । उसके बाद ही “तू-तू-तूने सिखा है,” कहकर सोत्सास चीत्कार करते हुए । हाँ माँ तुमने तो सुना ही होगा । किसी बारूद की तरह एकदम से फटत हुए कागज को मचोड़ कर उसका गोला बनाकर, उसे शूय में फेंक दिया ।

तुम्हारी आँखों में उस समय तिरस्कार भाव था । जिसका मौन अर्थ था, ‘क्यों भला देने गया ? क्या हुआ दखा न ? मैंने पहले ही नहीं कहा था ?’

थोड़ा ठहरो माँ । बाद में क्या घटने जा रहा है, देखो । वह देखो, बाबा ने झुककर मसले हुए गोले को उठा लिया है । पन्ना का हल्क-हल्के हाथा से केना रहे हैं । सिर झुकाए पूरे लिखे हुए को पढ़ रहे हैं । अब वे शांत हैं । घाड़ी भी उत्तेजना जनम नहीं रह गयी है । अब वे पूरी तरह निस्तेज हैं । उनके समस्त मुख मडल पर सिर्फ सवृत आनन्द की महिमा कैली हुई है ।

“मृत नशत्र । मृत नशत्र ।” पढ़ना धरम होने पर व मेरी आर देखत हुए कहत हैं । “भापा बहुत सुन्दर है, पर तू यह सब समझता है ? पर मान ले, एक दो नशत्र ही नहीं, ईश्वर ही अमर स्वयं मृत हो ? वह कहानी पढ़ा है ? अघकार में गाड़ी ठीक ही चल रही है । तीव्र वेग से । पर झाड़वर बच्चाघात में निहित हो चुका है । वह अदृश्य रूप से भरकर पड़ा हुआ है । फिर भी गाड़ी दौड़ रही है । इस विश्व का मामला भी वैसा ही कुछ हो सकता है । नहीं हो सकता ? एकदम सर्वनाश । बताओ तो ! ईश्वर मृत है या फिर मृत न होने पर भी पागल, या फिर अर्वाचान है । किसी के जिम्मे, भार सौंपकर अवसर लिए बैठा है । कभी सोचकर देखा है ?”

“मुझे ममझ मे आने पर लिखता ही क्यों ? समझ नहीं पाया, इसी से तो लिखा है।”

उसने फिर कहा, “मुझे डर लग रहा है।”

“डर मुझे भी लगता है।” मैंने उसे थाम लिया। एक पाँव गलत बढ़ाने और थाड़ी सी चूक हान पर दरवाजे से उसका सिर टकग जाता।

\*

\*

\*

उस दिन रात को तुम भी वितनी बड़ी गलती करने जा रही थी, बताओ ता ?

एक अरसे बाद तुमने अपने हाथ से परास कर मुझे खिताया। बाँसी ऊपर चला गया। तुम तुरंत सीढ़ी के सामने आकर खड़ी हो गयी।

“आ, इधर आ न जरा। दो चार बातें करें। नहीं करेगा क्या ?” इसका मा ! तुम्हारे स्वर मे अभिमान और अनिश्चयता का ल्हापन क्या है ? उस तरह वितनी भर स्वर मे क्या बात कर रहा हो ? मुझे तो तुम खीच कर भी ले जा सकती थी ?

मेरे माये पर तुमने एक हाथ रखा। बहुत सतपण के साथ और बहुत दिनों बाद। उस स्पर्श मे भी शायद निश्चयता नहीं थी। अधिकार का अहंकार ? वह तो बिल्कुल ही नहीं। “अब तो नाराज नहीं है न रे ?” तुम्हारी आवाज काँप रही थी। “नाराजगी ?” मैं हस पड़ा। “किसके ऊपर ?” हालांकि तुम्हारे प्रश्न के ठीक ठीक तात्पर्य को मैं समझ रहा था।

‘नाराज होने का कुछ नहीं है माँ,’ मैंने दोबारा कहा। उस दिन तुमसे जा कुछ कह नहीं सका, उस आज कह रहा हूँ। सुनो। बहुतरी अनुभव और लगातार प्रत्याख्यान पाने के बाद आज इस बात को जान पाया हूँ कि नाराजगी रहन पर कुछ मिया भी नहीं जा सकती है। क्रोध, साम स्याही है। बहुत सीखा, और फिर फिराने लगती है। इस स्याही स सिर्फ निशान लगाए जा सकते हैं। कितने लोगों पर कितने तरह का गुस्सा लिए इस रचना को शुरू किया था। पर धीरे धीरे मारा उताप, सारी उप्पा सब जुहाती जा रही है। यह तो तुम देख ही रही हो। लिघने का सारा सेवर ही बल गया है माँ ! मैं शेष रचना को अपने जेब स भर दना चाहता हूँ।

‘वह पत्रिका कहाँ है ?’ अचानक तुमन किसपिछाइट मे पूछा था।

यह रही। पत्रिका उस समय मरी जेब मे ही थी।

“द, मुझ दे।”

कारण ममझाते हुए उत्फुल्ल स्वर मे पूछा, “बाबा को होंटा पर चंगली धरत हुए तुमन कहा, ‘अरे ! धीरे !’

“बाबा को नहीं दियाओगी ? क्यों ? तो-तो क्या मैं

दिया आज ?”

तुमने आहिस्ता से कहा, “नहीं। छिपा कर रखना

“छिपा कर । क्यों माँ ?”

“तू कुछ नहीं समझता है । उनकी तबीयत ठीक नहीं रहती है । इस समय उन्हें किसी तरह का आघात देना ठीक नहीं । उसे छिपा कर रखना होगा ।”

ठीक उसी समय, ‘क्या छिपा कर रखना होगा ? क्या-क्या ?’ कहते हैं न जहाँ का डर होता है, वही शाम हो जाती है । बाबा का स्वर सुन पा रहा हूँ । बहुत दिना बाद हम दोनों का स्वर एक साथ सुन कीतूहसी बाबा, अपने टीन की डिव्बियो का खेल जगत छोड़कर, जड़ी बूटी की दुनिया से निकल कर किसी तरह उठकर हम लोगों के पास आ गए हैं । माँ, देख नहीं पा रही हो ? सुन नहीं रही हो ? बाबा बार-बार पूछ रहे हैं, “क्या छुपाना है ? क्या है ? क्या है ?”

तुमने बताया नहीं । बता नहीं रही हो । न बताते देख मैं खुद ही जल्दी से बोल पड़ा । “बाबा ! यह देखो न ।”

पता उनकी आँखों के सामने कर दिया । तुम थोड़ा हटकर खड़ी हो गयी । बाबा, शुरू में पढ़ नहीं पा रहे थे । फतुए की जेब से अपना घागा बैधा चरमा निकाल लिया । उसके बाद ही माँ उनके चेहरे पर विस्फोरण घटा । जैसा शाम का तुम्हारे साथ घटा था । अलौकिक आलोक से एक चेहरा प्लावित होन लगा । मोटे होठ धर-धर काँप रहे हैं । कमपटी के पास की नसे नीसी और स्फीत । बुदबुदाते हुए वे पढ़ रहे हैं । उसके बाद ही ‘तू-तू-तूने लिखा है,’ कहकर सोल्सास चीत्कार करते हुए । हा मा तुमने तो सुना ही होगा । किसी बाल्य की तरह एकदम से फटते हुए कागज को मचोड़ कर उसका गोला बनाकर, उसे शूय में फेक दिया ।

तुम्हारी आँखा में उस समय तिरस्कार भाव था । जिसका मीन अर्थ था, ‘क्यों भला देने गया ? क्या हुआ दखा न ? मैंने पहले ही नहीं कहा था ?’

थोड़ा ठहरो माँ । बाद में क्या घटने जा रहा है, देखो । वह देखो, बाबा न झुककर मसले हुए गोले को उठा लिया है । पत्ती का हल्के-हल्के हाथों से फेना रहे हैं । सिर झुकाए पूरे लिखे हुए को पढ़ रहे हैं । अब वे शांत हैं । घाड़ी भी उत्तेजना जनम नहीं रह गयी है । अब वे पूरी तरह निस्तेज हैं । उनके समस्त मुख मडल पर सिर्फ सबूत आनन्द की महिमा फैली हुई है ।

“मृत नमस्त । मृत नमस्त ।” पढ़ना खत्म होने पर वे मेरी ओर देखत हुए कहते हैं । ‘भाया बहुत सुंदर है, पर तू यह सब समझता है ? पर मान ले, एक दो की नहीं, ईश्वर ही अगर स्वयं मृत हो ? वह कहानी पढ़ा है ? अधिकार में गाड़ी रही है । तीव्र वेग से । पर द्वाइवर वज्राघात में निहित हो चुका है । से भरकर पड़ा हुआ है । फिर भी गाड़ी दौड़ रही है । इस बिस्व हो सकता है । नहीं हो सकता ? एकदम सर्वनाश । फिर मृत न होने पर भी पागल, या फिर अर्वाचोन अवसर लिए बैठा है । कभी सोचकर देखा है ?”



“मुझे समझ मे जाने पर लिखता हूँ क्यों ? ममज्ञ नहीं पाया, इसी से तो लिखा हूँ ।”

उसने फिर कहा, “मुझे डर लग रहा है ।”

“डर मुझे भी लगता है ।” मैंने उसे पाम लिया । एक पाँव गलत बढान और थोड़ी सी चूक होने पर दरवाजे से उसका सिर टकरा जाता ।

\*

\*

\*

उस दिन रात को तुम भी कितनी बड़ी गलती करने जा रही थी, बताओ तो ?

एक अरसे बाद तुमने अपने हाथ से परोम कर मुझे खिताया । बाँसी ऊपर चला गया । तुम तुरन्त सीढ़ी के सामन आकर खड़ी हो गयी ।

“आ, इधर आ न जरा । दो चार बातें बरें । नहीं करेगा क्या ?” इस्तामा । तुम्हारे स्वर मे अभिमान और अनिश्चयता का कटापन क्यों है ? उस तरह बिनती भरे स्वर में क्या बात कर रही हो ? मुझे तो तुम खींच कर भा ले जा सकती थी ?

मेरे माथे पर तुमने एक हाथ रखा । बहुत सतपण ने साथ और बहुत दिनों बाद । उस क्षण मे भी शामद निश्चयता नहीं थी । अधिकार का अहकार ? वह तो बिल्कुल ही नहीं । “अब तो नाराज नहीं है न रे ?” तुम्हारी आवाज काँप रही थी । “नाराजगी ?” मैं हस पड़ा । “किसके ऊपर ?” हालांकि तुम्हारे प्रश्न के ठीक-ठीक तात्पर्य का मैं समर्थ रहा था ।

‘नाराज होने का कुछ नहीं है माँ,’ मैंने दोबारा कहा । उस दिन तुमस जो कुछ कह नहीं सवा, उसे आज कह रहा हूँ । सुनो । बहुतनी अनुभव और सगाठार प्रत्याख्यान पाने के बाद आज इस बात को जान पाया हूँ कि नाराजगी रहने पर कुछ सिखा भी नहीं जा सकता है । क्रोध, सान स्याही है । बहुत सीखा, बाँखें फिरकिताने सगली हैं । इस स्याही से सिफ निशान लगाए जा सकते हैं । बितने सोगो पर कितने तरह का गुम्सा लिए इस रचना को शुरू किया था । पर धीरे धीरे सारा उत्ताप, सारी उष्मा सब जुझाती जा रही है । यह तो तुम देख हो रही हो । लिखने का सारा तेवर ही बदल गया है माँ । मैं शेष रचना को अपन प्रेम से भर देना चाहता हूँ ।

‘वह पत्रिका नहीं है ।’ अचानक तुमने किमफिसाहट मे पूछा था ।

“यह रही ।” पत्रिका उस समय भरी जेब मे ही थी ।

“दे, मुझे दे ।”

कारण समझाते हुए उच्छ्वस स्वर में पूछा, “बाबा को दिखाओगी ?”

होठो पर उँगली घरते हुए तुमने कहा, “अरे । धीरे । वे सुन लेंगे ।”

“बाबा को नहीं दिखाओगी ? क्यों ? तो-तो क्या मैं खुद दिखाऊँ ? आज दिखा आज ?”

तुमने आहिस्ता से कहा, “नहीं । छिपा कर रखना होगा ।”

“छिपा कर ! क्यों माँ ?”

“तू कुछ नहीं समझता है । उनकी तबीयत ठीक नहीं रहती है । इस समय उन्हें किसी तरह का आघात देना ठीक नहीं । उसे छिपा कर रखना होगा ।”

ठीक उसी समय, ‘क्या छिपा कर रखना होगा ? क्या-क्या ?’ बहुत हैं न जहाँ का डर होता है, वही शाम हो जाती है । बाबा का स्वर सुन पा रहा हूँ । बहुत दिनों बाद हम दोनों का स्वर एक साथ सुन कोतूहली बाबा, अपने टोन की डिब्बियाँ का चेस जगत छोड़कर, जड़ी-बूटी की दुनिया से निकल कर किसी तरह उठकर हम सोफे के पास आ गए हैं । माँ, देख नहीं पा रही हो ? सुन नहीं रही हो ? बाबा बार-बार पूछ रहे हैं, “क्या छुपाना है ? क्या है ? क्या है ?”

तुमने बताया नहीं । बता नहीं रही हो । न बताते देख मैं खुद ही जल्दी से बोल पड़ा । “बाबा ! यह देखो न !”

पन्ना उनकी आँखों के सामने कर दिया । तुम थोड़ा हटकर खड़ी हो गयी । बाबा, शुरू में पढ़ नहीं पा रहे थे । पत्तुए की जेब से अपना घागा बँधा चश्मा निकाल लिया । उससे बाद ही माँ उनके चेहर पर विस्फोरण पड़ा । जैसा शाम का तुम्हारे साथ घटा था । असौख्य आलोक से एक चेहरा प्लावित होने लगा । मोटे होठ धर-धर काँप रहे हैं । कनपटी के पास की नसें नीली और स्फीत । बुदबुदाते हुए वे पढ़ रहे हैं । उसके बाद ही ‘तू-तू तूने सिखा है,’ कहकर सोत्सास चीत्कार करते हुए । हाँ माँ तुमने तो सुना ही होगा । किसी बारूद की तरह एकदम स फटते हुए कागज को मचाड़ कर उसका गोसा बनाकर, उसे शूय में फेंक दिया ।

तुम्हारी आँखा में उस समय तिरस्कार भाव था । जिसका मौन अर्थ था, ‘क्यों मला देने गया ? क्या हुआ देखा न ? मैंने पहले ही नहीं कहा था ?’

थोड़ा ठहरो माँ । बाद में क्या घटने जा रहा है, दखो । वह देखो, बाबा ने झुककर मसले हुए गोले को उठा लिया है । पत्तों की हल्के-हल्के हाथों से फैला रहे हैं । सिर झुकाए पूरे त्रिखे हुए को पढ़ रहे हैं । अब ब शा ठ है । थोड़ी भी उत्तेजना उनमें नहीं रह गयी है । अब वे पूरी तरह निस्तब्ध हैं । उनके समस्त मुख मङ्गल पर सिर्फ सद्युत आनन्द की महिमा फैली हुई है ।

“मृत नक्षत्र । मृत नक्षत्र ।” पढ़ना खत्म होने पर वे भेरी आर देखते हुए कहते हैं । ‘भापा बहुत सुन्दर है, पर तू यह सब समझता है ? पर मान ले, एक दो नक्षत्र ही नहीं, ईश्वर ही अगर स्वयं मृत हो ? वह कहानी पढ़ा है ? अधकार म गाड़ी ठीक ही चल रही है । तीव्र वेग से । पर ट्राइबर बच्चाघात में निहित हो चुका है । वह अदृश्य रूप से भरकर पड़ा हुआ है । फिर भी गाड़ी दोड़ रही है । इस विश्व का मामला भी वैसा ही कुछ हो सकता है । नहीं हो सकता ? एकदम सर्वनाश । बताओ तो ! ईश्वर मृत है या फिर मृत न होने पर भी पागल, या फिर अर्वाचोन है । किसी के जिम्मे, भार सौंपकर अवसर लिए बैठा है । कभी सोचकर देखा है ?”

मैंने सिर्फ गर्दन हिनायी। “पर तुम इसे छिपाना क्यों चाह रहे थे, बंताओ तो ?”

तुमने उत्तर नहीं दिया था।

इस बार उदास। बाबा धीरे-धीरे बात रहे हैं, “समझ गया। तुमने सोचा होगा मुझे दुख पहुँचेगा।

तुम जल्दी से बात पट्टी थी, “तुम्हारी ऐसी तबीयत।”

बाबा और अधिः आहिस्ता-आहिस्ता बात रहे हैं, “तबीयत की बात नहीं थी। सध सध बंताओ तुमने सोचा होगा, मेरे मन में खोट पहुँचेगी। है कि नहीं ?”

खूबि तुम चुप थी, इसलिए अपने ही वाक्या का बाबा घागे की तरह फिर से उठा लिया। ‘जीवन भर मैंने कितना सिखा, पर ज़ांमे से एक भी छप नहीं गया। किसी ने पढ़ा नहीं, पर मेरा घेता ? कमम पकड़त न पकड़ते ही ससवी रचना छप गयी। लोगो को पसंद आयी। तुमने सोचा, मुझे खोट भरेगी ? क्या है न ?”

घोडा ठहर कर बाजा और मो गाढ़ पर स्वच्छ स्वर में बोलते जा रहे हैं, “छि आनू, छि। मुझे तुमने बहुत छोटा समझ लिया। तुम चुप मत हो, पर पितृत्व का नहीं समझाओ हो। बेटे का सय जाने, पहचान, इसका आनन्द अपनी रचना के प्रकाशन से एक गिन भा कम नहीं है, बल्कि अधिः है। कम से कम इस उम्र में मैं महसूस कर पा रहा हूँ। यह गौरव कहीं अधिः है। छि जानबूझ कर किसी को छोटा नहीं करना चाहिए।”

बाबा मेरे पास आ गए। उन्होंने मेरे माथे पर हाथ फेर। वह दर्शक अकम्पित स्थिर है। पर जाने जा रहे हैं, ‘मुझे अब कोई बिता नहीं दे। अब मैं भर सकंगा, क्योंकि अब तो जान गया हूँ मैं जीवित रहूँगा। जान गया, जाऊँगा नहीं, जाऊँगा भी तो रह जाऊँगा।”

आशीर्वाद—मुझे ? आश्वासन मुझे ? आँख बंद करने पर आज भी कानों में कुछ ध्वनित होन सगता है।

\*

\*

\*

ठीक उनके दूसरे दिन सुबह के समय, मेरा दूसरी बार चौकान—“माँ ! तुम भाग कर आयी थी। चौखट पर हम दोनों आसपास। कमर के अंदर, चारों ओर टीन के छाली डिब्बे और जड़ी-बूटियाँ। उनका हो बनाया हुआ सपनों का ससार। कैसे हुए उ ही संग्रहा के बीच—

लेटे हुए बाबा सा रहे हैं।

एकदम शिशु की तरह, एक मरल सुख में परम तृप्ति के साथ तो रह हैं। सुबह की धूप न जाने कितनी तरह से उनके शरीर पर से खेलते हुए उठे उठा मन की कोशिश करती है। कुछ उत्सुक चिठी, धूम-धूम कर उनका चेहरा देख रही थी। वे निस्पन्द थे। बगल में रखे, जड़ी-बूटियों के पत्तों से एक निरीह कीट उनकी माँहो से

रेंगता हुआ, उनकी छाती पर रेंगने लगा था। पर वे सहिष्णु, हिंसे नहीं, क्योंकि वे किसी प्राप्ति में परितृप्त अविचल जल तल में मग्न, शांत थे। चिरायत वे निद्रित हो चुके थे।

मा, इस बार चीत्कार कर उठने की बारी तुम्हारी थी। अचानक किसी व्याकुल सहर की तरह तूम कमरे में बिखर कर चूर-चूर हो गयी।

मानो कुछ देर पहले ही मंदिर में किसी के लिए प्रार्थना की गयी। उपासना समाप्त हो चुकी है, फिर भी हम सब स्तब्ध बैठे हुए हैं। नीरवता को ही वाङ्मय होने दिया जाए। शब्द तो बेचल जन में पतवार की तरह आघात करता रहता है। नीरवता, प्रसारित शुभ्र पतवार की तरह खींच कर ले जाती है। वही सही। वह रहे सुधीर मामा। आए हैं आना निश्चित था। पर चुप हैं। चुप इस मकान के दास-दासी भी हैं, जो हम लोग से घृणा करते हैं। पर इस क्षण नहीं कर रहे हैं। तूम दोपहर को अपनी मासी माँ के कमरे में कोई काम करने आ रही थी, उन लोगो ने तुम्हें रोक दिया। वे लोग आज तुम्हारा सारा काम कर देंगे। मृत्यु की एक घटना इस तरह सबको बदलता है। बहुतो को स्पष्ट करती है, शायद कुछ समय के लिए ही, फिर भी ईर्ष्यातुर मनुष्य को किंचित महत्व भाव कोई मृत्यु ही दे सकती है। देखो, वह जो अविनाश है, वह भी केसा उदास-सा भूय में देखता हुआ बैठा है बीड़ी फूंकना बंद है। पता है, महत्व के प्रकोष्ठ से वे लोग जल्दी ही निकल आएंगे, फिर से जल के तल बन जाएंगे। फिर भी इस समय जो सब है, उसे छुठनाया नहीं जा सकता।

सुधीर मामा मुह झुकाए बैठे हुए हैं। आते ही तुम्हारी ओर सिर्फ एक बार ही देखा था, उसके बाद फिर नहीं। फर्श पर लकीर खींचे जा रहे हैं, शायद अपनी स्मृति में पर्यटन कर रहे हैं। किसी अपराध बोध से क्या आक्रांत हो रहे हैं? 'सिर्फ छीन लेना, अथवा चोरी करना ही पाप नहीं है, मन ही मन में उसकी कामना करना भी पाप है।' इस कथन को मन ही मन में बार-बार उच्चारित कर रहे हैं। श्राद्ध का मंत्र उनके लिए सिर्फ यही एक ही है?

पर मैं? मैं कौन-सा मंत्र पढ़ूंगा? श्मशान-वनस में दग्ध, बाधवों द्वारा परिरक्षित था, जिस स्नान-पान से सुखी रहूँगा?

बलि रहने दे। कुछ देर मौन ही रहूँ। न जाने कब से इस रचता की नाव पर बह चला हूँ। घाट दर घाट छू आया। अब कला त हो गया हूँ माँ। इस अग्र्याय का अब तो सिर्फ एक ही घाट बाकी रह गया है। वहाँ भी जाऊँगा, जब उतरा ही हूँ तो वहाँ भी जाऊँगा ही। वस भर जल में खड़े होकर शेष अजली अर्पित करूँगा। जिसे होगा या अशत अभियोगपत्र, वह हो गया सम्पूर्ण प्रायश्चित्त। चौर।



माँ, सभी-अभी रेडियो में घोषणा हुई, "समाचार समाप्त हुआ ।" लिखता रोककर रेडियो खोला था, पर तुरंत ही बंद करना पड़ा, क्योंकि उस घोषणा को सुनते ही मुझे चौंक जाना पड़ा था । "एट दैट इज द एंड ऑफ़ दी यूज"—वे लोग कितनी सहजता से बोल देते हैं, मुझसे बोला नहीं जाता है, क्योंकि मुझे पता है, सगाव, सगाव का शेष उपसहार । क्या मृत्यु में समाप्त होता है ?

"जब भी अकेले होता है, तुम्हें पता है ।" इस पंक्ति को न जाने कितने दिन बाद लिखा ? याद नहीं । लिखता रहा, काटता रहा । फिर छुपचाप बैठा रहा ।

न जाने किस समय रजनी नये पाँव आ गयी थी । पता नहीं चला । झुक कर न जाने किस समय धीरे धीरे पढ़ने लगी । मैं चौंक उठा ।

"तुम्हारी नयी रचना है ?" उसने पूछा । इसका उत्तर देना निरर्थक था । नया रचना ? क्या पता ?

'सभी तुम हात हो,' उसने अस्फुट स्वर में पूछा, "तुम कौन है ?"

तुरंत बोल बैठा, "तुम ।"

"मैं ?" मुझ-सी चुपचाप भरी हंसी उसके चेहरे पर फैल गयी ।

माँ, मैंने उससे झूठ कहा था । यह 'तुम' वह नहीं थीं । कोई नहीं था, बहुत से लोग थे । "तुम" एक उगुक्त शब्द है । अलग-अलग समय में अलग-अलग तुम ।

"क्या सोच रहे हो," मेरे सिर पर हाथ रखत हुए रजनी ने पूछा । मुझे छुप रहते देख, उसने खुद ही कहा, "मुझे पता है, क्या सोच रहे हो ? असोमोशाय के बारे में । है न !"

चौंक उठा । जब भी अकेले होता है—उसमें बाबा भी क्या एक जन "तुम" है ? जिसे सभी प्रत्याख्यान किया था ? कम से कम प्रसन मन से ग्रहण तो नहीं ही कर पाया था । किस तरह प्रायश्चित्त होगा बताओ ? बताओ ? इन कई महीनों की हर बेचैन रातों को उन्हें मुलावर, पूछता रहता है । बाबा कुछ कहते नहीं हैं, सिर्फ हँसते हैं, किसी विदेशी नाटक के नायक की तरह ।

"छि इतना नहीं सोचते ।" रजनी ने बरुणा की प्रतिमा बनाते हुए कहा ।

“तुम नहीं समझोगी।” मैंने कहा।

“समझूंगी नहीं?” अचानक वह प्रदीप्त हो उठी। “शोक मुझे नहीं मिला है? मेरे भी माँ और बाबा दोनों ही खेर जाने दो उन बातों को। पता है बचपन में एक पतंगा पाला था मैंने? बगीचे से बाबा ने ला दिया था। एक बारीक घागे से कलमदान से बाँध कर उसे बाबा के लिखने की मेज पर रख दिया था। वह उड़ने की बहुत कोशिश करता, उड़ नहीं पाता। बाबा और मैं बैठे तमाशा देखते। पर एक बार बाबा बाहर गये। रात को बहुत तज हवा उठी। सुबह वह पतंगा गायब मिला। सोचा हवा ने उड़ा दिया होगा। बहुत रोई। पर बाद में लगा, टूटा हुआ घागा रहना चाहिए। वह कहाँ है? शक हुआ। माँ को बताया। माँ ने स्वीकार किया, “हा मैंने ही उड़ा दिया है, किन्ना बीच बिचार है? पतंगे को कष्ट मिल रहा था। सूखता जा रहा था, इसलिए।” मैं खूब रोई। एक बहुत बड़े कागज पर बाबा को पत्र लिखा, जिस पतंगे का तुम मेरे मिये लाये थे, पना है बाबा, वह अब नहीं है, माँ ने उसे उड़ा दिया है। कैसा पत्र रहा?”

“बहुत सुंदर, सरल।” मैंने कहा।

“इससे अधिक मन की बात मैं प्रकाशित नहीं कर पाती हूँ। रजनी कहती रही, “तुम बहुत सहजता से अपने मन की बातों को लिख लेते हो।”

“कोशिश करता हूँ।”

“पतंगा उड़ गया है। माँ ने उड़ा दिया है, अपने दुख को प्रकट करने के लिये इससे अधिक और कुछ नहीं लिख सकी तुम साग कितनी बड़ी-बड़ी बातें जानते हो।”

“उन सबकी ज़रूरत नहीं पड़ती है। थोड़ी-सी बातों में बड़े दुख का भी समझाया जा सकता है। जैसा संगीत में होता है।”

वह चौंक उठी। “संगीत में होता है? अच्छा मान लो, जिसे संगीत से प्रेरित हो, वह अगर अचानक सुनना बंद कर दे।”

“दृष्टान्त है,” मैंने कहा। “पुस्तक में पढ़ा है। एक विदेशी संगीतकार खुद ही ”

वह हँस पड़ी “दृष्टान्त तुम्हारे सामने ही है। कान नहीं, मेरी आँखें जा रही हैं। पता है, बचपन में ही सब कुछ देखना मुझे इतना पसंद था। बाग में, गंगा के किनारे या फिर झील पर बैठकर देखते हुए समय बिता देती थी। कितने रंग बनाना और मिटाना। कुल सात रंगों के बारे में कहा गया है न? पर अंग्रेजी किताबों में मैंने और भी कई रंगों के बारे में पढ़ा है। तस्वीरों का एल्बम भी मेरे पास था। पर अब उन तस्वीरों को अच्छी तरह देख नहीं पाती हूँ। उन किताबों का बीच-बीच में अपने नज़दीक लाकर उनकी महक लिया करती हूँ।”

बालत हुए वह काँप रही थी। “और आवाज़? बहुत दूर चला जा रहा है। अच्छा, हम लोगों की आँखें ठाक जाइया की तरह होती हैं न? दूर-दूर तक उड़

जाती है। कितने रग, कितने दृश्य उठा साती है? याने साती थी। मेरी दोनों आँखें धागे में बंधे पतंग की तरह कैसी होती जा रही हैं। न उड़ पा रही है, न कुछ अपने हाँठ से उठाकर ला पा रही है।" थोड़ा ठहर कर, रजनी कहती है "वह पतंगा फिर लौटा नहीं।"

मैंने उससे कहा, "आता तो है, थोड़ी देर पहले ही तो आया है, वह भी आता है, तुम्हें पता नहीं?"

दिल रखने वाली इन बातों से उसे तसल्ली हुई कि नहीं पता नहीं, क्योंकि उस समय भी वह सिर हिलाये जा रही थी। वह रही थी, "दोनों आँखें बले जाने से जानते हो किस बात का सबसे अधिक दुख होगा? तुम्हें भी देख नहीं पाऊँगी।" बहुत सरल स्वर में वह बोस रही थी, "हालाँकि रोज तुम्हें देखने की इच्छा होती है, उस समय भी होगी।"

("तुम्हें रोज देखने की इच्छा होती है", जब किसने कहा था? आज तुम्हारे सामने जो पुमानवदी दे रहा है उसमें यह वाक्य कहाँ से घुस पड़ा? "रोज देखने की इच्छा होती है"—यह श्रुत वाक्य बार-बार कानों में गूँज रहा है। मैं भी चित्लाकर कहना चाहता हूँ, "आज मेरी भी इच्छा होती है।" पर इच्छा, इच्छा ही है। कोई नहीं लौटेगा। जो जाते हैं, वे लौटते नहीं हैं, पर इतनी आसक्ति सीने में दबाए मैं भी किस तरह मुक्त हो सकूँगा?)

माँ! बिड़की दरवाजे सब खोल दो। हा हा स्वर में मेरा अतीव उड़ता हुआ आए। मुझे उठाकर किसी गैस शिखर पर बैठा दे। रजनी को जिस बात का डर था, वही डर मुझे भी है। आँखों के सामने से सारे रंग रूप मिटते जा रहे हैं। मैं क्या अधा हो जाऊँगा? अथवा पशु, पक्षापातग्रस्त? इसी बात का डर मन में समाया हुआ है।)

\*

\*

\*

"तुम क्या अभी भी नीचे के कमरे में अकेली ही सोती हो आनू?" सुधीर मामा ने कहा था, "अबसे मत रहा करो। खासकर रात को। न हो तो किसी को बुला लो।"

"मुझे किसी की जरूरत नहीं है।" मेरी ओर कनखी से देखत हुए तुमने कहा था।

"नहीं, मेरा मतलब है अगर डर-वर सगे " सुधीर मामा की बात खत्म होने के पहले ही तुम बोस पड़ी हो "नहीं सुधीर दा, किसी तरह का डर-वर मुझे नहीं सगता है, मुझे जो सोग छोड़ गए हैं, वे दोबारा मरे पास नहीं आएँगे।" सज्जित स्वर में सुधीर मामा ने कहा था "नहीं। मैंने प्रणव बाबू की बात सोचकर नहीं कहा था। वे पुण्यात्मा व्यक्ति थे। मुक्त हो गये हैं। सच अंतिम दिनो में उनमें अद्भुत परिवर्तन आया था। मैं तो अवाक हो गया था।"

“तुमने परिवर्तन नहीं आया है ?”

“कहाँ हुआ परिवर्तन ? सिर्फ रगड़ ही रहा है, पर हल्का नहीं हो सका ।”

“बहुत रात हो गयी है, अब घर जाओ सुधीर दा । पास में ही कहीं तुम्हारा टेरा है न ?”

“हाँ, वही एव डेरे जैसा ही ।”

“एक दिन जाकर देख आऊंगी ।”

“आजाओ ? तुम जाओगी ? सच्च आनू ! वहने का साहस नहीं होता है । जाने पर पता चलता, अभी भी जितने भयंकर रूप से जकड़ा हुआ है ।”

“रहने दो देख कर क्या पड़ेंगे । सुधीर दा ! बादल फिर रहे हैं, शायद बारिश हो ।”

(बात को तुमने दूसरी ओर मोड़ दिया ?)

“हाँ अब जाऊँ ।” सुधीर मामा ने कहा । पर उसी समय उठे नहीं ।

वे आ रहे थे । आना शुरू कर दिया था । बाबा की मृत्यु के बाद से ही । वही स्वामाविक भी था । गाँव के रिश्ते छे तुम्हारी मासी माँ से भी उनका थोड़ा-बहुत परिचय था ।

आ रहे थे, क्योंकि इसी समय अपने प्रियजनों के पास आते रहने का दस्तूर है । हालाँकि ज्यादातर छुपचाप बैठकर ही समय निकलता है । बीच-बीच में थोड़ी-बहुत बातें तुम दोनों के बीच होतीं । बीमारी, गठिया, दमा की बातें ।

मुझे सुनने में बड़ा मजा आता । बीच के कुछ वर्ष तुमसे कोई भेंट नहीं । इतने दिन बाद अब बातचीत की शुरुआत । बीमारी और डाक्टर, सालसा मालिश । घूम फिर कर वही सब बातें माना बाकी बातें बुक गयी हैं । सुनकर मुझे अवाक लगता । पर अब समझ में आ गया है । शेष उम्र में, पुराने जीवन में लौट जाना । चर्बी चवाने जैसा । बीमारी ही एकमात्र सूत्र रह जाती है । जुड़ी हुई स्मृतियाँ । बीमारी पर बातचीत करने का अपना एक असंग्रह सुख ।

“ऐसा भी हो सकता है सुधीर दा कि मैं धीरे-धीरे जिस तरह शक्तिहीन होती जा रही हूँ, तुम आए पर मैं निकल नहीं सकी । तुम्हें बराबरे से ही लौट जाना पड़ा । मैं जान भी नहीं पाऊँगी कि तुम आए थे । नहीं, नहीं जान पाऊँगी-पाऊँगी । तुम्हारी लाठी की ठक्ठक आवाज ! उसी से जान पाऊँगी ।”

“ऐसा भी तो हो सकता है आनू कि मैं ही एक दिन नहीं आ सका । शरीर इतना टूट जाए कि फिर कभी आना हो ही न सके । हो सकता है मैं ही न रहूँ । मैं नहीं हूँ, तुम जान ही न पाओ ।”

तुमने प्रतिवाद नहीं किया । दीर्घ श्वास छावते हुए धीरे-धीरे कहा, “हो सक्ता है, सब कुछ हो सकता है । अच्छा सुधीर दा, तुम अब उस स्टेशन पर



जाकर नहीं बैठत हो, जहाँ से तरह-तरह की गाड़ियाँ विभिन्न दिशाओं को चली जाती हैं ?”

“जाता हूँ आतू । कभी-कभी । वही से तो तुम लोगों के पास चला जाता है ।”

“मुझे भी एक बार दिखाना । बहुत मन करता है देखने का ।”

“ठीक है । थोड़ा बहुत बाहर निकलना ही चाहिये । उससे तुम्हारा मन भा शांत रहेगा ।”

\*

\*

\*

“यह क्या कर रहा है ?” ऊपर से मुझे तस्विया-चादर लेकर नीचे उतरते देख तुमने कहा ।

‘आज से मैं तुम्हारे साथ ही सोया करूँगा माँ ।’

दा बिस्तर पास-पाम । दोनों जने ही एक दूसरे की साँस सुन पा रहे हैं । थोड़ी देर बाद तुम कहती हो, “सुखी दा जो कुछ कह रहे थे, सुन लिया था क्या ? तू भी पगला है । देख, डरने की कोई बात नहीं है । वह नहीं आएंगे । और अगर आएँ भी तो सिर्फ तुम्हारे लिए आएंगे । भेर लिए नहीं ।”

“तुम्हें वह बहुत चाहते थे ।” तुम धीरे-धीरे बोले जा रही थी । “तू बड़ा बनेगा, इस विश्वास के साथ ही वे गए हैं, उनके विश्वास को तू नष्ट मत करना । आदमी बनोये इस बान की प्रतिष्ठा करो । मेरे भी बहुत दिन नहीं बच गए हैं मैं भी जानूँगी । तुम्हें जो कुछ बह रही हूँ तुम्हारे भले के लिए ही कह रही हूँ ।”

उसी समय दूर वही जोर-जोर घटा बजने लगा । बाद में वह घटा ध्वनि किसी समय थम गयी थी, क्योंकि कुछ भी बराबर बजती नहीं रहती है । मुझे आज भी पता नहीं चल सका कि किसी-किसी शीतल प्रहार में कहीं दूर पर, आज भी घटी क्या बजने लगाती है और बजती भी है तो अचानक थम क्यों जाती है ?

जानूँगा क्या ? कितना जान सकता हूँ ? जानने से न जानना अधिक बड़ा है । अधिक परिध्याप्त । मैं सब कुछ जान लेने की कोशिश में तुम्हें रोते देखा है । सब कुछ जानने की कोशिश में मैं भी रोया हूँ । हमारे मन के किसी कोने में हमेशा ही एक अध्रुपूर्ण कलश रहता है, इसलिए जब-सब वह छसक पड़ता है । अपना अपना कलश उँहेन कर तुम सब मुक्त हो चुके हो । मैं अभी तक मुक्त नहीं हो सका हूँ । पीछा और अध्रु से ही यह पूरी रचना निखी गयी है ।

चूँकि वह घटा ध्वनि थम चुकी थी, इसलिए मैं अपराध के डलुवे रास्त पर उतरता जा रहा था । तुम बहुत कुछ अनुमान लगाती । पर मैं तब तक काफी सयाना और चौकला हो चुका था । पकड़ नहीं पाओ थी । सिर्फ इतना भर समझ रही था कि कुछ एक तुम्हारे अगोचर में घट रहा है ।

क्या माँ बुला मे ? जिसके सम्मान में खिचा मैं एक दुध के गढ़े में घसता चला जा रहा था ? रजनी में क्या नहीं था ? उसकी शुद्धता, शुद्धता क्या स्वादहीनता

यो ३ जिस तरह प्यास बुझाने के लिए शीतल जल से बहकर कोई नियामक नहीं होता फिर भी शीतल जल से ही हमेशा हम अपनी प्यास बुझा रहे होते हैं। हमी प्यास बुझाए नहीं जा सकते, फिर भी जानबूझ कर बहकर पीने जैसा काम करना जा रहा था। पर क्या हुआ बहकर भी ? हो फिर इस घर भी पर कुछ कहा है " तुम क्या है " मुझ क्या एकनाम नहीं है, जो मुझ है, जलनी ? " श्री बरनेट हमने " उसी सत्य का ही अभेद है। मुझ अगर न भी हो मने, स्थित होना चाहता है मैं।

\*

\*

\*

अपने एक माय के हाथों लिखेंगे। इसे लिखेंगे, बाद में हमें फिर हमनी लम्बी-चौड़ी कृतिवा बलि जा रहा है। पर बार-बार लिखने जो दुखान में ही वह कुछ बनना जा रहा है। हमने लिखते हुए हृदयविचार हो रही है। एक तरह का सबसे उस समय जो कुछ करने हुए हृदयविचार जो हुई थी, आज लिखते हुए हो रहा है। देना क्यों हो रहा है ? लम्बी-चौड़ी, अब जो क्या भी लिखना से अधिक नृत्य न के बाद से रहना हुआ है ?

फिर भी हृदयवा नहीं है। लिखना ही होगा।

होते-होते कालियां बयानी बला ने कहा, " क्या जाएगी, बीसी जाएगी, साथ में जाएगा कौन ? "

"कहाँ ? "

"बीसी कह रहा था, कम उमरा अन्तर्दिन है। सोच रही है काटिंग प्रोडाम रखा जाए। मान को गग के उस पार। बड़ा मेरे एक दिव का बेल्ला है और बीसी है। इसलिए कह रही थी, क्या जाएगी, बीसी जाएगी। साथ में "

बिना कुछ सोचे-समझे ही फस से बोल बैठ, "बाऊंगा मैं।"

\*

\*

\*

भी सिकोड़ते हुए बूला ने कहा, "तू तू क्यों जाएगा ?" भले ही भी सिकोड़, पर शाम के नीम जमाने में भी उसके छोटी पर फेसी होंगी बिरसागी यह रही थी। छत पर बटाई बिछाकर हम सोय बैठे थे। बीसी अधसेटा हा। उसके भुंवराने साथे वाल बूला की गोद में सगमग फेरे हुए थे। अन्धे अधमूरी सी। शभवत किसी सुखानुभूति से। बूला के दोनों पैर फेरे हुए और पैर के पास बैठ मैं।

मैं ऊपर की ओर देख रहा था। बूला ने भी मैं सिकोड़ते हुए कहा, "तू क्यों जाएगा ?"

कोई उचित उत्तर न बुझ पाने पर बोल बैठा, "बस्ट पावे।" बहुत गसत नहीं कहा था। उन दोनों को इतने घनिष्ट होते देखकर ही पता है वह सगमग कुछ नहीं एव झूठ है, फिर भी मेरे गले के खंडर बटि जैसा कुछ बुझने लगता है, बिशवा नाम हिसा है। और उस समय उस छत पर पाँव पैसाएँ बूला गुले जो कुछ वे रही थी, वह भी मानसिब-शारीरव एव तरह का दुख ही था। यह एव साथ में बीसी ने लम्बे-लम्बे घाम खींच-खींच कर सीधा कर रही थी और साथ ही अपने रंग हुए।

पाँव के नाखून मेरी कलाई में घुभोए जा रही थी। वृन्ना इस तरह के खेल खेलना जानती थी।

\*

\*

\*

रजनी ने ज्यों ही सुना, त्योंही अपनी डबडबायी हुई आँखों को उठाते हुए पूछा, 'मैं नहीं जाऊँगी? मुझे नहीं से जाओगे?' मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं था, पर बानी से कहते ही वह तैयार हो गया। प्यार के विश्वास ने बीसी को बहुत सदा सदा दिया था।

नाथ बेंधे घाट पर, रजनी को देखकर, बूसा भी हँसी, पर उससे उसने मुस्कुराने की कोशिश ही की थी। यद्यपि बूसा के चेहरे पर कोई पगछाई नहीं थी, फिर भी वह गम्भीर हो बनी रही।

उस बंगले में पहुँचने पर मैंने माहोस को हल्का बनाने की कोशिश में कहा, "अगर तुम दोनों को ही मैं दो फूल दूँ, तो तुम लोग क्या करोगे?"

रजनी धीरे-धीरे बोलती है, "मैं बालों में लगाऊँगी और क्या?"

और बूसा बोल पड़ी, "मैं मसल दूँगी," कहकर सचमुच ही उसने एक फूल तोड़कर उसकी सारी पल्लुरियों को मसल डाला। उसके बाद पता नहीं, जहाँ से माली को बुलवा कर, बंगले के खिड़की-आवाजे फटाफट खुलवा लिया।

पर रजनी बदल गयी थी। उस फूलों के बाग में जाकर वह बहुत ही उत्फुल हो गयी थी, चप्पल उतार पहले ही उतार दिया था। नये पाँव घास पर घूमती रही।

'सच! बहुत अच्छा लग रहा है।' उन्नास, बड़ी बड़ी आँखों को उठाते हुए वह बोली। थोड़ी उचकनी हुई एक झुक आए पेड़ के शास से पत्ता लोटा। नार के पास उसे लेकर सूंधते हुए कहा, "आह! क्या खुशरू है!" इतनाता उसके चपमे के मोटे बाँच को भेदती हुई बाहर निकल आ रही थी। "कहाँ! कुछ भी तो घुघना नहीं दीख रहा है। ठीक ही देख पा रही हैं। अपने दग से। गन्ध, स्पश इन सबके द्वारा भी बहुत कुछ पामा जा सकता है।"

"पाया जा सकता है क्या?" बोला रहस्य करता हुआ बोला।

"तुम लोग नहीं समझोगे," कहकर वह फिर महर सेने लगी। ठीक उसी समय पीछे के बराण्डे से वृन्ना ने मुझे बुलाया। पहले इशारे से बाद में हाथ हिलाकर। वह जब हाथ हिलाकर बुलाती है, उसकी ध्येनी बन उठाए किसी छोटे सर्प की तरह हो जाती है।

एक ब्रीनगास उस हाथ के इशारे पर धीरे-धीरे आगे बढ़ गया।

"क्या लाया है? क्यों लाया है उसे?" बूसा ने कहा। साँप के पास भापा रहने पर जिस स्वर में बात करता, उसी स्वर में। "वह क्या तेरी रक्षा कवच है? तेरी रक्षा करेगी?"

मुझे बात न करत देख, सोचा नायद मैं बात नहीं करूँगा। यह मुझ तक-शास्ती रही, "तुझे उसमें एसा क्या मिस गया? वह मोरा है इसलिए?"

तब मैं भी धीरे-से पूछा, "और तुम ? तुम्हें ही बूला उम लडके मे क्या मिला ? उस गूलर मे है क्या ?"

तालू मे जीभ से टबार छ्वनि निकालते हुए बूला ने कहा, "टाका ।" कहकर ही उसने किसी निपटुर विरात रमणी की तरह हिंस होती हुई मरे गाल पर टकोर मारा । "तेरे पास ओ बीच नहीं है, वही रुपया ! है नहीं, इसलिए उनके यहाँ पड़ा हुआ है । मुझे सब पता है । ठहर ! तुमने उसे गूलर कहा है । तेरे दोस्त को अभी सब कुछ बता दूँगा ।"

बूला ने आँखें तिरछी की थी । रह-रहकर मुझे लेकर मजा करने के लिए । जिस तरह बिल्ली चूहे के साथ खिसबाह करती है सोनती रही, "अगर बता दू । अगर बता दू ।"

ये दो शब्द बरें की तरह चक्कर खा रहा है । मैं डर गया था ।

बायाँ पाँव बढ़ाकर बूला ने मरे पाँव मे ठोकर मारा । "बेईमान ! बदमाश ! जिसकी घाली मे खा रहा है, उसे ही गूलर बता रहा है ? तू खुद क्या है ? उस लडकी के पीछे कगले की तरह घूम रहा है । पूजा कर रहा है । फून बूल दे रहा है । इसका मतलब यह कि तू भूल नहीं पाता है कि तू उसका नीकर की तरह है । सुन, लडकियाँ फून-बूल नहीं चाहती हैं । जो देता है, उस पर बख्शा भर कर सकती है । यह लडकी, वह विशमिश, मैं तुझे बता दे रही हूँ । विलाशक तरे कगलेपन पर तुझसे घृणा भी करती होगी । वह तुझसे प्यार सभी करेगी अगर-अगर तू जबरदस्ती उसका सब कुछ छीन ले । किसी डाकू की तरह उस पर अगर चपट पड़े । है तेरे मे उतनी हिम्मत ?"

बूला हाँफ रही थी । बूला, दाँत से एक तिक्का कुतरती जा रही थी ।

किशमिश इधर की ओर ही आ रही थी । उसे आतं देख बूला की आँखा से चिंगारी छूटने लगी । दबे स्वर मे कहा, "आ, उसके साथ एक तमाशा करें ।"

किशमिश उस समय भी कुछ दूरी पर थी, जिस समय बूला ने अकस्मात यह सब कर बैठी । क्या कर रहा है, यह समझने के पहले ही उसने मुझे अपनी छाती के बीच जकड़ लिया था । उसके होठ, उसकी जीभ, उसके दाँत, ये सब कहाँ थे ? क्या कर रहे थे, भले ही स्वीकारोक्ति ही क्यों न हो । मैं यहाँ कैसे सिधू । बूला ने वह सब किया नहीं-नहीं यह झूठ है । किया मैंने भी । मैं भी थरोक हुआ, सुप लिया, लिपटा रहा । उस पाप के ऊपर अवाध्य शरीर का लुब्ध हो उठने की बात को दबा जाना और भी बड़ा महापाप होगा ।

पर रजनी अतंत इधर आयी ही नहीं । थोड़ी दूर आकर ठहर गयी थी । शायद हरिआवल की आवाज सुनी हो । खड़ा रहकर धीरे-धीरे दूसरी ओर मुड़ गयी ।

वीभत्स स्वर मे बूला ने कहा, "वाह वाह ! क्या तमाशा रहा । पानी ने कुछ नहीं देखा । एक अच्छी लडकी की आँख के सामने उसके प्रेमी के साथ, जो मन मे धाए किया जा सकता है न ? इसी को कह रही थी, तमाशा !"

मेरे दोनों हाथ, मेरे गाल पर ये । रगड़-रगड़ कर जहरीले दाँतों के निशान मिटा देने पर तुला था मैं ।

\*

\*

\*

इसके बाद भी दोपहर सहज गति से कटती । हालाँकि उमस जा नहीं रही थी । हम लोग पत्तल बिछाकर, खाने बैठे । खाना बहुत अच्छा पका था । गोश्त की खुशबू छूब मजे की आ रही थी । हालाँकि मैं बीच-बीच में रजनी की ओर बदन घुमा देते जा रहा था पर रजनी अपने से ही हँसी हुई । धीर-स्मिर ढग से बात कर रही थी, हँस रही थी । मुझे राहत महसूस हो रही है । हठपारा कोई सबूत न रख जाने पर जिस तरह निश्चित होने पर आश्वस्त होता है, उसी तरह ।

खाने के दौरान ही बाँसी ने कहा, “मेरे जन्मदिन पर बूला, तू मुझे कुछ देगी नहीं ?”

बूला ने कहा, “हूँगी, हूँगी । साथ साथी हूँ । खाना-पाना हो जाए उसके बाद ।” क्या साथी है, यह बूला ने नहीं बताया ।

खाना खत्म हुआ । उस समय तक दिन बहुत ज्यादा नहीं डला था । सूरज एकदम सिर के ऊपर दमक रहा था । बूला ने आज पर कासा चरमा चढ़ाते हुए कहा, ‘यह सूरज किसरी तरह है बताओ तो ? पुरुषों की तरह बीतान । पहले बूब मोठा-मोठा सा नरम रहता है । फिर धीरे धीरे भयंकर हो उठता है । प्रेमिक से धीरे धीरे अत्याचारी पति बन जाता है ।’

मुटु स्वर में, पर उसे सुनाते हुए बोला, “पर बूला ! लड़कियाँ भी कुछ कम भयंकर नहीं होती हैं ।”

बूला ने कहा, “होगी क्या नहीं, होती हैं । पर जा पत्नी बन पाती है, वे लोग कम ही होती हैं । होती हैं जो कभी भी कुछ नहीं हो सकेंगी । न पत्नी, न माँ । जो कभी किसी की बेटी जरूर रही होगी, पर बाद में वह भी नहीं रह जाती है । वे लोग हिंस्र होती हैं, भयंकर होती हैं । तुमने जो कुछ कहा वह सब । बन पढ़ने पर वे लोग सब कुछ इस्तफ़ा कर जाती हैं ।’

बूला मुझे उस समय कैकटस के पीछे जैसी लग रही था ।

“अब अब क्या करना है ?” बूला ने ही थोड़ी देर बाद पूछा । कमर पर हाथ रखकर विजयिनी की तरह । खड़ी होकर ।

‘अब ? अब गाना ।’ शायद बासी ने ही अभिप्राय स्वर में कहा होगा ।

‘बूला मैं हार्मोनियम के बिना गाता नहीं हूँ ।’ तो फिर ताश ! साए नहीं है । उसी समय बूला अचानक तलवार की तरह हाथ फेलाते हुए बोस पड़ी, “सिगरेट है ? सिगरेट ?”

रजनी अवाक दृष्टि से देखती रही । मैंने और बाँसी ने एक साथ पूछा, “तुम पियोगी ?” बाँसी ने काँपत हुए हाथ से एक सिगरेट बढ़ा दिया । बूला ने बड़ अभ्यस्त ढंग से उसे पकड़ा, पर एक दो कण भरने के बाद उस फेंकत हुए कहा, “धूँ ।”

थोड़ी देर बाद ही, 'चौकीदार ! चौकीदार !' चिल्लाकर उसने बुलाया । उसके हाथ में एक रुपया थमाते हुए बेहिशक फरमाइश की, "चुट ।"

उससे पहले उन दिना चौकी के इलाके में सिनेमा-विनेमा में ही सिफ दो-चार मेमो को सिगरेट पीते देखा था । चुट ? कभी नहीं । साचा भी नहीं जा सकता । बहुत आसानी से समझा जा सकता है कि आज बूला संहाररूपिणी बनी है । सभी तरह के संस्कार को ध्वस्त कर देना चाहती है । जिसकी सुबह की शुरुआत फूस मसस देने से हुई है, उसका उपसहार भी तो उपयुक्त होना चाहिए ही !

बहुत भड़े ढंग से बूला न चुट को अपने होठों के बीच दबा रखा था, उसकी बगल में हम दो लडके सफेद, पतली-पतली सिगरेट पीत हुए । अजीब सा लगा । कुछ अिद सवार हो गया । उठकर खड़ा हो गया और फिर खरखराई हुई आवाज में बोला, "दो बूला, मुझे भी चुट दो ।"

"तू ! पीयेगा !" और फिर मेरी नाक को निशाना बनाकर फेंकती हुई बोली, "ले ।"

एक अधोपित लड़ाई में हम दोनों ही उतरे हैं । अलिखित कोई प्रतियोगिता । कश पर कश एक-दो-तीन । मगज में धुआँ जमता जा रहा है । धुआँ मेरी छाती में जमकर पत्थर हो जाएगा क्या ?

थोड़ी दूर पर किसी कारखाने की त्रिमनी से ढेर-ढेर सारा धुआँ निकल रहा था । इशारे से बूला से कहा, 'हमलोग क्या उससे होठ लगाए हुए हैं ?'

बूला जोर से बोल पड़ी, 'घत ! हमलोग अभी ज्वालामुखी बने हुए हैं । क्या जगल रहे हैं बताओ तो ? सावा, गरम रेत, गघक यही सब—आरती के लिए जिन चीजों की जरूरत पड़ती है ।"

क्षणश के लिए उधर देखते हुए बोला, "ऐसा भी तो हो सकता है बूला कि उसके विल में जितना बूट है, कासिख वगेरह सब कुछ निकाल दे रही है ।"

"मैं यह सब नहीं मानती हूँ ।" ढेर सारा धुआँ उगलते हुए बूला ने कहा, "मैं अब शाम की इस मरी हुई रोशनो को एकदम ढँक दूंगी । चारों ओर धुआँ ही घुमा हो जाएगा ।" क्रूर कुटिल । कोई प्रतिशोध लेने के लिए ही शायद-उसने भयकर भाव से कहा । मेरा सिर और ज्यादा चकराने लगा था । बूला हँस पड़ी थी । उसे कहते हुए सुना, "बह लडका एकदम सट्ट है । तू तो बिल्कुल सट्ट हुए जा रहा है । घुत् । हार गया ।" कहकर, ढींढर बँगले के पिछवाड़े क बराबे में पसी गयी ।

उस समय तक मेरे मगज से सारा धुआँ निकल चुका था । मैं स्वच्छ हवा से रहा हूँ । बगल में जो आकर खड़ा हुआ, उसे पकड़ कर उठने की कोशिश की । "रजनी, मेरा सिर कैसा तो चक्कर ।" खँपता हुआ मैं अपने आप बेपयस देन लगा था ।

"पता है तुमने चुट पिया है ।"

"बूला ने दिया था ।"

"देते ही पीना चाहिए क्या ?"

"उसने ऑफर किया था। सोचा था पी नहीं सकूंगा। मैं सड़का हूँ न।"

उसने हँस कर कहा, "ऑफर मिसल ही उसे लेना ही पड़ता है क्या ? सचमुच के मद सोटाना भी जानते हैं। वही उनकी ताकत होती है। मन की ताकत।"

"मुझसे नहीं होता है। ज़िद-सी चढ़ जाती है। 'न' कहने से अगर मेरा मज़ाक उड़ाया जाए। इसलिए जो जैसा कहता है, करता हूँ। बिना समझे ही लुढ़क जाता है।"

मन और ममत्व के साथ मुझे मुनते हुए उसने कहा, "यह दुबलता है। असल में एक रोग ही है।"

उसका एक हाथ अपने हाथ में सेते हुए कहा, "तुम ठीक कर दो।" उसने कहा, "कर दूंगी।" घुघले प्रकाश में वह किसी आशीर्वादिका की तरह लगी थी। वह शायद और नज़दीक आ रही थी। उसकी सास की समीपता को महसूस करते ही मैं भयभीत होकर अचानक मुह घुमाकर बोल उठा, "रजनी ! मेरा मुह कड़वा गया है।"

उसने पृष्ठों की पवित्रतम भूस्नान के साथ कहा, "घुसट पिया है, इसलिए ? अब मत पीना।"

स्वीकारोक्ति का आवेग मेरे सिर चढ़ आया था। जल्दी से कहा, "सिर्फ क्या घुसट ? उससे भी पहले दोपहर को मेरा मुह भी जूठा हो चुका है। रजनी ! तुम्हें मालूम नहीं है।"

उसने कहा, "पता है। बल्कि तुम्हें ही पता नहीं था।"

"पर तुम, तुम तो दूर भी। फिर तुम्हें।" पूरी किस तरह कहे, समझ नहीं पा रहा था, इसलिए अनावश्यक शब्दों का ढेर बढ़ता ही जा रहा था।

"मेरी आँखों की रोशनी कम है। इसलिए कह रहे हो न। पर मेरी रोशनी अभी पूरी तरह गयी नहीं है। जाने पर भी ठीक देख लेती। तुम्हें पता नहीं है। चारों ओर क्या घट रहा है इस अंधे अपनी अनुभूति से देख लेते हैं। तुम्हें मालूम दे ?"

मन्द स्वर में रजनी बात रही थी। छोटे-छोटे वाक्यों में। माँ, मेरा पाप मुझ पर प्रहार कर रहा था। एक अघप्राय लड़की को प्रताड़ित करने का प्रयास, एक बहुत बड़े बाप की तरह मेरे सिर पर बैठा रहा। अद्भुत स्वर में बोल बैठा, झूला मैं नही बूला ही। मेरा सहजा यिष्कुल किसी बापुदय की तरह।

हाथ बढ़ाकर उसने मेरे मुह पर हाथ रख दिया, 'छि ! अपने दोष का भाग किसी दूसरे को नहीं बनाना चाहिए। यो- - - सुद- - - या, तुम कमजोर हो। दूसरे की बात टाल नहीं स- - -

लाचार सा मैं फिर भी बोलने का

खराब लड़की है। वह सब को।"

हल्ला सी डाँट, - - - म - - -

इस बात से उसे गलत नहीं समझना चाहिए। क्यों कर रहा है, यह भी देखना चाहिए। सबके पास कुछ न कुछ दुःख है। कहने के लिए भी जरूर कुछ होगा। दुःख-कष्ट किसी-किसी को बाहरी तौर पर बुरा बना देता है और कोई उस दुःख को लाय कर और भी बड़ा बन जाता है।"

दोनों हाथ जोड़कर उस समय उसके दोनों पाँव छूने की आकांक्षा हुई। उम्र में अपने से छोटे के पैर नहीं छुए जा सकते। बताओ तो मा, यह कैसा अयोग्यपूर्ण निग्रह है ?

\*

\*

\*

सादी की सरसराहट के साथ क्रमशः एक आवृत्ति, समझ रहा था बूला की नजदीक चली आ रही थी। सामने आकर कमर पर हाथ रखते हुए बोली, "क्या बात ? जाना-माना नहीं है क्या ? या यही।" कहते-कहते अचानक ही रुक कर थोड़ा झुककर मानो हवा में कुछ सूँघकर फिर कहा, "क्या बात है ! वहाँ फच्च-फच्च ! यहाँ भी फच्च फच्च ? तुम सब रुककड़े सड़को को हुआ क्या है ?" बूला न हाथ बढ़ा कर कहा, "ले उठ। पिया सो चुकत है। इस पर इतनी नाटकीयता कोई नहीं करता है। इसके बाद, जब पीपे का पापा निगलेगा। समय तो आ रहा है तब क्या करेगा ? आज तो शुक्रात थी, जिसे कहना चाहिए बीसा, मैं सारी दोषायत्री बनी।"

अचानक मैं उससे पूछता हूँ, "बूला बीसी रो क्यों रहा है ?"

"रोते रहने की उसकी आदत है इसलिए।"

तब मैंने साफ शब्दों में पूछा, "बीसी को तुमने क्या किया है ?"

सिर हिलाते हुए बूला ने अपने मिथरे बाल और फैला दिए 'उम मैंने ज़म दिन का उपहार दिया है। अभी थोड़ी देर पहले दिया है।"

"उपहार पाकर राना ?"

"क्या दिया है, सुनना चाहते हो ? नकली दाढ़ी और मूछ। ही ही।"

बूला भद्दे ढंग से हँसने लगी। "ज्यादा कैचकैच करणा तो तुझे भी दूगी। फिर मत करो साना, फिर मत करो। तुम सब को मद बनाकर छोटी दूगी।" बूला सत्वर बोस चठी।

"तुम कितनी बुरी हो बूला ? बहुत निष्ठुर।" उसे चोट पहुँचाने के लिए कहता हूँ, पर उस चोट को आत्मसात करते हुए बूला कह रही है, "और तुम सब ? बाकी सब मेरे चारा आर जो कुछ है सब दया से भरपूर है ? आहा रे ?"

सोते समय उस दिन का समस्त सुर बंद गया। रास्ते में विशेष बातचीत नहीं हुई। काफी रात को बीसी मुझे छत पर ले गया। उसकी आँखा में सब पानी नहीं था, पर चेहरा बरसात हो जाने के बाद मुलायम मिट्टी-सी।

बीसी थोड़ा मुस्कराया, 'बूला न बड़ा है मैं रोया या ? नकली दाढ़ी मूछ के



लिए ? घुत नहीं उस लिए नहीं ! वह तो अपमान था, पर उसे मजाक भी समझा जा सकता है ! फिर थियेटर में कितना कुछ तो नकली पहनना पड़ता है ! पर मैं रोया नहीं था ! आँखें भीसी हुई थीं ! शुरु से ही वहाँ उसका चक्कना-फिरना धजीब सा लगा था ! पहले एक बार वह वहाँ गयी थी ! मासूम था, पर सब कुछ इतना परिचित ! प्रत्येक कमरा, दीवार, खिड़की, दरवाजे-पलंग सब कुछ ! मुझे थोड़ा खटका हुआ ! अच्छा भसा बाहर-बाहर घूम रहा था ! शाम को वह मुझे एक चोर बोठरी में ले गयी ! अच्छा लग रहा था, फिर भी कहीं तकलीफ हो रही थी ! वह सब कुछ जतना देना चाहती थी ! वह वहाँ कई बार कई लोगों के साथ आ चुकी है !” धोलते-बोलते बाँसी की आवाज रेंग गयी !

मैंने कहा, “तुम्हें तो पता है, बूसा थोड़ी और तरह की सबकी है ।”

उसने कहा, “मासूम है ! जानना और बात है और देखना जसग बात ! तकलीफ होती है !”

आज शगर होता तो बाँसी को और समझा कर बोल पाना “जीन के नाम पर जो खेल है, दूसरे खेलों की तरह उसके भी कुछ नियम हैं ! तुम्हें थाय” उस नियम के बारे में जानकारी नहीं है ! एक नियम तो यही है कि बहुत ज्यादा महसूसो नहीं ! बासी ! उतना कष्ट मत पाओ !”

मा, मुझसे के और मजबूत भसा आया है ! यह कैसा मुझना है ? बहुत टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुजरी हुई जिस नदी का नाम इहवान है, उसका !

पोछे मुडकर देखता हूँ तो कैमी-बिखरी बहुत-सी धारारें दीखती हैं ! उनमें ॥ एक क्या तुम्हारा भरा सम्पन है ? और एक तुम हो ? तुम क्या इतनी दूर आयी थी ? लगता तो नहीं है ! बहुत पहले ही किसी समतल पर छो गया है ! मीड मरी बाजार में ! जीवन के आदितम सम्बन्ध का स्रोत वहाँ अब और दीखता नहीं है !

या फिर उस पहचानना मुश्किल होता है ! और भी कई तरह क सम्बन्धों की, अम्पास और पाप की उपनदिमा उसमें छाकर मिल गयी हैं ! उसके बोन से हिस्से से एक अँजुरी, जल उठाकर बोल सकूंगा, ‘इतना भर जल मेरी मा है ?’ परिशुद्ध सम्पर्क सिर्फ अज्ञान में या फिर एकदम उत्त में लौटकर ही मिल पाता है !

माँ, शायद इसलिए ही कुछ दिनों से तुम आ नहीं रही हो ! यह कैसा दण्ड है ? कैसा तिरस्कार ? इस अंतिम प्रणाम को भी अकिंचित्करता से भर दिया है ! क्या इसलिए ?

पर नहीं, अब मैं नहीं मानने वाला ! इस बीमारी से उठने क बाद भय सोंप हो चुका है ! बतम को मुट्ठी में पकड़े, तुम्हारी तस्वीर की ओर देख रहा हूँ ! अब घुमातो न अपना चेहरा ! देखू कितना घुमातो हो !

\*

\*

\*

अब भी अब बहुत तब बुझार होता है, तुम्हारी याद सत्रस ज्यादा आती है ! तुम्हारा और उस समय के सबकी ! उस बार की गरमी में मेरा बुझार, मुझे तुम्हारे

बहुत निकट से गया। उस तरह का बुझार अब नहीं हाता है। इस जमाने की सारी बीमारी ही जटिल, कठिन होती है।

पैदल हावड़ा से लौट रहा था। रजनीगंधा बिधमिश्र जा रही थी। खिड़की के किनारे बैठकर उसने क्या कहा था, याद नहीं है। उसने क्या अपने दादा बाँसी को सब कुछ बताया दिया था ? “छुट्टी हाने पर फिर आऊंगी।” रजनी ने यह किससे कहा था, बाँसी से ? या फिर बाँसी को गवाह रख कर मुझे। “उस समय तक शायद और भी कम देखने लगीं। रजनी क्या कम देखेगी ? क्या, क्या ? जो कुछ देखना ठीक नहीं है, वही और कम देखेगी ?”

आखिर में धुक्ते हुए रजनी ने कहा, “वही चीज दादा ? उसे ठीक से रखना, ज्यादा हिलाना-डुलाना नहीं। तुम ठीक से रहना।”

बाँसी कहीं से एक पिस्तौल ले आया था। कुछ दिनों से उसी के साथ समय बिताता। हँस कर कहता, “प्राणपातिका, पर विश्वस्त।”

उस दिन बाहर आकर मैं गाड़ी में नहीं चढ़ा। बाँसी से कहा, ‘तुम जाओ। मैं थोड़ी देर बाद जाऊँगा।’

मैं पैदल चमत्ता रहा। चलता ही रहा।

\*

\*

\*

तुम डर गयी, चिल्ला पड़ी। “यह क्या ? तरी आखे साल क्यों हैं ? बुझार तो नहीं हुआ है न ?”

मैं सडखटा रहा हूँ। तुमने धाम लिया है। खीच लिया है बहुत ही नजदीक, बहुत ही नजदीक। न जाने कितने दिनों बाद, तो ताप मेरे शरीर और तुम्हारे स्नेह का ताप आपस में घुल मिल गया। मुझे ले जाकर कमरे में लिटा दिया। नीचे के कमरे में अपने बिस्तर पर। न जाने कितने दिनों बाद बताया तो ?

माथे पर पानी की पट्टी। माँ ! न जाने कितने अर्से बाद तुम्हें अपन पास पा रहा हूँ। मेरी उम्र भी क्या कम हो गयी ? कह नहीं सकता। अत्यस्थ, दुबल शरीर सिर्फ लुब्ध होना जानता है, स्पष्ट के लिए। दुबल स्नायु, कुछ भी नहीं छाड़ना चाहता है। जब तक जगा रहता हूँ तुम्हें अपने पास पकड़े रखना चाहता हूँ। यहाँ तक कि नींद में भी तुम्हारे आचल का एक हिस्सा भरो मुट्ठी में कसा हुआ।

और जब कमरे में बाल्टी लाकर सिर में पानी उँडेल रही हो। जल, निमल-निमल, अपने सहस्रघार से मेरी उम्र, बीते हुए वर्ष और मन पर जम आए समस्त कलुपता को धो गया।

तुम क्या डर गयी थी ? मेरी बीमारी के लिए ? भयानक माना था क्या ?



दिन की आखिरी नाव भी जब घाट छोड़कर जा चुकी है, उस समय कौन-सी दृष्टि हाती है ? वह दृष्टि क्या तुम्हारे चेहरे पर दखी थी / शायद हाँ या शायद नहीं । इस समय याद नहीं है ।

बुझार में जीभ खचा, सब सूखे-सूखे से । थोड़े से स्पर्श के लिए मन तृपित रहता । रह-रह कर पानी मागता । पानी, थोड़ा और पानी ? वह क्या सिर्फ एक वणहीन पेय भर है ? शायद नहीं । मुझे डग-डग तावते देख तुम पास आ जाती, “क्यों रे ? क्या दूँ ? कुछ चाहिए ?” क्या चाहता हूँ, तुम्हें समझा नहीं सकता था । देखता रहना । बोझ नहीं है । कुछ नहीं है । सब पुराना और चुक सा गया है ।

माथे पर एक हाथ । ठंडा, मुलायम । चीक उठा । बोला, “कौन ?” हर बार तुमने जवाब नहीं दिया है । सिर्फ उंगलियाँ फेरी हैं । अन्ततः दृष्टि से तुम्हारी ओर देखकर कहता, “ओह ! तुम । मेरे उस स्वर में जो निराशा व्यक्त होती, उसे क्या तुम पकड़ पाती थी ? करना पूछती क्यों, “तूने क्या सोचा था ?

‘कौन भला ? कोई नहीं । कहकर आँख मूढ़ लेता । महसूस करता हूँ, एक हाथ मेरी कलाई पर आ टिका है । हाथ हटाते हुए जिसे हुए स्वर में कहता हूँ, ‘क्या देख रही हो ?

सज्जित सी, पकड़े जान के सहजे में बोल रही हो, ‘देख रही थी, कैसा हो ?”

“तुम्हें राज देखना आता है ?” मेरा स्वर कड़वासा हुआ-सा ।

“घाटा बहुत ।”

पर मैंने तुम्हारे झूठ का पकड़ लिया है । मुझे पता है, मैं कैसा हूँ तुम यह नहीं देखती थी, तुम यह देखती कि मैं तुम्हारा कितना हूँ । तुम्हारा ।

नहीं माँ, नहीं । तुम सुन सा । इस धरती के हर युग की हर माँ सुन लें, मैं तुम्हारा नहीं था । दुनिया का कोई सड़का या सड़की नहीं रहती है । कौन सी ऐसी नाव है जो हमेशा घाट में बधी रहती है ? नाव को बहना ही है, चाहे बीच दरिया में कितना ही तूफान क्यों न जाए ? भले ही डूब जाए, फिर भी नाव को बहत जाना ही है ।

मैं भी बहा हूँ। बिस्तर पर जिस समय लेटा हुआ हूँ, उस समय भी सपने में बहता रहा हूँ।

यह स्वप्न बहुत अद्भुत चीज है माँ। मनुष्य के सिवा और कौन सपने देखता है, मालूम नहीं। पर मनुष्य देखता जन्म है, पर उसे पकड़ कर रख नहीं पाता है। प्रत्येक स्वप्न आक्षरिक अर्थों में एक-एक मानस सरोवर होता है। पर जजुरा में कितना भर जल समेट पाते हैं? उँसलियों के बीच से सारा पानी रीत जाता है। फिर भी जो कुछ रह जाता है, वही स्मृति के होठों पर लगा रह जाता है। हम उसी लगे हुए स्वाद को महसूसते हुए जीना चाहते हैं। पर चाहने से ही क्या वह मिल जाता है? भरा हुआ स्वप्न, भरे हुए स्नेह-प्रेम को तरह होता है। अनन्य कामना करने पर भी अटूट टूटकर लौटता नहीं है।

पर सपनों की बात रहने दो। अपनी बात कह। उही बीमारी के दिनों में एक कैसा तो भद्दा-सा काढ़ कर बैठा था। याद है?

बालों का कटोरा पहले ही फेंक चुका था। उसके बाद ही तुम्हारे हाथ से यर्मामीटर छीन लिया। और फिर तुरंत पुट-से उसे तोड़ दिया। एक ही साथ अवाक और डर जाते हुए तुमने पूछा, "क्या किया, क्या किया तूने?"

"ठीक किया हूँ।" मैं फुफकार रहा था।

"बुद्धार शायद बड़ा है," तुमने शांत स्वर में कहा, "जाऊँ दवा ले आऊँ।"

चीखते हुए बोला था, "दवा? दवा अब और नहीं लूंगा। तुम सोच रही हो, तुम्हारी चालाकी को मैं समझ नहीं रहा हूँ।"

"चालाकी?" सहमे हुए स्वर में तुम कह रही हो "कैसी चालाकी?"

"मेरा बुद्धार पाल रखने की।" बिकारग्रस्त स्वर में बोलता गया हूँ, "जब तक सम्भव हो कण्ट देने के लिए।"

इस बार तुमने स्थिर स्वर में पूछा, "उससे मुझे फायदा?"

"फायदा?" तुम ही बेहतर जानती हो। मैं हाथ से निश्चल न जाऊँ, तुम्हारे आँसु से ही बँधा रहूँ इसलिए?"

मझे वी बात, न तुम नाराज हूँ न तुम्हारा स्वर काँपा। निष्पलक, निष्कम्प तुमने कहा, "तू यह कह रहा है? वहाँ, किसी को भी तो उसके बावजूद रख नहीं सकी है।"

मैं शायद डर गया था। उसी डर को अपने से दूर करने के लिए तुरंत बात पड़ा, 'नहीं ही सही हो, न दाँत को न बाबा का। पर उसका बदला मुझसे क्या लेना चाह रही हो? छि माँ, छि?"

"पगना। इस तरह क्या किसी का रखा जा सकता है?" आँधुरी बार मेरे माथे पर अपना ठोके हथेली केर कर तुम उठ जा रही थी। पर वह स्पर्श, वह हिम-शतल क्षमा के मानो मेरे शरीर पर गरम सेप लगा गया। तुम्हारा हाथ पकड़ कर

घीघा हुए कहा था, "जाओगे नहीं। बाकी का भी मुतली जाओ। मुझे पनकर रख नहीं गवती हो। मैं भी जाऊँगा।"

'पता है। चला तो गया ही है। मुझे क्या मायूम नहीं है? सब पता है। मैं क्या समझती नहीं हूँ!'

'ओर भी दूर चला जाऊँगा। मरी बीमारी अगर ठीक हो जाए, तब देखना मैं ओर भी पैस जाऊँगा, बिछर जाऊँगा। वह एक दूसरी दुनिया होगी। असल तरह की जिन्दगी। वहाँ तुम्हें मेरा ओर भी नहीं मिस पाएगा।'

'ठीक है नहीं मिसेगा, तो न मिस। तू अब तो जा।' कहकर तुम उठ गयी थीं।

पर शाये घण्टे बाद वापस आ गयीं। वही सात, जातन सञ्चारण "श्रीये सून्या हुई क्यों है? क्यों, बुझार तो फिर नहीं बका है? फिर?"

मैं चुप रहा। तब तुमने ही पूछा, "रो रहा था?"

बुझ बुझ। तुम सिन्या भी बिछनी येबूफ हाती हो। तुम खुद अब तर आठ में रो रही थी। सटके आगानो ग नहीं रोत। इसलिए तोषा, शामद में भी रो रहा था। माँ! तुम कुछ नहीं समझती हो। कुछ भी नहीं।

पर प्रस्ट म बोला था, "वहाँ नहीं तो?"

"तो फिर चेहरा मारी क्यों है? धत् मन घरान नहीं करते। बहस तो आपस में होती ही रहती है।"

"क्या कहा था, तुम्हें याद है?"

"आ मन में आया कहा है। तुम लोग सब कुछ कह सके हो।"

उम दिन ज्याना कुछ बोस नहीं पाया, इसलिए बिस्तर व एक ओर रखी हुई एक पत्रिका अपने मुह के सामने कर लिया। मेरी ओर भी दा-बार रचनाएँ छपी थी। शुरू कर तुमने एक नजर उछर देख लिया। "तेरी निछी हुई है?"

"तुम नहीं समझोगी!"

"कब की है?"

"तुम जाओ।"

"नया कुछ नहीं लिखा है?"

"तुम क्या समझती हो इन सबका। तुम जाओ।"

पर तुम गयी नहीं। डीठ सो पलग के किनारे बैठा रही। आहिस्ता से पूछा था "उस समय दूसरे जगत, दूसरे जीवन के बारे में क्या तो कह रहा था? वह क्या इसी रचना में है?"

'तुम नहीं समझोगी?'

'पता है।' एक छोटी-सी साँस भरते हुए तुमने कहा था, "तुमने उस निच झूठ कहा था। पहली रचना जिस दिन छपी थी, पूछन पर कि किसके ऊपर लिखा है, कह दिया था, तुम पर। पर इन सबमें वही भी मैं नहीं थी। चोंक

मुझे पता है इसलिए । पर तू पगला है । इतना जानकर रख, मैं भले ही न होऊँ । पर हूँ भी । न रहकर भी रहूँगी । तेरे सब कुछ में मैं रहूँगी ।”

मा ! एक जन्म में, जन्म के मूल को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उस दिन क्या तूम् यही कहना चाह रही थीं ? तो फिर सुन रखा । तूम् भी सम्पूर्ण रूप अभ्रात नहीं थीं । उस दिन सचमुच तूम् नहीं थी । बताया न । आँखें नहीं रहती हैं । रहती नहीं हैं पर स्रोत आती हैं । जैसे तूम् आयी हो । वही, जब से आशीर्वात् स्नेह कृपा और करुणाधारा इस रचना पर वर्णित होती जा रही है ।

\*

\*

\*

बुझार धड़ता है, उतर जाता है । मेरा भी उतर गया । मैं फिर से बासी के कमरे में जाने लगा । मुझे देख कर, बाँसी ने पाउडर का पफ चेहरे पर से हटा लिया । पूछा, “कहाँ जाओगे बाँसी ? बहुत फिटफाट हो रहे हो ?”

उसने कहा, “कहीं तो नहीं । यूँही कुछ करने को नहीं है । समय तो पाटनी ही है, इसलिए अकेले ही ।”

बाँसी को नि संयता न मुझे द्रवीभूत किया था । फुमफुसाते हुए कहा था, “बाँसी ! चल न चलते हैं ।” उसने कहा, “कहा ?” मन वहसाने के लिए पूछा, “वहाँ, अब जाते नहीं हो ?” बाँसी समझ गया बासा, “जाता हूँ । पर जाकर कोई फायदा नहीं है । घूसा के यहाँ जाने की बात कर रहे हो तो ? पर अब उस घाट पर नाव चलाती हूँ, ईश्वरी पाटनी ।”

“याने सीला मासी ? वे तो हैं ही, यो ही ।”

“अब अकेली नहीं हूँ । एक नया जुट गया है—अरिन्दम ।”

“अरिन्दम ?” मन ही मन मैं इस नाम को दो तीन बार दोहराया और तुरन्त याद आ गया, “अरिन्दम ? मैं पहचानता हूँ । नए तो नहीं हैं, पुराने हैं, सीला मासी के साथ ।”

बाँसी बोल उठा, “वे ही । आदि और अकृत्रिम अरिन्दम । उत्तराधिकार सूत्र त्रहे पाया है ।”

समझ नहीं पा रहा था । घूसा ने कहा, “उत्तराधिकार समझते हो सूत्र से एक पीढ़ी की बीज दूसरी पीढ़ी को मिलती है । उसी गमोन-आयदाद सब मुझे मिली है । उसी नियम पर घूसा

प्रमिष को ? पर अरिन्दम तो ! याने ।”

पार्स, घूसाएँ उभ नहीं देखती हैं कुछ और देखती हैं ।

तब हुए बाँसी हिम हो उठी, “हालांकि मैंने भी जाता जाऊँगा । अपना पाट मैं सही ढंग से पकड़े

“

\*

\*

खींचने हुए कहा था, “आओगी नहीं। बाबरी का भी सुनती जाओ। मुझे पनडकर रख नहीं सकती हो। मैं भी जाऊँगा।”

‘पता है। चला तो गया ही है। मुझे क्या मात्तूम नहीं है? सब पता है। मैं क्या समझती नहीं हूँ।’

‘और भी दूर चला जाऊँगा। मेरी बीमारी अगर ठीक हो जाए, तब देखना मैं और भी फेंस जाऊँगा, बिघर जाऊँगा। वह एक दूसरी दुनिया होगी। असग तरह की ज़िन्दगी। वहाँ तुम्हें मेरा छोर भी नहीं मिल पाएगा।’

“ठीक है नहीं मिलेगा, तो न मिले। तू जब सो जा।” कहकर तुम लठ गयी थीं।

पर आधे घण्टे बाद वापस आ गयी। वहीं शांत, शीतल उच्चारण “आँखें सूजी हुई क्यों है रे? क्यों, बुखार तो फिर नहीं बढ़ा है? फिर?”

मैं चुप रहा। तब तुमने ही पूछा, “रो रहा था?”

बुझ-बुझ। तुम स्थिरा भी चितनी बेबकूफ होती हो। तूम् खुद जब तक आठ मं रो रही थीं। लठके आसानी से नहीं रीत। इसलिए सोचा, शायद मैं भी रो रहा था। माँ! तूम् कुछ नहीं समझती हो। कुछ भी नहीं।

पर प्रकट में बोना था, “वहाँ, नहीं तो?”

“तो फिर बेहतर भारी क्या है? धर्म मन खराब नहीं करते। बहुत तो आपस में होती ही रहती है।”

“क्या कहा था, तुम्हें याद है?”

“जा मन में आया कहा है। तूम् लोग सब कुछ कह सकते हो।”

उस दिन ज्यादा कुछ बोल नहीं पाया, इसलिए विस्तर के एक ओर रखी हुई एक पत्रिका अपने झुह के सामने कर लिया। मेरी ओर भी दो-चार रचनाएँ छपी थी। पृष्ठ पर तुमने एक नजर उधर देख लिया। “तेरी लिखी हुई है?”

“तुम् नहीं समझाती।”

“कब की है?”

‘तुम् जाओ।’

“नया कुछ नहीं लिखा है?”

“तुम् क्या समझती हो इन सबका। तुम् जाओ।”

पर तुम् गयी नहीं। डीठ सी पलंग के किनारे बैठी रही। आहिस्ता से पूछा था “उस समय हमने जगत, दूसरे जीवन के बारे में क्या तो कह रहा था? वह क्या इसी रचना में है?”

“तुम् नहीं समझाती?”

‘पता है। एक छोटी-सी साँस भरते हुए तुमने कहा था, “तुमने उस दिन झूठ कहा था। पहली रचना जिस दिन छपी थी, पूछने पर कि किसके ऊपर लिखा है, कह दिया था, तुम् पर। पर इन सबमें कहीं भी मैं नहीं थी। क्यों क्यों रहा है?”

“जसन ?” कहकर बूला वहाँ से मुझे दोबारा चटाई की महफिल में ले आयी ।  
 इधर-उधर की फालतू बातें होने लगी थी । मैं थोड़ा कुनमुनाया और फिर पूछ  
 बैठा, “बूला । लीला मासी कहाँ हैं ?”

“माँ ? नीचे के कमरे में । उसे कीमे का समोसा बनाने बैठा आयी हूँ । कीमे  
 का समोसा और घुगनी । तुम सोग खाकर जाओगे तो ?”

रुकने की इच्छा नहीं थी, पर चले जाने लायक मन में जोर भी नहीं था ।  
 अरिन्दम उठे । जब से चाभी का छत्ता निकास कर घुमाते हुए कहा, “क्यों ? चलना  
 है ?”

“कहाँ ?”

“एक सोदा कर आएँ । बस जाना और आना है । गाड़ी में दो मिनट लगेगे  
 आओगे ?”

इन्कार करने की क्षमता नहीं थी । इसलिए उनके पीछे पीछे चल पड़ा ।

उस दिन गाड़ी में अरिन्दम से किस तरह की बातचीत हुई थी ? “आपसे  
 बहुत दिनों बाद मुलाकात हुई । आप बहुत दुबले हो गए हैं ।” इसी तरह की ।

“कितने अरसे बाद बताओ तो ?” गाड़ी स्टार्ट करत हुए अरिन्दम ने कहा,  
 “पहले जब देखा था, उस समय मैं कैसा था ? तेजी घोड़े की तरह यही न ? पर अब  
 देखो, अब कैसा हो गया हूँ । गाल की हड्डियाँ बैठ गयी हैं । बाल झर गये हैं । खिजाव  
 लगाता हूँ । पता है, सब पता है ।”

“कई वर्ष हो गये न ?”

“बहुत कहाँ ? फिर भी देखो यह हाल है । शरीर टूटी गाड़ी की तरह हो गया  
 है । अपने से स्टार्ट नहीं होता है अब । ठेक-ठूल कर चलाना पड़ता है ।”

‘और बूला वगैरह ? वे लोग भी तो बदल गये हैं ।’

अरिन्दम ने संक्षेप में कहा, “गए हैं ।” कांपते हुए हाथों से उसने सिगरेट  
 सुलगायी । मैंने कहा, “आप यहा जक्कर ही आते हैं न ?”

“आता हूँ ।” कहकर अरिन्दम ने पूछा, “और तुम ?”

“बीच में बीमार हो गया था । इस बार काफी दिनों बाद आया हूँ । और भी  
 जैसे सब कुछ बदल गया है । बूला जैसे और भी कैसी

कनखी से भरी ओर देखते हुए अरिन्दम ने कहा, “यय मैन । खुलकर  
 खास क्यों नहीं पा रहे हो ? बूला, वेश्या की तरह हो गयी है, यही कहना चाहत  
 हो न ?”

मैं चुप रहा ।

गाड़ी मुख्य सड़क पर आ चुकी थी । अरिन्दम, प्रौढ पका हुआ अरिन्दम ने  
 अचानक एक हिचकोले को सम्हालते हुए कहा, “पर तुम ठीक नहीं कह रहे हो ।  
 वेश्या तो बल्कि मैं हो गया हूँ ।”

मैं नि शब्द ।



वही छत, जिस छत पर बूसा ने कहा था फूल नहीं खिलते हैं। वहाँ गरमी के दिनों में कैमस और बरसान में बैना खिलते हैं।

एक सुन्दर-सी चटाई बिछा कर बूसा बैठी थी। हम लोगों को देख कर बूसा ने अपने आँचल के नीचे कुछ छुपा लिया। अचानक हिनहिताता हुआ-सा बोल उठा, "अरे आओ आओ।" मानो सब कुछ हम लोगों के लिए ही सजा कर रखा गया हो।

आख के इशारे से अचानक ने कहा, "उन लोगों के लिए एकाध मँगवाऊँ?"

खीझे हुए स्वर में पूछा, "बसा, आज यहाँ क्या है?"

अचानक ने उदार स्वर में कहा, "कुछ नहीं कुछ नहीं। यही बस बाड़ा-सा सेमीप्रेट करना है।"

फिर भी छोड़ा नहीं। बूसा को एक तरफ ले जाकर पूछा, "जिस बात का सेलिब्रेशन? आज क्या है?"

"आज?" गाम पर एक उँगली रखकर गर्दन थोड़ा झुकाते हुए बूसा ने कुछ सोचने का अभिनय करते हुए हँस पड़ी और, "अगर कहूँ आज मेरी सगाई है तो?"

"बूसा मजाक छोड़ो।"

"मजाक करना छोड़ दूँ? कह रहा है? फिर रह क्या जाएगा? यहाँ फिर तुम लोग क्यों आए हो? गीता पाठ सुनने? गीता-बीता मैं नहीं जानती हूँ पर अगर कहें तो एराय गीत सुना सकती हूँ।" कहकर सचमुच ही एक मद्धे किस्म का गाता गुनगुना लगी थी। उसे चुप कराते हुए कहा, "आज सचमुच तुम्हारी सगाई तो नहीं है?"

उसने कहा, "होने में हर्ज ही क्या है? जब आ ही गया है, तो क्यों न हो ही जाए। क्यों मेरी सगाई होगी क्यों नहीं? मेरी जैसी सड़की की क्या कमी शादी नहीं हो सकती है क्या? या तुम लोग चाहते ही नहीं हो कि हो। क्यों?"

बूसा कि आँखें नाच रही थीं। उन आँखों में थोड़ा भी सकोच नहीं रह गया था। बूसा ने हल्के से मुझे ढकेलने की, मैं बेबकूफ की तरह बोल उठा, "ठीक है, पर बूसा, दूल्हा कौन है?"

एक ओर बट करके और एक को थोड़ा तिरछी करते हुए बूसा ने मानों मुझे आजमाया। कहा, "अगर कहूँ, तू है?"

"छद्म!"

हाँठों पर दाँत गड़ाते हुए बूसा ने कहा, "तो फिर वह बामो हो सकता था। पर मुश्किल यह है कि फिर समझ में नहीं आयेगा कि कौन दूल्हा है और कौन दूल्हन।" बिबलि

फट्ट सवाल बैठा, "बूसा, तुम्हारा दूल्हा वह बूढ़ा, वह अचानक तो नहीं बनता?"

“जसन ?” कहकर बूला वहाँ मैं मुझे दोबारा चटाई की महफिल में ले आयी।  
इधर-उधर की फासतू बातें होने लगी थी। मैं थोड़ा कुनभुनाया और फिर पृष्ठ  
वेठा, “बूला ! सीला मासी कहाँ हैं ?”

“माँ ? नीचे के कमरे में। उसे बीमे का समोसा बनाने बैठा आयी हैं। बीमे  
का समोसा और घुगनी। तुम सोग खाकर जाओगे तो ?”

रवने की इच्छा नहीं थी, पर चमे जाने सायक मन में जोर भी नहीं था।  
अरिदम उठे। जब से चाभी का छल्ता निकाल कर घुमाते हुए कहा, “क्यों ? चलना  
है ?”

“कहाँ ?”

“एक सौदा कर आएँ। बस जाना और आना है। गाड़ी में दो मिनट लगेगे  
आओगे ?”

इंकार करने की क्षमता नहीं थी। इसलिए उनके पीछे पीछे चल पड़ा।

उस दिन गाड़ी में अरिदम से किस तरह की बातचीत हुई थी ? “आपसे  
बहुत दिनों बाद मुलाकात हुई। आप बहुत दुबले हो गए हैं।” वही तरह की।

“कितने अरस बाद बताओ तो ?” गाड़ी स्टार्ट करते हुए अरिदम ने कहा,  
“पहले जब देखा था, उस समय मैं वैसा था ? तेजी धोड़े की तरह यही न ? पर अब  
देखो, अब कैसा हो गया हूँ। गाल की हड्डियाँ बैठ गयी हैं। बाल झर गये हैं। खिजाब  
लगाता हूँ। पता है, सब पता है।”

“कई वय हो गये न ?”

“बहुत वहाँ ? फिर भी देखो यह हाल है। शरीर टूटी गाड़ी की तरह हो गया  
है। अपने से स्टार्ट नहीं होता है अब। ठेल-ठूस कर चलाना पड़ता है।”

“और बूला वगैरह ? वे सोग भी तो यदस गये हैं।”

अरिदम ने सक्षेप में कहा, “गए हैं।” काँपते हुए हाथों से उसने सिगरेट  
सुलगायी। मैंने कहा, “आप यहाँ अक्सर ही आते हैं न ?”

“आता हूँ।” कहकर अरिदम ने पूछा, “और तुम ?”

“बीस में बीमार हो गया था। इस बार काफी दिनों बाद आया हूँ। और भी  
जैसे सब कुछ बस गया है। बूला जैसे ओर भी कैसी —

कनखी से मेरी ओर देखते हुए अरिदम ने कहा, “यय मेन। खुलकर  
छाँस क्यों नहीं पा रहे हो ? बूला, वेश्या की तरह हो गयी है, यही कहना चाहते  
हो न ?”

मैं चुप रहा।

गाड़ी मुख्य सड़क पर आ चुकी थी। अरिदम, प्रौढ पका हुआ अरिदम ने  
अचानक एक हिचकोले को सम्हालते हुए कहा, “पर तुम ठीक नहीं कह रहे हो।  
वेश्या तो बल्कि मैं हो गया हूँ।”

मैं नि शब्द।

अरिन्दम हँस पड़े। वह हँसी एक छुपी हुई व्यथा में पीसा हो गयी।

“हाँ, पुरुष भी एक उम्र में आकर वेश्या हो जाते हैं, जब उनका कोई मित्र नहीं रह जाता है। हाँ, पुरुष भी औरतो की तरह विपुष्पित हो जाते हैं। बस उस समय उनका पाम लोगो को बुला-बुलाकर अपने पास बैठाना है। साथ पाने के लिए। खिलाते हैं, पिताते हैं, ठीक बदचलन औरतो की तरह ही। मेरा भी अभी वही क्रम चल रहा है। मैं भी वही पुरुष वेश्या हूँ।”

घोड़ा ठहर कर अरिन्दम फिर से बोलने लगे, “इसलिये, शराब पीता हूँ। अनुचित है, फिर भी। उपाय नहीं है, शरीर को कष्ट देकर मन को घोड़ा चगा रखना। बस इतना भर ही ड्रिंकिंग की फिलासफी है।”

“पर यहाँ अंतिम बात नहीं है। यह अंतिम दर्शन भी नहीं हो सकता है। इसके बाद भी कुछ रह जाता है। जीवन का दूसरा भी अर्थ हो सकता है। है या नहीं, उसी को खोजे जा रहा है।”

इतना कहकर, खचाक् की आवाज के साथ, अरिन्दम ने एक दूकान के सामने गाड़ी रोक दी। निगॉन साइट में दूकान का नाम पढ़कर मैं तब तक कपिने लगा था।



तिर-तिर करते हुए पछी उठ आते हैं। सरसराती हुई गिलहरी पेड़ पर चढ़ जाती है। कितनी बार देखा है। आज भी देखता हूँ, जब भी मौका मिलता है। क्या देखता हूँ? उनका मुख स्वच्छन्द? वे सोच कितन अद्भुत हैं? अपने-अपने शरीर पर निभर। यही तो देखता हूँ न। मनुष्य के पास जो कुछ नहीं है, वह जो कुछ नहीं कर पाता है। क्योंकि मनुष्य अभिव्यक्ति के अभिशाप से जकड़ा हुआ है इसलिए वह के पास दस्तखत करने जागतिक समस्त नियमों का पालन करता जा रहा है।

तो फिर मनुष्य की मुक्ति कहाँ है? अतीत में। वहाँ उसका स्वच्छन्द विवरण होता है—उस पक्षी और गिलहरी की तरह इच्छानुसार, कुछ भी छुग सकता है। शरीर जो कुछ नहीं कर पाता है मन उसे बसूलता है। जिस तरह मैं भी इस मन की अपनी मर्जी मुताबिक खींच कर एक के बाद एक तस्वीर देखे जा रहा हूँ, दिखा रहा हूँ। यह रचना भी क्या उसी अतीत का एक हिस्सा है? उस अतीत का एक साक्षि प्रतीक तुम हो, पर भागीदार, दायेदार और भी कितने जन, बूला मगोरहूँ हैं।

आज वहाँ हाथ फेर रहा हूँ, जहाँ सभी बूला ने डसा था। वहाँ अब बिप का डर नहीं है। नहीं, इसलिए नहीं है, क्योंकि रहता कुछ भी नहीं है। आनंद, वेदना सब कुछ एक दिन मिट जाते हैं। सब रग मिट जाते हैं। पर माँ! यह सब तो अबकी बातें हैं, उस समय का मैं तो कब का तुम्हें बूला लोगों के छत पर बैठा आया है। चलो, फिर वही लौट चले।

एक सुदोस बोलस हिलाते हुए बूला ने कहा था, “बताओ तो क्या है? तरस अनल—एक कविता में पढ़ा है। थोड़ा चखोगे?” प्लेट में कलेजी तल कर रखी हुई थी। एक टुकड़ा उठाते हुए बूला ने कहा था, “कैसा तो लगता है। अगर कहीं ये पलेजियाँ हिलने-डुलने लगे।”

मेरे होठों से सार निकल कर कुर्ते पर बह आया था। मैं भी तली हुई कलेजियों को एक के बाद एक मुह में डालने लग गया था। गिलास मेरे मुह से लग चुका था।

कब तक? कब तक? न जाने कब तक यह सब चलता रहा। अरिंदम की

साँछें डँप चुकी थीं। बूसा मेरे कान के पास मूढ़ लाती हुई वाली, “ध्यानासन में बैठो योगी, कुछ नहीं सुन पाता है। थोड़ी देर यहाँ रह भी नहीं जायगा।”

और सचमुच थोड़ी देर बाद अरिन्दम वहाँ से सड़खड़ाते हुए चले गये।

‘बूसा?’ किसफिसाते हुए कहा, “वे कहाँ गये?”

“डरो नहीं, बहुत दूर नहीं। नीचे ही गये हैं। माँ—तेरी सीता मासी के पास। यहाँ का प्राप्य उन्हें मिल चुका है, इसलिए नीचे चले गए।”

‘वहाँ क्या होगा बूसा?’

“क्या होगा। पास कुछ नहीं। इस उलझ के लोगों को खास कुछ भी नहीं मिलता है। बूढ़े वृद्धों दोनों मन व मुख के लिये और क्या? माँ उसके बालों में हाथ फेर देंगे, उस मुख का उपभोग करते हुए वह सो जाएंगे, और माँ माने तेरी सीता मासी को क्या मिलेगा? मिरोगा, उसे भी मिलेगा। हाथ पोंच में हाथ फेरना, उससे ही सब कुछ मिल जाएगा। शाम से तनने बतने का जो काम किया है, उन छब छटनी का कुछ काम उसी में बमूल हो जायगा।”

मैं देख रहा है धीरे-धीरे बाँसी पर नशा छाने लगा है और होश-हवास खो रहा है।

‘चनो इसकी भी छुट्टी हो गयी। बस अब रह गये हम और तुम, बाबू, हम दोनों एक घेत घेत।’

‘यस एक घेत, जिते हम दोनों घेतेंगे, किसी और को पता नहीं चलेगा।’

बूसा की आँखें बिल्मोरी बाँव-सी चक्कन करतीं। “आ, घेतेंगा। यसा बा।”

मैं ऊपर आवाज की ओर दृष्टता हुआ पूछता हूँ, “बूसा! यह क्या यही घेत है, जो विशिष्ट से छिग कर हमरा उस विवर्तन माने दिा गेला बा?”

“वही घेत”, मेरे मास पर टपोर दन हुए बूसा। कहा। “टाक समझा है।”

आवाज ने बाँद पर उम समय धार-धार बीजियाँ बैठाने लगी थी। रोजनी। धबधबाने रोजनी के मास धबधबाने अंधेरा घुममिल गया। रात व शरीर पर मानों रोमें उम आए थे। अनिम मोतस भा उस चतुरिबा न ही आमा की। वह भी मानों नीनी थे।

उपारे बाद वह येन गुन्मय गुन्मा वच व शुभ किया? किता भा बनने की कोशिश क्यों न कर, पर माँ उम घेत व बाँद में सब कुछ मिटा रही आ सरता है। गुन्म गुन्मार आँ आँ ही है। फिर भी मैं माता हूँ? मनुष्य मात्र ही प्राणी होता है और प्राणी मात्र ही मूल्य पातु होता है। और वसा उम समय अनिम गर्मीकरन का भव भवता है।

मैंने खप् से उसका आँखल मुट्ठी में पकड़ लिया था। आँखल सम्हालने के बहाने बूला क्या धीरे उधड़ गयी थी। हालाँकि मुह से कह रही थी, “धत्, बदमाश ! यह सब क्या है ? अभी नहीं, इतना आगे नहीं बढ़ना है।”

“क्यों नहीं ? यही खेल तो हमें खेलना है। एक साथी को तब म चूर करके, उसे मुर्दा समझ उसकी आँख के सामने हो। जिस तरह उस दिन सगमग दृष्टिहीन रजनी-गधा की आँख में धूल शोष कर हमने खेल खेला था बूला, आज उसी खेल का एक राउंड, क्या है न ?”

रजनीगधा ? इस एक नाम से मानो बूला स्थिर हो गयी। वही बूला, चपल चपल, हिंसावा-किताबी एकदम से मानो अपना वही पाता बद करके ठड़ी पड़ गयी। फुफकारती हुई-सी बोली, “बुडेल अभी तक गदन से उतरी नहीं है ?”

“छि बूला ! उसे बुडेल मत बोली। वह चली गयी है। उसके सव्य-घ में।”

मेरी छाती पर एक उँगली रखते हुए बूला ने कहा, “दुख रहा है क्या ? आहा ! कहाँ रे ? यहाँ ?”

“बूला, वह बहुत दुखी है।”

चोखा पीछे हटते हुए बूला ने एकदम मेरा ओर देखते हुए कहा, ‘और मैं ? मेरा ? मेरा सब कुछ सुखी है क्या ?’ उसकी आँखों से चपलता साप हा चुकी थी।

शुष्क स्वर में बोला, “मुझे अब छोड़ दो बूला। मैं अब बाऊगा।”

‘जाओगे ? जाना तो है ही। रहने कौन आया है ?’ अचानक देखता हूँ, बूला अपने हाथ मरी गर्दन के गिद रख देती है। कंधे पर नाक रगड़ती हुई कहती है, “एई ! मुझसे शादी करेगा ?”

इस प्रलाप के उत्तर की कोई जरूरत नहीं थी। पर बूला मेरे ओर करीब आकर कुलार मेरे स्वर में वाला, “मैं बहुत बड़ी मुसीबत में पड़ गयी हूँ। पर तू मेरा मानिष। अगर चाहे तो मेरा उद्धार कर सकता है।”

‘कैसी मुसीबत बूला ! समझ नहीं पा रहा हूँ।’

“सच, बहुत बड़ी मुसीबत है। बसम से, तुझे छूकर कहती हूँ।”

‘तुम अगर पियेटर म नहीं उतरती तो शायद विश्वास कर लेता। अब तो समझना मुश्किल होता है कि कौन सा अभिनय है और कौन-सा अभिनय नहीं। पर, खैर तुम बताओ कैसी मुसीबत है ?’

“मुसीबत तो सड़कियों की एक ही हो सकती है। नही समझा ? मुझसे शादी भले ही न कर, पर मेरा उद्धार करने का उपाय तो बतला ही सकता है ?”

मुझे चुप रहते देख बूला अचानक हिंस्र हो उठी। जिसी धुंधार बिल्ला की तरह मेरे ऊपर झपट पड़ा। “तू अब भी कहना चाहता है कि समझा नहीं है ? तुमने

क्या उस किशमिश को इस तरह की भुमीबत में नहीं ढाला था। खच्चर कही था। तो फिर तेरी उस किशमिश को क्या हुआ था? तू हाड-बज्जात है। तू कहना चाहता है कि तूने किशमिश को अपने दिए हुए कटि से मुक्त करने के लिए, बाहर नहीं भेजा है?"

"क्या बक रही हो?" कहकर मैंने अपन को छुड़ाने की कोशिश की, पर बूला ने मुझे छोड़ा नहीं। सडासी की तरह मुझे जकड़े, बूला पागल की तरह सांस छोड़ रही है। हा-हा करती हुई बोल रही है, "जानता है, तू सब कुछ जानता है, यह विद्या तुम्हारी कैमिली में ही है। तेरी माँ ने एव नष्ट किया था। तूने खुद ही एक दिन बताया था। नहीं बताया था?"

अब उसके हाथों को मरोड़ते हुए अपने को छुड़ा लेने की बारी मेरी थी। दर्द से नीसी पड़ जा रही है वह, पर बूला सब भी दक-दक कर बोले जा रही है, "तरे बाबा भाव करते थे, तेरा माँ ने इसी लिए उसे नष्ट कर दिया था। मुझे पता है "

उसकी बात मैंने पूरी नहीं होने दी थी। अपनी पूरी साकत से एक भरपूर चाटा उसके गाल पर जड़ दिया था। लट्ठ की तरह चक्कर खाकर बूला गिर गयी। उस ओर देखने हुए मैंने कहा, "रडो, हरामजादो!"

हाँ माँ! मैंने पुरुष होकर भी एव औरत पर हाथ उठाया। मैं सस्त्रुति अभि-मानी, फिर भी अनायास ही उसे "हरामजादो" कह पाया।

पर बाँसी इन सारे शोर-गुल से उठ पड़ा था। अचानक चौंकर दखता हूँ वह पीछे से मरी कमीज पकड़े मुझे खींच रहा है।

\*

\*

\*

बाँसी, एव तरह मुझे खींचता हुआ नीचे से आया था।

बाँसी मेरी बगल में अधकार। उन सोमो की बहुत बड़ी बग्घी में हमसौग बैठे हुए हैं। बाँसी का चेहरा मैं देख नहीं पा रहा था।

"स्टेज में आग लग गयी थी, क्यों रे?" बाँसी अचानक बोस पड़ा। "और इसलिए हम लोगो को भाग जाना पड़ा।"

बाँसी का प्रथम वाक्य प्रश्नसूचक था, पर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए बाद के संवाद भी स्वयं ही बोल गया, 'वा अभिनेता भाग जाए। हालांकि उनमें से एक जन कटा हुआ सैनिक था, जो लेट गया था। पर मजे की बात देखो उसी के जीवित नायक को घसीटते हुए यहाँ पहुँचाया।"

अचानक मैं एक अपराध बोध से ग्रस्त होकर बोस उठा, "बाँसी, मैंने तुम्हारे प्रति एक अयाय किया है।"

उस स्वीकारोक्ति की तरफ ध्यान न देते हुए बाँसी कहता गया, "पर नाटक जमा अच्छा ही था। वह तो वहाँ स्टेज में आग लग गयी, बरना।"

कहना चाहता, "बाँसी, तुम्हें पता नहीं है।"

एकदम ठंडे स्वर में बाँसी बोल गया, “मुझे सब पता है।” उसकी वगल में बैठे हैं, उस नीम अँधेरे में ही महसूस करता है कि उसके हाथ में कोई छोटी सी चीज है।

“सब कुछ पता है?” मैं लगभग चीख पड़ा था, ‘तुम्हें पता था कि तुम्हें जानबूझकर ब्रूसा ने उतनी शराब पिलायी थी ताकि तुम बेहोश हो जाओ तुम्हें कुछ पता न चले और तुम्हारी आँख के सामने हमलोग बिना किसी रोक टोक के मजा ले सकें?’

और भी शायद बहुत कुछ बोला जाता, पर बाँसी ने फिर से मुझे रोक दिया, “पता है। सब पता है। न मैं बेहोश ही हुआ था, न सो ही गया था। बस, चित्त सेट गया था। तुम भूलते क्यों हो कि मैं भी एक अभिनेता हूँ, हालाँकि मुझे कटे हुए सैनिक के अलावा और कोई पार्ट नहीं मिला है।” थोड़ा रुक कर उसने कहा, ‘मैंने सब कुछ देखा है। सब पता है।’

हाथ में पकड़ी हुई वस्तु को वह रह-रहकर उछाल रहा था अचानक सड़क की रोशनी के झटके में उस वस्तु को पहचानते ही मैं भयभीत हो उठा। “बाँसी यह क्या है?”

उसने निश्चित असस स्वर में कहा, “रिवाल्वर।”

जल्दी से उसका हाथ दबाते हुए बोला, “बाँसी, तुम क्या।” हाथ छूटा तब उसने कहा, “इसके सिवा और चारा ही क्या है? जीवन में जिसका कुछ हो न सके। सबने जिसका सिर्फ मजाक ही उड़ाया, यहाँ तक कि जिस सड़क के फुटते को घर में जगह दी, उसने भी छोड़ा दिया। अब किस सुख की आशा में जीवित रहूँ? बता सकते हो?”

उसके इस चरम अपमान को ग्रहण करने की ताकत को भी उस समय मैं खो चुका था। उसका हाथ फिर से दबाता हुआ बोला था, “बाँसी, मुझे क्षमा करो। तुम आत्मघाती नहीं हो सकोगे। कभी नहीं।” मन में जोर नहीं था, इसलिए शरीर की ताकत से उसके हथियार को छीन लेने की काशिश की।

और उसी समय बम फटने जैसे ठहाके के साथ, बाँसी ने कहा था, ‘विल्कुल बुद्ध हो। क्या धक्का लगा? अरे, यह सचमुच का था ही है। यह तो पिस्तौल पिस्तौल है?’ बालत-बोलाते वह फिर से रुग्ण-विपण्णता में लोट आया। भारी हुई आवाज में बोला, “सचमुच की चीज मुझे कहाँ से मिलेगी? मिले भी तो उसका इस्तेमाल करने की हिम्मत मुझमें कहाँ? पता है, अपने अदृश्य को मैंने पकड़ लिया है—एक झूठी जिन्दगी जो रहा हूँ। पर एक सचमुच की मौत भरने की हिम्मत मुझे नहीं होगी।”

बोलत-बोलते इस बार बाँसी ने मेरा हाथ पकड़ लिया है। “पर क्या बहूँ? यहाँ जाऊँ? बता सकता है? मुझे छिह चुका है। बीच-बीच में सावधान हूँ, नाम लिखाऊँ। पर मुझे लगा कौन? फिटन गेट के सामने आकर रुक चुका था। बाँसी



तुरत पिस्तोल को अपने कमीज के अंदर छिपा लिया। उसके चेहरे पर उस समय सुख दुःख का लेशमान नहीं था।

मा, मुझे आज भी पता नहीं चलता कि वह रिवास्वर सचमुच था या था लूटा।

\*

\*

\*

फिटन गाढी के खते ही, बाँसी सड़खड़ाता हुआ ऊपर चला गया। उतरते ही मैंने भी महसूस किया कि मेरे पाँव सड़खड़ा रहे हैं। सड़खड़ा रहा था इस लिए समझ नहीं पा रहा था कि क्या हो रहा है। मैं डगमगा रहा था या मेरे पाँव के नीचे की जमीन ढाल रही थी? जोर से जमीन पर सात जमाकर उसे स्थिर होने के लिए ज्योंही बहने लगा पकड़ा कर गिर गया। गिर गया, या गिरने लगा था कि उसी समय किसी हाथ ने मुझे सम्हाल लिया। वह हाथ भी सख्त और बर्फ की तरह सर्द था।

\*

\*

\*

मेरा भय, मेरी मृत्यु, मेरी भक्ति, मेरी प्रीति। यह देखो मैं तुम्हारे पास लौट आया हूँ। तुम्हारे आँसू-सामने खड़ा हूँ। जब बीसों बया कहना चाहती हो।

अरे, तुम्हारी बगल में मुँहोर मामा खड़े हैं न? सुधीर मामा की क्या जहरत है? उ हैं जाने के लिए कहो। सिर्फ 'तुम और मैं' रहें। मेरी मृत्यु, मेरी प्रीति क आँसू सामने। तुम और मैं और तुम

"कहा था? कहाँ गया था?" कौन पूछ रहा है?

"कहा गया था?" वही एक ही जिज्ञासा। या जिज्ञासा जिरह? हटो, कहाँ से आ रहा है, क्या करके आ रहा है, यह बताया नहीं जा सकता है। हटा। जाने दो ऊपर जाऊँगा। ज्यादा पूछताछ बरोगी, तो बता दूँगा। अगर आज शाम की सारी बातें बता दूँ। अपने मनुष्यत्व को बेच आने की कहानी अगर सुना दूँ, तो क्या उ है सह पाओगी? मेरा क्या है? मेरी तो अभी शुरुआत है, पर मैं तुम्हारा सब कुछ जाएगा। आखिरी दीए को फूँक मार कर कोई बुझाता नहीं है।

"पहले बता कहाँ से आ रहा है? तू सड़खड़ा रहा है। वह तो मैं उसी समय समय गयी थी जब इस घर की उस सड़की से धुलने मिलने लगा था। उसके बाद तितना नीचे उतरा है, आज मैं जानना चाहती हूँ।"

"पता चल गया था?" व्यग्न बसते हुए बोल उठा था मैं। "तो फिर मैं उस समय कुछ क्यों नहीं कहा?" बाढा ख कर पुन बाला, "मुझे पता है तुम क्या नहीं पूछ पायी थीं। तुम पशोपेश में थी।

"बिस बात के लिए?"

"एक ओर मेरा हाथ से निवस जाना, तुम्ह अन्धा नहीं समझता था। दूसरा ओर सालब। मालिन की बंटी से तुम्हारे बेटे का पुलना-मिलना, बुरा क्या था।

एक बार हथियाने के बाद तो मौज ही थी। इस घर की हेड नौकरानी से एकदम सास बन जाने का मौका। तुम भी सालख म पड़ गयी माँ और इसीलिये मुझे प्रथम देती गयी थीं। मैंने सिर्फ उस मोवे का फायदा उठाया है।”

तुम घर-घर काँप रही हो। अब सड़खड़ा रही हो क्या? तुम भी एक मृत्यु देख रही हो क्या? मैं क्या उसी रात तुम्हारे गामने मर गया? इसलिये काँप रही हो? जिस तरह दादा के मृत्यु वाले दिन तुम घरघराई थीं, और शामद इसीलिए सुघोर मामा अपनी लाठी के बिना ही आगे बढ़ आये और तुम्हें मजबूती से पकड़ लिया है। “आनू चुप करो। स्थिर हो,” ठीक उसी तरह जिस तरह दादा की मृत्यु वाली रात को बोले थे।

तुम उसी तरह पागल की तरह सिर हिलाए जा रही हो। अस्पष्ट स्वर में बोले रही हो, “छोड़ दो सुधीर दा, छोड़ दो।” पर कितनी शक्ति है तुममें। अपने को एकदम कठोर बनाते हुए कह रही हो, “तेरी जुबान सड़खड़ा रही है। आखें नास हैं। तेरे मुँह से ममका आ रहा है। यह काहे की गध है?”

तो ठीक है। सुनने को तैयार हो जाओ। जब तुमने पर्दा हटा दिया है, तो सब कुछ देख लो। मैं फूँकफारते हुए बोले पड़ता हूँ। “बालिय सड़के क मुँह से किस चीज की गध आती है? दूध की तो नहीं ही, यह मैं तुम्हें दावे के साथ कह सकता हूँ।”

“तो फिर?”

“इस गध से क्या तुम्हारा परिचय नहीं है? बाबा के मुँह से भी कई बार पाया है।”

अब और अधिक लेने की क्षमता तुममें नहीं रह गयी है। तुम्हें झुक जाते हुए देख रहा हूँ। तुम्हारी आँखें एक बार घघक कर ही खुल गयीं, पर क्या? अपना अपमान या बाबा का! कौन सा ज्यादा चोट कर गया?

“जो तुम्हें आशावाद देता हुआ चला गया उस इतना बड़ा आघात किया?”

कापुश्य और पिशाच, दोनों के मिले-जुले स्वर की नकल करता हुआ बोला था, “किया हूँ।”

उस समय भी अगर माँ तुम ठहर जाती तो शायद बच जाती। पर शायद कई जन्मों का पाप तुम्हारा भी जमा हो गया था, इसलिए उस प्राण्य दण्ड को पाने के लिए और आगे बढ़ आयी थी। “चला जा, चला जा। दूर हो जा। जिस नरक में था, वही चला जा। उसी बदचलन लड़की के पास चला जा।”

और मैंने उसी समय पलट कर वार किया था। “जाऊँगा ही, जाऊँगा ही। जिसका बाप शराब पीता था, गंदे माहल्ले में जाता रहा उस नलिनो की बात याद नहीं है? उसका बेटा और कितनी दूर जा सकता है?”

“यह तू कह रहा है?”



भामती, याने तुम्हारी मामी बीमार हैं, सोयी हुई हैं। उसे हिस्टव करना ठीक नहीं।”

हम बाहर निकल आए। सुधीर मामा धीरे-धीरे बोलते रहे। “तुझे कभी बताया नहीं, पर आज कहने में कोई बाधा नहीं है। उसे याने भामती के बारे में तुम्हारी मा ने भी गलत समझा था। जानू कहती थी, तुम्हें क्या सुधीर दा। तुम सुख वृष्टि लेकर हो। पर मेरे पास क्या है? पर देखो मनुष्य के पास क्या है, क्या रहता है वह स्वयं नहीं जानता है। जो कुछ है, उसे वह न देख कर और अधिक क्यों नहीं है, इसी बात की शिकायत जीवन भर करता रह जाया है।”

अचानक सुधीर मामा रुक गए। लज्जित स्वर में कहा, “पर देखो तो मैं भी क्या बकवास करने लगा हूँ। जानू कहा है?”

“माँ को कहाँ दूँ, सुधीर मामा? कहाँ मिलेंगी माँ?”

“कहाँ मिलेंगी कह नहीं सकता, पर दूँना तो होगा ही।” सुधीर मामा का स्वर गम्भीर था।

उस दिन सुधीर मामा ने अदर ले जाकर दिखाया था वरुण, कृष्ण, शीम्यामीन एक मूर्ति—भामती। बड़ी बड़ी आँखों से देखती हुई, पर पहचान पाने से विरत।

हम फिर से बाहर आ गए थे। सुधीर मामा न कहा, “यही सुख है। यही भामती है। पक्षाघातग्रस्त, सिर्फ देख पाती है, सुन नहीं पाती है। बस उसे किसी तरह सहेजे जा रहा हूँ। जो कुछ कर सकता हूँ उसके लिए कर रहा जा रहा हूँ।”

सुधीर मामा ने एक बार बाबा का भी जिक्र किया था, “तूने कल सबसे ज्यादा प्रणव यादू के गलत बात कही। वे क्या थे, तूने नहीं पता। उनकी मृत्यु के बाद उनकी डायरी देखी थी। एक जगह लिखा हुआ था, ‘एक क्षोभ मन में रह गया है। देश की स्वाधीन नहीं देख पाया, पर इसी स्वाधीनता के लिए ही एक दिन सब कुछ उत्सर्ग किया है। और एक? क्षोभ नहीं वृष्टि है मन में। मेरा पुत्र मेरा उपयुक्त उत्तराधिकारी है। मेरा वह अतिव्रम करेगा, इसकी सूचना मिल गयी है। परम वृष्टि के साथ अपने को उत्सर्ग कर देने में मुझे कोई बाधा नहीं है।’ इस सब बातों का मतलब समझ रहा है?”

मैं आर्तस्वर में बाल उठा था, ‘सुधीर मामा! मुझसे अब सहा नहीं जा रहा। एक स्वेच्छामृत्यु और एक पता नहीं क्या है। माँ निरुद्देश्य हो गयी, शायद आत्मघाती हुई हैं। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ बता दें, वरना जिन्दगी भर इन दोनों का भार ढोना पड़ेगा।’

सुधीर मामा ने स्मित मुख से कहा, “और क्या? भार तो ढोते ही जना है। स्वोकारोक्ति और प्रायश्चित्त में।”

[लेखक का वक्तव्य—वह व्यक्ति जिसका जिक्र शुरू में ही है, जो इस कथा में उत्तम पुरुष में रहा है, उसे फिर मैंने कभी नहीं देखा। उसका पुर्जा

विकृत कड़वाहट भरे स्वर में कहता है, “तुम अगर अपना मुँह न खोलो तो अच्छा है, वरना मेरे मुँह से भी बहुत कुछ निकल जाएगा।”

“बाकी रखा ही क्या है?”

“बहुत कुछ। अभी तक यह नहीं कहा है कि बाबा को मुँहसे अधिक बड़ी चोट तुमने दी है। तुमने चोट नहीं पहुँचायी है? तुम दोनों ने मिलकर—”

उँगली उठाकर सुधीर मामा की ओर दिखाता है।

सहमे हुए स्वर में बोल रही हो, “हम दोनों ने?”

“नहीं क्या?” सारा बहर उगलते हुए कहता है, “वरना वो अभी तक यहाँ क्यों है? छि माँ, छि, उन्हें चले जाने के लिए कहो। इतनी रात तक यहाँ रहना अच्छा नहीं दीखता है।”

तुम अगर बूला लोगो की तरह होतो तो शायद उसी क्षण झपट पड़ती, पर तुम जब होती जा रही हो। इसलिए तुम्हारी तरफ से जवाब देते हैं सुधीर मामा। शांत स्वर में कहा, “जा रहा हूँ। तुम अभी तक आए नहीं थे। आनू सोच सोचकर परेशान हुई जा रही थी।”

“अब परेशान नहीं होना है। अब जाइए।”

साठी पड़ी रही। दो हाथ फैलाए किसी आहत वृद्ध पत्नी की तरह पर फैलाए मानो हवा में टटोलते हुए आगे बढ़ गए।

कोहरे के मोटे अस्तर में उनका दीर्घ शरीर गायब हो जाते ही मैं तुम्हारी ओर मुड़ कर वापस, “अब और क्यों? अब जाने दो। याने याने तुम भी जाओ।”

सिर झुकाए स्तमित, धीरे, दबे हुए स्वर में तुमने कहा, “हाँ, अब जाऊंगी।”

\*

\*

\*

माँ, बहुत निर्लज्ज है, इसलिए अब भी “माँ” कहकर पुकार रहा हूँ। उसके बाद भी सुबह हुई। सुबह अपने हिसाब से जाती है। सुबह का क्या एक और ताम्र प्रसन्नता और स्निग्धता है? पर मेरे लिए हर सुबह कड़वाहट भरी होती है।

दूसरे दिन सुबह तुम नहीं हो। तुम नहीं थी। चोँकते हुए सुधीर मामा ने कहा था, “वह तो यहाँ नहीं हैं। आयी नहीं हैं। तू अंदर जा।” शांत स्वर, न कही उत्ताप, न अभिमान।

“नहीं? यहाँ भी नहीं है?” चीखना चाहा था, पर गले से साफ आवाज तक नहीं निकली।

और सुधीर मामा? देख रहा हूँ, थोड़ा पास आकर धीमे स्वर में पीठ पर हाथ रखकर बोल रहे हैं, “पगला तुमने साचा था, वह यहाँ आयी। नहीं रे, तुमने गलत समझा है, समझ रहा है। आनू यहाँ कभी नहीं आयी, न आयी।”

कुछ बोलने जा रहा था, पर मुझे रोवते हुए वे बोले, “अभी—” कमरे में,

भामती, याने तुम्हारी मामी बीमार हैं, सोयी हुई हैं। उसे डिस्टर्ब करना ठीक नहीं।”

हम बाहर निकल आए। सुधीर मामा धीरे धीरे बोलते रहे। “तुझे कभी बताया नहीं, पर आज कहने में कोई बाधा नहीं है। उसे याने भामती के बारे में तुम्हारी मा ने भी गलत समझा था। जानू कहती थी, तुम्हें क्या सुधीर दा। तुम सुख तृप्ति लेकर हो। पर मेरे पास क्या है? पर देखो मनुष्य के पास क्या है, क्या रहता है वह स्वयं नहीं जानता है। जो कुछ है, उसे वह न देख कर ओर अधिक क्यों नहीं है, इसी बात की शिकायत जीवन भर करता रह जाता है।”

अचानक सुधीर मामा रुक गए। सज्जित स्वर में कहा, “पर देखो तो मैं भी क्या बकवास करने लगा हूँ। जानू कहाँ हैं?”

“माँ को कहाँ ढूँढ़ूँ सुधीर मामा? कहाँ मिलेंगी माँ?”

“कहाँ मिलेंगी कह नहीं सकता, पर ढूँढ़ना तो होगा ही।” सुधीर मामा का स्वर गम्भीर था।

उस दिन सुधीर मामा ने अन्दर से जाकर दिखाया था बरुण, इश, शैय्यासीन एक मूर्ति—भामती। बड़ी बड़ी आँखों से देखती हुई, पर पहचान पाने से विरत।

हम फिर से बाहर आ गए थे। सुधीर मामा ने कहा, “यही सुख है। यही भामती है। पक्षाघातग्रस्त, सिर्फ देख पाती है, सुन नहीं पाती है। बस उसे किसी तरह सहेजे जा रहा है। जो कुछ कर सकता है उसके लिए करता जा रहा है।”

सुधीर मामा ने एक बार बाबा का भी जिक्र किया था, “तूने वक्त सबसे ज्यादा प्रणव दाबू के गलत बात कही। वे क्या थे, तुझे नहीं पता। उनकी मृत्यु के बाद उनकी शायरी देखी थी। एक जगह लिखा हुआ था, ‘एक क्षोभ मन में रह गया है। देश को स्वाधीन नहीं देख पाया, पर इसी स्वाधीनता के लिए ही एक दिन सब कुछ उतसग किया है। और एक? क्षोभ नहीं तृप्ति है मन में। मेरा पुत्र मेरा उपयुक्त उत्तराधिकारी है। मेरा वह अतिश्रम करगा, इसकी सूचना मिल गयी है। परम तृप्ति के साथ अपन को उत्सर्ग कर देने में मुझे कोई बाधा नहीं है।’ इस सब बातों का मतलब समझ रहा है?”

मैं आर्तस्वर में बोस उठा था, “सुधीर मामा! मुझसे अब सहा नहीं जा रहा। एक स्वेच्छामृत्यु और एक पता नहीं क्या है। माँ निर्वेश्य हो गयी, शायद आत्मघाती हुई हैं। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ बता दें, वरना जिन्दगी भर इन दोनों का भार ढोना पड़ेगा।”

सुधीर मामा ने स्मित मुँह से कहा, “और क्या? भार तो ढोते ही जाना है। स्वोकारोक्ति और प्रायश्चित्त में।”

[लेखक का वक्तव्य—वह व्यक्ति जिसका जित्त शुरू में ही है, जो इस क्या में उत्तम पुरुष में रहा है, उसे फिर मैं कभी नहीं देखा। उसका पुर्जा







पढ़ने के बाद मैंने उससे पूछा था, "माँ को क्या फिर सबकुछ दूँ नहीं पाए थे ?"

विलम्बित स्वर में उस व्यक्ति ने कहा था, "ठीक मालूम नहीं। कभी सगता है नहीं है और कभी अनुभव करता है कि वह है, प्रबलनमस्का म है। वह सज भी लिखा हुआ है। बचे हुए पृष्ठों को भी पढ़ डालिए।"

इतना बहबल वह विरोधित हो गया था। उसे फिर दया नहीं पाए थे। शायद मुझमें ही समाहित हो गया है। मैं सिर्फ बेतरतीब पन्नों को तरतीब दे रहा हूँ।]

श्री चरणेषु-माँ को ॥ अन्त मे ॥

तब से तुम्हें दूँ रहा हूँ। वहाँ नहीं दूँ तुम्हें ? गंगा के घाटों में, अस्पताल में यहाँ तब कि मर्ग में भी।

रेल साइन में बिनारे-बिनारे दूँ रहा, शायद वही छून के दाग दोष जाएँ ! उसके बाद न जाने कितने दिन, वर्ष चले गए। इसलिए सोचा था, बहुत सार पत्र, बहुतों को निपूणा। अपनी करियाद सुनाऊँगा, पर अन्ततः वह पत्र सिर्फ एक को ही सम्बोधित हो सवा। श्री चरणेषु माँ को।

माँ, बहुत दिनों तक तुम्हारी तस्वीर की ओर देख नहीं पाता था। वहाँ तो छोट सगती थी। तुम्हारे छो जाने के बाद, इस तस्वीर की मैंने ही बँधवायी थी। तुम्हारे सौट जाने की आशा भुत्त हो जाने के बाद, विधि अनुसार तुम्हारा थाढ़-अनुष्ठान करवाया था। फिर भी तुम्हें दूँना समाप्त नहीं हुआ है।

जीवन से सभी माँ जो जाती हैं, यही नियम है। जानता हूँ, फिर भी जीवन भर क्या उती लिए, माँ के लिए एक शून्यता, एक सताप, एक सतत प्रयोजन-बोध, धेतना की आपात करता रहता है। यहाँ तब कि अन्वेष्टा को भी ?

जिज्ञासा का क्या प्रयोजन है ? बल्कि दूँना हो भनूँ। सिर्फ तुम्हें ही क्या ? शायद नहीं। एवमात्र तुम्हें ही नहीं, तुम्हारे साथ चहें भी, जो जीवन का ओर गुमाघार दोनों हैं। समस्त स्तरों को पार करने के बाद, अतः म एक यही अन्वेष्टन हो तो फिर भा योग रह जाता है न ? क्यों माँ ! है न ?

शेष-अक्षेप







अपर्णा टैंगोर

मूलतः हिन्दी में लिखती हैं, अब तक  
एक उपन्यास और कहानी संग्रह  
प्रकाशित हो चुके हैं ।

बैंगला से हिन्दी में अनुवाद का  
काम अपनी रुचि से करती हैं,  
फिलहाल कलकत्ते की एक हिन्दी  
साप्ताहिक में कार्यरत ।